स्मारिका
SOUVENIR

54वां अधिवेशन
अखिल भारतीय दर्शन परिषद्
(6-8 नवम्बर, 2009)

प्रमुख सम्पादक

प्रो॰ केदारनाथ शर्मा



संस्कृतविभाग
जम्मूविश्वविद्यालय, जम्मू - 180 006

स्मारिका

54वां अधिवेशन
अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

(6-8 नवम्बर, 2009)

Samish.

सम्पादक
प्रो॰ केदारनाथ शर्मा
संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू



संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

प्रकाशक :
संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू - 180 006
(जम्मू - कश्मीर)

प्रतियाँ - 1000

संस्करण - 2009

मुद्रक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर,
दिल्ली - 110007



DEPARTMENT OF SANSKRIT, UNIVERSITY OF JAMMU, JAMMU-180006

AKHIL BHARATIYA DARSHAN PARISHAD

54th Session

November 6-8, 2009

Patron
Prof. Varun Sahni
Vice Chancellor

Convenor
Prof. B.P.S.Sehgal
Dean Academic Affairs

Co-Convenors
Prof. Veena Gupta
Dean Faculty of Arts

Dr. P.S. Pathania
Registrar

Organising Secretary
Prof. Kedar Nath Sharma
Head Department of Sanskrit

Co-organising Secretary
Prof. Ramnika Jalali

Members :
1. Prof. Sharda Gupta
2. Prof. Jagir Singh
3. Prof. Purshotam Sharma
4. Dr. Sushma Devi

Treasurer
Dr. Ram Bahadur

Date 26.10.2009

सम्पादकीय

केनेषितं पततित प्रेषितं मनः, केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ।।

–(केन उप. 1.1)

दर्शन जीव, जगत्, प्रकृति एवं आत्मा या ब्रह्म (परमसत्ता) एवं समस्त ब्रह्माण्ड के रहस्यों को उद्घाटित करता है। समस्त आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक चिन्तन दर्शन के ही विषय हैं। मन, आत्मा-परमात्मा, जड़-चेतन, शरीर, इन्द्रिय, मोक्ष, जीवन-ध्येय, जगत् की सृष्टि जैसे विषयों में जिज्ञासा और उसकी पूर्ति भी दर्शन ही कराता है। प्राणिमात्र में आत्मतत्व का दर्शन, जड़-तत्वों में भी परमसत्ता का भाव, समस्त जगत् में एक नियन्ता का विश्वास, मानव में परस्पर बन्धुता, प्राणियों के प्रति दया, प्राकृतिक संसाधनों की संरक्षा का भाव जागृत कर उसे इहलोक एवं परलोक को साधने की प्रेरणा देता है।

दर्शनशास्त्र के श्रवणाध्ययन-मनन से व्यक्ति में आध्यात्मिक ज्ञानवृद्धि के साथ ही उसके चरित्रनिर्माण में सुगमता, वाणी में विनम्रता, व्यवहार में सरलता और विचारों में शुचिता आती है। दर्शन का अध्ययन व्यक्ति को पवित्र, निर्मल एवं संवेदनशील बनाकर उसे सुसंस्कृत, सम्पन्न और आदर्श व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठापित कर उसके जीवन को सार्थकता प्रदान करने में सहायक सिद्ध होता है।

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के 54वें अधिवेशन के अवसर पर संस्कृतविभाग द्वारा प्रकाशित **'स्मारिका'** भारतीय विद्या एवं दर्शन के मनीषियों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए सन्तोष का अनुभव हो रहा है। 'स्मारिका' का प्रकाशन अत्यल्प समय में किया गया है। अत्यन्त सीमित कालावधि में जिन विद्वानों के लेख प्राप्त हो सके, उन्हें यथावत् प्रकाशित कर दिया गया है। कुछ मुद्रण की अशुद्धियाँ भी रह गई होंगी, एतदर्थ सम्पादक क्षमाप्रार्थी हैं।

रमणिका

प्रो. रमणिका जलाली
(सम्पादिका)

प्रो. केदारनाथ शर्मा
(प्रमुख सम्पादक)



UNIVERSITY OF JAMMU

JAMMU - 180 006 (INDIA)

Phones : 2435268, 2450014 (O)
2454390, 2434339 (R)
Fax : +91-191-2459383
E-mail : varun_sahni@hotmail.com

PROFESSOR VARUN SAHNI
Vice-Chancellor



मुझे इस बात का अत्यन्त हर्ष एवं सन्तोष है कि संस्कृत विभाग द्वारा **अखिल भारतीय दर्शन परिषद्** के 54वें अधिवेशन के उद्घाटन के अवसर पर संस्कृत, संस्कृति एवं दर्शनपरक **'स्मारिका'** प्रकाशित हो रही है ।

सर्वधर्मसमभाव, विश्वबन्धुत्व, प्रकृतिप्रेम, उदात्तभावना, प्राणिमात्र के प्रति करुणा जैसे भावों के प्रचार प्रसार में भारतीय सांस्कृतिक मूल्य, दर्शन एवं साहित्य अवश्य ही सहायक होंगे ।

स्मारिका के प्रकाशनार्थ संस्कृतविभाग के वर्तमान अध्यक्ष प्रो० केदार नाथ शर्मा एवं उनके उत्साही सहयोगिगण साधुवाद के पात्र हैं ।

एतदर्थ इन्हें हार्दिक शुभकामनाएं ।

वरुण साहनी

(प्रो. वरुण साहनी)

ISO 9001 : 2000 Certified University

Residential Address : Vice-Chancellor's Lodge,
New University Campus, Baba Sahib Ambedkar Road, Jammu-180 006 (J&K) India.

विषय सूची

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद

(संक्षिप्त परिचय)

एस० पी० दूबे

भारतीय पुनर्जागरण और हमारे राष्ट्रिय आन्दोलन में देश की स्वतंत्रता, अस्मिता और सांस्कृतिक बोध को प्रधानता दी गयी। उनमें भारतीय भाषाओं, विशेषकर हिन्दी, के विकास का मुद्दा प्रमुख था। अपनी भाषा में मौलिक चिंतन को बढ़ावा देने के उद्देश्य से 1954 में 'अखिल भारतीय दर्शन–परिषद्' का प्रारंभ हुआ। साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य विधा या विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी, या किसी अन्य भारतीय भाषा को माध्यम बनानेवाली यह अप्रतिम संस्था है। परिषद् का जन्म एक प्रकार से '*दार्शनिक*' पत्रिका से हुआ है। यदि '*दार्शनिक*' पत्रिका को प्रकृति मान लिया जाय तो पुरुष के घटक की भूमिका का निर्वाह फरीदकोट (पंजाब) के एक हाई स्कूल में हिन्दी के अध्यापक श्री यशदेव शल्य (जन्म: 26-6-1928) ने किया। परिषद् की पत्रिका '*दार्शनिक*' का प्रवेशांक अक्तूबर, 1954 में प्रकाशित हुआ। श्री शल्य इसके प्रबंध सम्पादक थे और डॉ० रामनाथ कौल, प्रो० संगमलाल पाण्डेय एवं श्री अर्जुन चौबे काश्यप इसके सम्पादक-मण्डल में थे। इसका मुद्रण अमृत इलेक्ट्रिक प्रेस, फिरोजपुर में हुआ। *दार्शनिक त्रैमासिक* पत्रिका का नियमित और व्यवस्थित प्रकाशन (वर्ष 1, अंक 1) जनवरी 1955 से प्रारंभ हुआ। इसका संपादन शल्य जी ने प्रबंध-संपादक के रूप में त्रैमासिक **दार्शनिक** शीर्षक से किया। इसका मुद्रण होशियारपुर (पंजाब) के विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान प्रेस, साधु आश्रम से हुआ प्रथम वर्ष के द्वितीय अंक से पत्रिका का वर्तमान शीर्षक **दार्शनिक त्रैमासिक** प्रारंभ हो गया। तब से अब तक (वर्ष 1971 को छोड़कर) इसी शीर्षक से परिषद् का यह मुख-पत्र नियमित ढंग से प्रकाशित हो रहा है। इसमें मुख्यतया परिषद् के अधिवेशनों में प्रस्तुत आलेख प्रकाशित होते हैं। परन्तु आमंत्रित लेख भी इसमें समुचित स्थान पाते हैं।

परिषद् प्रथम अधिवेशन अक्तूबर, 1955 में प्रयाग विश्वविद्यालय में आयोजित होना था, परंतु वह वहीं फरवरी, 1956 में संपन्न हो पाया। इस अधिवेशन के सभापति प्रो० अनुकूलचन्द्र मुखर्जी (1890-1968) ने समकालीन भारतीय दर्शन को अपने अध्यक्षीय भाषण का केन्द्र–बिन्दु बनाते हुए यह प्रतिपादित किया कि समकालीन भारतीय दर्शन के सम्यक् विकास के लिए

इसमें परंपरागत पंडितों का सहयोग आवश्यक है। इस अधिवेशन का उद्घाटन प्रयाग के प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डॉ॰ बाबूराम सक्सेना ने किया था तथा व्यवस्था में प्रमुख योगदान प्रो॰ संगमलाल पाण्डेय डा॰ धर्मेन्द्र गोयल तथा अर्जुन चौबे काश्यप का था। इसमें बाहर से पधारे प्रतिनिधियों में जबलपुर के डॉ॰ शिवनारायणलाल श्रीवास्तव तथा अमलनेर के श्री श्रीराम माधव चिंगले के नाम उल्लेखनीय हैं।

परिषद् का द्वितीय अधिवेशन वैष्णव शोध संस्थान, वृन्दावन में डॉ॰ भीखनलाल आत्रेय (1897-1977) की अध्यक्षता में हुआ जिसमें कुछ लोग बिहार से आये थे। प्रो॰ धीरेन्द्र मोहन दत्त इसके सभापति चुने गये थे। उनकी अनुपस्थिति में प्रो॰ आत्रेय (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) ने 'दार्शनिक विचार' पर अपना वक्तव्य प्रस्तुत किया। संस्थान के निदेशक तथा चैतन्य-मतावलंबी पूज्य वन महाराज (जन्मः 1901, ढाका, पूर्व नाम श्री नरेन्द्र नाथ मुकर्जी) ने अधिवेशन को अपने आशीर्वाद से सफल बनाया।

परिषद् का रजत-जयंती अधिवेशन (1980) भगवान् स्वामिनारायण द्विशताब्दी महोत्सव के उपलक्ष्य में आयोजित हुआ। अहमदाबाद स्थित बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम संस्था आतिथेय रही। अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष स्वयं पूज्य प्रमुख स्वामी महाराज रहे। इस अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए प्रो॰ तिरुपत्तूर रामशेष वेंकटाचल मूर्ति (1902-86) ने भारतीय दर्शन की कुछ समझदार (एवं कुछ नासमझ) लोगों द्वारा प्रस्तुत भ्रामक आलोचनाओं का विवेचन और खण्डन किया। इस अवसर पर रू॰-7500-00 के अनुदान से बोचासणवासी अक्षर पुरुषोत्तम श्री स्वामिनारायण सेश्वर वेदान्त व्याख्यानमाला प्रारंभ की गई, जिसका प्रथम व्याख्यान डॉ॰ पाण्डेय ब्रह्मेश्वर विद्यार्थी (राँची) ने दिया था। इसी अधिवेशन के समापन समारोह में यह भी आग्रह हुआ कि परिषद् का स्वर्ण-जयंती अधिवेशन यहीं आयोजित हो। तदनुसार नवंबर, 2004 में अधिवेशन वहां पुनः आयोजित हुआ।

परिषद् का पंजीयन 23 अगस्त 1956 को लखनऊ में स्टॉक कंपनीज़ के संयुक्त-पंजीयक ने किया। इसका पंजीयन क्रमांक है: 1194 / 17304 / 211 / 1956।

परिषद को प्रारंभिक दिनों में प्रेरणा तथा सहयोग देने वालों में आचार्य नरेन्द्र देव, सुप्रसिद्ध साहित्यकार तथा तत्कालीन साहित्य अकादमी के उपसचिव श्री प्रभाकर माचवे तथा राजनयिक मनीषी डॉ॰ संपूर्णानन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। परिषद् प्रारंभ से ही जनाधार एवं राष्ट्रभाषा में दार्शनिक चिंतन के उत्कर्ष को महत्वपूर्ण मानती रही है तथा शासकीय या अर्धशासकीय आलंबनों को अनावश्यक महत्व नहीं दिया गया। यह एक प्रमुख कारण है जिससे परिषद् के सभी सदस्य इसे अपना मानते हैं।

परिषद् को लोकप्रिय बनाने में डॉ॰ जगत प्रकाश आत्रेय का बड़ा योगदान रहा है। मंत्री पद पर कार्य करते हुए डॉ॰ आत्रेय ने इसे अनेक कठिनाइयों से उबारा। उनके आत्मीय

स्वभाव के कारण दर्शनेतर क्षेत्र के लोग भी परिषद के आजीवन सदस्य बने। नये आजीवन-सदस्य बनाने में नालंदा से डॉ॰ अविनाश कुमार श्रीवास्तव तथा रॉची से डॉ॰ (श्रीमती) राजकुमारी सिन्हा के योगदान उल्लेखनीय हैं।

परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों में कभी-कभी विदेशी विद्वान् भी पधारते हैं। विश्वभारती अधिवेशन में ईस्टर्न विश्वविद्यालय, चेन्कालडी, श्रीलंका के डॉ॰ पी॰ व्ही॰ रामकृष्णन् की उपस्थिति उल्लेखनीय है।

परिषद् के विभिन्न अधिवेशन महानगरों से लेकर ग्रामीण अंचलों तक में हुए हैं। दिल्ली एंव लालगंज (रायबरेली) इसके उदाहरण हैं। इसके उद्घाटन-सत्रों में प्रधान-मंत्री, केन्द्रीय मंत्री, राज्यपाल तथा मुख्यमंत्री उपस्थित होकर आशीर्वाद दिये हैं। धर्मशाला अधिवेशन (2002) के उद्घाटन-सत्र में तिब्बत की निर्वासित सरकार के प्रधान-मंत्री डॉ॰ एस॰ रिन्पोचे पधारे थे। उदयपुर; (1960), हजारीबाग (2000) तथा धर्मशाला के अधिवेशनों में केन्द्रीय मंत्री, पचमढ़ी (जबलपुर), वाराणसी (1997) तथा हरिद्वार (2008) के अधिवेशनों में राज्यपाल तथा उदयपुर (1960) और वाराणसी (1961) के अधिवेशनों में मुख्यमंत्री उपस्थित रहे।

भारत सरकार के शिक्षा-मंत्री डॉ॰ के॰ एल॰ श्रीमाली ने उदयपुर अधिवेशन में दार्शनिक वृत्ति की महत्ता और उस दृष्टि द्वारा जीवन की समस्याओं के विवेचन का आवाहन किया। राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने 'आधुनिक समाज एवं संस्कृति को दर्शनशास्त्र की देन' पर अपना व्याख्यान केन्द्रित किया। काशी विद्यापीठ द्वारा आयोजित परिषद् के सातवें अधिवेशन (1961) में स्वागताध्यक्ष के रूप में उत्तर-प्रदेश के मुख्य-मंत्री डॉ॰ सम्पूर्णानन्द ने अपने उद्बोधन में आधुनिक संदर्भ में एक नव्यतर-न्याय की आवश्यकता बताई।

परिषद् के हजारीबाग अधिवेशन (2000) का उद्घाटन केन्द्रीय वित्तमंत्री माननीय यशवंत सिन्हा ने किया। श्री सिन्हा ने अपने भाषण में मैक्स वेबर की आपत्ति (हिन्दु समाज मोक्ष-मूलक है अतः भौतिकी एवं तकनीकी के क्षेत्रों में विकास नहीं कर सका) के संदर्भ में हिन्दू-आचार की दार्शनिक विवेचना की आवश्यकता बताते हुए नैतिकता एवं अर्थशास्त्र में संबंध को महत्वपूर्ण माना। इसी प्रकार धर्मशाला अधिवेशन (2002) का उद्घाटन केन्द्रीय खाद्यमंत्री श्री शांताकुमार ने किया। आपने साहित्य और दर्शन के संबंधों की अपने व्याख्यान में विस्तृत चर्चा की तथा जीवन में दर्शन को उतारने की आवश्यकता प्रतिपादित की।

परिषद् के दसवें अधिवेशन (जयपुर, 1964) का उद्घाटन राजस्थान के राज्यपाल महामहिम डॉ॰ सम्पूर्णानन्द जी ने किया था। रानी दुर्गावती वि॰ वि॰ जबलपुर द्वारा पचमढ़ी में 1994 में आयोजित अधिवेशन का उद्घाटन मध्य-प्रदेश (एवं बिहार) के राज्यपाल महामहिम मोहम्मद शफी कुरेशी ने किया। संपूर्णानन्द संस्कृत वि॰ वि, वाराणसी द्वारा आयोजित परिषद् के 41 वें अधिवेशन का उद्घाटन राजस्थान के राज्यपाल महामहिम बलिराम भगत ने किया।

अपने अभिभाषण में आपने वैचारिक सहिष्णुता की परंपरा के साथ ही व्यावहारिक सहनशीलता को आवश्यक बताया तथा अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय का आह्वान किया। हरिद्वार अधिवेशन में पूर्वांचल के राज्यपाल महामहिम श्री वी॰ एल॰ जोशी ने गीता के अनुसार आत्मा का स्वरूप निरूपित किया।

परिषद् के अधिवेशनों के उद्घाटन-सत्र तो प्रायः सर्वदा आकर्षक रहे हैं। परन्तु कुछ अधिवेशनों के समापन-सत्र भी स्मरणीय रहे हैं। लालगंज (रायबरेली) के समापन-सत्र में सदस्यों की उपस्थिति आशातीत रही। इलाहाबाद का 51वां अधिवेशन तथा हरिद्वार का 53वां अधिवेशन आद्योपान्त शैक्षणिक गतिविधियों से सम्पन्न रहे।

अध्यात्म के क्षेत्र के अग्रणी महात्माओं ने भी परिषद् के सत्रों को पवित्र किया है। वृन्दावन (1956, 77) के वन महाराज, शिवानन्द आश्रम, ऋषिकेश (1989) के प्रमुख स्वामी चिदानन्द, स्वामिनारायण, अहमदाबाद (1980) के पूज्य प्रमुख स्वामी जी, हिमगिरि आध्यात्मिक शोध एवं प्रशिक्षण संस्थान, लोनावला (2003) के प्रमुख गुरुजी (पूर्वनाम श्री इन्द्र कुमार साहनी) ने अपने आश्रमों में परिषद् के अधिवेशनों का आयोजन किया। नरसिंह पीठाधीश्वर महंत रामचंद्रदास ने जबलपुर अधिवेशन (1980) के समय अतिथियों का सम्मान किया। श्रीनगर (गढ़वाल) अधिवेशन (2003) का उद्घाटन तथा समापन, दोनों ही स्वामीद्वय के द्वारा हुए। उद्घाटनकर्ता थे शिवानन्द आश्रम के स्वामी जीवन्मुक्तानन्द जी और समापन-समारोह के मुख्य-अतिथि थे जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्री माधवाश्रम जी महाराज। परिषद् के किसी अधिवेशन में जगद्गुरु की उपस्थिति का यह पहला अवसर था। नान्देड़ अधिवेशन (1999) के समय गुरु नन्दिकेश्वर शिवाचार्य जी का वरद हस्त रहा। यह अधिवेशन खालसा पंथ की त्रिशताब्दी के अवसर पर आयोजित था अतः सचखण्ड गुरुद्वारा, नान्देड़ द्वारा परिषद् के कुछ सदस्यों का अभिनन्दन भी किया गया। इस अधिवेशन की एक और विशेषता यह थी कि परिषद् के रॉंची अधिवेशन (1975) के अध्यक्ष और नान्देड़ से जुड़े डॉ॰ सुरेन्द्र सदाशिव बारलिंगे के नाम पर सुमेश कालोनी स्थित अधिवेशन-स्थल का नाम 'सुरेन्द्र बारलिंगे नगर' रखा गया था।

सन् 1957 से ही परिषद् द्वारा कई महत्वपूर्ण दार्शनिक साहित्य भी प्रकाशित किये गये, जिनमें कुछ मौलिक ग्रन्थ हैं, कुछ अनुवाद हैं तथा कुछ संकलन-संपादन। इनकी सूची निम्नानुसार है:-

बौद्ध दर्शन और उसका विकास, पी॰ टी॰ राजू (मूल्य: रू॰-5.00)

बौद्ध विज्ञानवाद, पी॰ टी॰ राजू (रू॰-7.00)

अनुभववाद, यशदेव शल्य (सं॰), 1960, रू॰-15.00

दार्शनिक विश्लेषण, यशदेव शल्य, 1961 (रू॰-25.00)

समकालीन भारतीय दर्शन, के॰ सच्चिदानन्द मूर्ति (सं॰), रू॰-25.00

भारतीय मनोविज्ञान, नारायण शास्त्री द्राविण (सं॰), 1963, रू॰-20.00

नृतत्व तथा समाजदर्शन (डायोजीन्ज़ के लेखों का हिन्दी अनुवाद, यूनेस्को, पेरिस के सहयोग से) 11

खण्ड, (सं॰ दयाकृष्ण, गोविन्द चन्द्र पाण्डे इत्यादि), मूल्य प्रति खण्ड : रू॰-10.00

समकालीन दार्शनिक समस्याएं, यशदेव शल्य (सं॰), रू॰-25.00

विषय और आत्म, यशदेव शल्य, 1972, (रू॰-25.00)

रत्नकीर्ति विरचित *अपोहसिद्धि* (अनुवाद एवं व्याख्या), 1971, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय (रू॰-7.00)

धर्मकीर्ति विरचित *न्यायबिन्दु* (अनुवाद, व्याख्या), 1972, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय (रू॰-10.00)

भारतीय दार्शनिक चिंतन, खण्ड-1, पृष्ठ सं॰ 332, वर्ष- 2000 विजयश्री (सं.), रू॰ 450.00

भारतीय दार्शनिक चिंतन, द्वितीय खण्ड, 2004 पृष्ठ संख्या 343, मूल्य रू॰ 550.00, संपादन: डॉ॰ डी. आर. भण्डारी एवं श्री ज्योतिस्वरूप दुबे

भारतीय दार्शनिक चिंतन, तृतीय खण्ड (**दार्शनिक त्रैमासिक** के विभिन्न अंकों के कुछ चयनित आलेखों का संग्रह), 2007, पृष्ठ संख्या 339, मूल्य रू॰ 650.00 संपादन: डॉ॰ रमेश चन्द्र सिन्हा एवं डॉ. ज्योतिस्वरूप दुबे

सेश्वर वेदान्त, संपादक: डॉ. नितिश दुबे, 2006, पृष्ठ संख्या: 288, मूल्य: रू॰ 300.00

टीप: उपरोक्त ग्रन्थों की उपलब्धता: न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, 5824, न्यू चन्द्रावल (निकट शिव मन्दिर), जवाहर नगर, दिल्ली- 110007, फोन-23851294, 65195809

तुलनात्मक दर्शन (स्वामी प्रणवानन्द तुलनात्मक दर्शन व्याख्यानों का संग्रह), सम्पादक: डॉ॰ कालीचरण पाण्डेय, 2005, पृष्ठ संख्या 280, मूल्य : 350.00

भारतीय मनोविज्ञान, (नवीन संवर्द्धित संस्करण), संपादक: प्रो॰ नारायण शास्त्री द्रविड़

(एवं डॉ॰ राजेश कुमार चौरसिया), 2007, पृष्ठ संख्या: 235, मूल्य रू. 350.00

तुलनात्मक धर्म-दर्शन (परमहंस योगानन्द तुलनात्मक धर्म–दर्शन व्याख्यानों का संग्रह), सं.: प्रो॰ श्रीप्रकाश दुबे तथा डॉ॰ अविनाश श्रीवास्तव, 2008, मूल्य : रू॰ 350.00

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण, प्रधान संपादक: डॉ॰ सुरेन्द्र सिंह नेगी, संपादक: डॉ॰ अम्बिकादत्त शर्मा

खण्ड-1: *समेकित दार्शनिक विमर्श*, 2005, पृष्ठ संख्या 627, मूल्य: रू॰-800.00

खण्ड-2: *समेकित अद्वैत विमर्श*, 2005, पृष्ठ संख्या 544, मूल्य: रू॰700.00

खण्ड-3: *भारतीय दर्शन के 50 वर्ष*, (प्रधान संपादक: प्रो॰ एस.पी. दुबे, सम्पादक: डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा), 2006, पृष्ठ संख्या 426, मूल्य: रू॰ 600.00

गांधी दर्शन में नारी स्वतंत्रता, फौजिया परवीन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, 2009, पृष्ठसंख्या 214, मूल्य: रू॰ 300.00

दार्शनिक चिंतन-सृजन ग्रंथमाला*-1*, प्रो. नारायण शास्त्री द्रविड़, *भारतीय दर्शन की मूलगामी समस्यायें*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, 2009, पृष्ठ संख्या 457, मूल्य: रू॰ 650.00

टीप: उपरोक्त ग्रन्थों की उपलब्धता: विश्वविद्यालय प्रकाशन, 247, जवाहरगंज वार्ड, सागर-470002 (मो. 09302376704, 09303282494)

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्: एक परिचय (सचित्र), अनुपलब्ध, 2004

प्रस्तुति: प्रो. एस.पी. दुबे, पृष्ठ संख्या: 198, मूल्य: रू. 50.00

दार्शनिक त्रैमासिक का प्रधान-संपादक परिषद के उपाध्यक्ष के स्तर का पदाधिकारी होता है। इसके कतिपय अंक परिषद् के किसी अन्य पदाधिकारी द्वारा भी संपादित किये गये। डॉ॰ डी॰ आर॰ भण्डारी, डॉ॰ भगवंत सिंह, प्रो॰ छाया राय तथा डॉ॰ दीनानाथ शुक्ल द्वारा संपादित अंक इस श्रेणी में आते हैं।

परिषद् का मोनोग्राम जबलपुर–अधिवेशन में 1980 में निर्धारित किया गया, जिसमें भारत के मानचित्र के साथ परिषद् के स्थापना-वर्ष का उल्लेख करने के साथ ही श्रीमद्भगवद्गीता (10,32) की 'अध्यात्म विद्या विद्यानाम्' सूक्ति को अंकित किया गया।

परिषद् के अधिवेशनों में यह ध्यान रखा गया कि हिन्दी से इतर भाषा-भाषी दर्शनशास्त्रियों को भी इससे जोड़ा जाय। परिणामस्वरूप तमिलनाडु (प्रो॰ टी. एम. पी. महादेवन्), आंध्र (प्रो॰

के० एस० मूर्ति), महाराष्ट्र (प्रो० एस० एस० बारलिंगे), गुजरात (पं० दलसुख भाई मालवणिया), उड़ीसा (प्रो० गौरांगचरण नायक) और बंगाल (प्रो० संतोषचन्द्र सेनगुप्त) के विद्वानों को इसके अधिवेशनों के सभापति का गौरवपूर्ण पद दिया गया। परिषद् का राष्ट्रीय स्वरूप इस बात से भी स्पष्ट होता है कि इसके वार्षिक अधिवेशन जम्मू-कश्मीर से कन्याकुमारी तक और अरब सागर (गुजरात) से बंगाल की खाड़ी (शांति निकेतन) तक के विस्तृत भूभाग में संपन्न हुए हैं।

सभापतियों के अध्यक्षीय भाषणों को संकलित कर प्रकाशित करने की योजना के अंतर्गत दिसंबर, 2000 में '*भारतीय दार्शनिक चिंतन*' (प्रथम खण्ड) में बीस अध्यक्षीय भाषणों को परिषद् ने न्यू भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित किया। इसका संपादन प्रो० विजयश्री (जन्म: 30-3-1949, स्वर्गवास: 12-2-2004) ने किया था। शेष उपलब्ध भाषणों का संकलन द्वितीय खण्ड के रूप में 2004 में तथा तृतीय खण्ड का 2007 में प्रकाशित हो गया है।

परिषद् ने प्रारंभ से ही वार्षिक अधिवेशनों के अतिरिक्त भी अनेक शैक्षणिक कार्यक्रमों को आयोजित किया है। जयपुर में कुछ संगोष्ठियों के आयोजन हुए। उदाहरणार्थ, मार्च 1967 में आयोजित परिसंवाद, जिसमें 'अनिर्वचनीयता तथा वाच्य एवं अवाच्य' पर परिसंवाद हुआ। इसमें डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डे तथा डॉ० दयाकृष्ण ने अनिर्वचनीयता पर चर्चा की: 'वाच्य और अवाच्य' पर शल्य जी तथा श्री दिनेश चन्द्र माथुर ने मत व्यक्त किये तथा डॉ० ए० पम्पापति राव एवं श्री यशदेव शल्य 'विट्गेन्सटाइन, रहस्यवाद तथा अवाच्य' पर टिप्पणी किये। भारतीय दार्शनिक महासभा के स्वर्ण-जयंती अधिवेशन (1975-76) के अवसर पर आयोजित विश्व दर्शन-सम्मेलन, दिल्ली में श्री यशदेव शल्य परिषद् का प्रतिनिधित्व किये तथा *आत्म और अनात्म* विषयक अपना महत्वपूर्ण आलेख प्रस्तुत किये। संत ज्ञानेश्वर की सप्त-शताब्दि संजीवनी-समाधि के अवसर पर महाराष्ट्र तकनीकी संस्थान, पुणे में आयोजित जागतिक दर्शन-सम्मेलन में 30 नवंबर, 1996 को परिषद् ने ज्ञानदेव के चिंतन पर एक राष्ट्रिय संगोष्ठी का आयोजन तथा प्रो० सुरेन्द्र सदाशिव बारलिंगे का सम्मान किया। इस संगोष्ठी में लगभग 20 लोगों ने भाग लिया। इसके अतिरिक्त दिनांक 4 से 9 अगस्त, 1997 तक परमार्थ निकेतन, ऋषिकेश में आयोजित नवम अंतर्राष्ट्रिय वेदान्त-सम्मेलन में भी परिषद् ने सहयोग दिया। भारतीय दार्शनिक महासभा के कौस्तुभ जयंती के अवसर पर आयोजित विश्व-दर्शन सम्मेलन (नई दिल्ली) में परिषद् ने कुन्दकुन्द भारती परिसर में 31 दिसंबर, 2000 को 'भारतीय दर्शन के 75 वर्ष' विषय पर राष्ट्रिय संगोष्ठी को आयोजन तथा कतिपय विद्वानों का सम्मान भी किया। जबलपुर में 2001 में परिषद् के दो अधिवेशनेतर कार्यक्रम आयोजित किये गये। 31 अगस्त को 'समाज में नैतिक मूल्यों की अवधारणा' विषय पर एक संगोष्ठी आयोजित हुई। पुनः, 20 से 22 दिसंबर तक 'भारतीय दर्शन के पचास वर्ष – हिन्दी एवं सहयोगी भाषाओं

के माध्यम से' विषय पर एक अंतर्राष्ट्रिय संगोष्ठी आयोजित हुई जिसमें भारतीय दार्शनिक अनुसंधान-परिषद्, दिल्ली तथा यूनेस्को (UNESCO) ने भी आर्थिक सहयोग किया। इस संगोष्ठी में जाफना (श्रीलंका) के डॉ॰ ज्ञानकुमारन् तथा कोलम्बो के डॉ॰ व्ही॰ रामकृष्णन् के अतिरिक्त देश के अनेक विद्वानों ने शोध-पत्रों का वाचन किया।

परिषद् आज विश्व स्तर पर दर्शनशास्त्र के अंतर्राष्ट्रिय संगठन फिस्प (Federation of International Societies of Philosophy) से नवंबर, 1993 से संबद्ध है। इसके पंचवार्षिक अंतर्राष्ट्रिय अधिवेशनों में परिषद् की भागीदारी होती है। फिस्प का सदस्य होने के कारण ही परिषद् को यूनेस्को की दर्शन एवं मानवीय अध्ययनों की अंतर्राष्ट्रिय परिषद् (International Council for Philosophy and Humanistic Studies) ने उपरोक्त अंतर्राष्ट्रिय संगोष्ठी के लिए 1800 अमरीकी डालर का सहयोग दिया था।

परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों में प्रायः चार या पाँच विभागों के अंतर्गत शोध-पत्रों का वाचन होता है। वर्तमान में पांच विभागों के अंतर्गत शोध-पत्रों का वाचन होता है, यथा – (1) तर्क एवं ज्ञानमीमांसा, (2) तत्त्वमीमांसा, (3) धर्ममीमांसा एवं (4) नीति दर्शन एवं (5) समाज-दर्शन। अधिवेशन के समय दो या तीन संगोष्ठियों का आयोजन होता है, जिनमें एक विषय शास्त्रीय तथा दूसरा लोकप्रिय होता है। स्थानीय आवश्यकता के अनुसार भी कभी-कभी संगोष्ठी के विषय तथा संख्या का निर्धारण किया जाता है।

परिषद् के अधिवेशन दो से पाँच दिनों तक के होते हैं। परन्तु अधिकांश अधिवेशन त्रिदिवसीय होते हैं। आगन्तुकों के आवास-भोजनादि की व्यवस्था अधिवेशन के उद्घाटन-दिवस की पूर्व-संध्या से की जाती है।

चूँकि परिषद् का कोई स्थायी कार्यालय नहीं है और इसके वार्षिक अधिवेशन देश के विभिन्न भागों में आयोजित होते हैं एवं इसकी कार्यकारिणी के पदाधिकारियों का चुनाव प्रति तीसरे वर्ष होता रहता है अतः व्यवस्था की दृष्टि से कुछ कठिनाइयां भी आती हैं। हाल ही में यह निर्णय किया गया कि परिषद् का स्थायी कार्यालय जबलपुर में स्थापित किया जाय। इस दिशा में कुछ प्रगति हुई है। *दार्शनिक त्रैमासिक* के लगभग सभी अंकों का संग्रह किया जा चुका है। परिषद् के द्वारा प्रकाशित सभी ग्रन्थ भी यहां उपलब्ध हैं।

भारत की योगदा सत्संग समिति, राँची (झारखण्ड) द्वारा परिषद् के राँची अधिवेशन (1975) के बाद 1978 में रू॰ 10,000-00 के अनुदान से परमहंस योगानन्द तुलनात्मक धर्म-दर्शन व्याख्यानमाला का उपक्रम किया गया। इस व्याख्यानमाला का प्रथम भाषण ऋषिकेश अधिवेशन (1979) में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी ने दिया। इस व्याख्यानमाला के सभी उपलब्ध व्याख्यानों का संग्रह *तुलानात्मक धर्म-दर्शन* नाम से दिसम्बर, 2007 में प्रकाशित हो रहा है। योगदा समिति द्वारा हाल ही में इस राशि में रू.25000.00

की वृद्धि की गई है।

ऋषिकेश अधिवेशन (1979) में अमेरिका से पधारे स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती ने तुलनात्मक दर्शन पर एक व्याख्यान-माला प्रारंभ करने के लिए परिषद् को रू०-11,000-00 की राशि प्रदान की। तदनुसार रजत-जंयती अधिवेशन के अवसर पर श्री यशदेव शल्य ने इसके अंतर्गत प्रथम व्याख्यान दिया। इसके उपलब्ध व्याख्यान भी परिषद् द्वारा प्रकाशित किये गये हैं। 2007 में स्वामी प्रणवानन्द जी ने एक लाख रूपये देकर व्याख्यानमाला की राशि में प्रशंसनीय वृद्धि की है।

होशियारपुर (पंजाब) के मानवता-मंदिर ने डॉ० ईश्वर चंद्र शर्मा (बाद में मानवदयाल जी) की प्रेरणा से संत फकीरचंद मानवता व्याख्यान-माला के लिए वार्षिक सहयोग देना शुरू किया कुछ वर्षों (1983-89) तक यह कार्यक्रम चला, परन्तु समन्वय के अभाव में इसे बंद करना पड़ा।

देवात्मा-व्याख्यान-माला मोगा (पंजाब) के देवसमाज की ओर से तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रो० सत्यवान परशुराम कनल (1911-98) की प्रेरणा से (रू० 10,000-00 के अनुदान से) 1987 में प्रारंभ की गई, जिसके अंतर्गत यथार्थवादी चिंतन पर व्याख्यान आयोजित होते हैं। देवात्मा (पूर्वनाम श्री शिवनारायण अग्निहोत्री, 1850-1922) आधुनिक भारतीय दर्शन के महत्वपूर्ण यथार्थवादी विचारक रहे हैं।

रायपुर अधिवेशन (1995) में डॉ० अरुण कुमार मुकर्जी की प्रेरणा से तुलनात्मक धर्म अकादमी, भारत (Academy of Comparative Religion, India, Kolkata-700091) की ओर से, जिसके वे निदेशक हैं, एक व्याख्यान–माला प्रारंभ की गयी। प्रारम्भ में यहाँ से प्राय: तीन-तीन वर्षों के लिए मानदेय राशि परिषद् को उपलब्ध करायी जाती रही है। अब रू०– 50,000.00 के अनुदान के व्याख्यान हेतु स्थाई व्यवस्था हो गई है।

1980 में जबलपुर अधिवेशन के समय स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती (पूर्वनाम श्री शारदा प्रसाद शुक्ल, जन्म: 1फरवरी, 1930, छतरपुर, मध्य प्रदेश) ने रू०-70,000-00 (सत्तर हजार) की राशि परिषद् को प्रदान की, राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी पर हिन्दी में लिखित दर्शन-विषयक किसी पुस्तक पर पुरस्कार देने हेतु। इस राशि के ब्याज से रू०-5,000-00 प्रति वर्ष स्वामी प्रणवानन्द दर्शन-पुरस्कार के विजेता को प्रदान किया जाता रहा है। 2006 में स्वामीजी ने रूपये एक लाख प्रदन कर पुरस्कार-राशि में वृद्धि की है। साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जैन स्मृति युवा-चिंतक पुरस्कार परिषद् के सागर अधिवेशन (2001) के अवसर पर प्रारंभ हुआ, जिसके लिए डॉ० राजेश जैन (सागर) ने परिषद् को रू०-11,000-00 की राशि प्रदान की। इसके अंतर्गत 35 वर्ष से कम आयु के व्यक्ति के आलेख पर पुरस्कार प्रदान किया जाता है।

राँची से डॉ॰ (श्रीमती) स्वर्णलता विद्यार्थी ने अगस्त, 2002 में अपने पति (स्व॰) डा॰ पी॰ बी॰ विद्यार्थी (1928-99) के नाम पर दर्शन के किसी ग्रन्थ के लेखक को पुरस्कृत करने के लिए रू॰-10,000-00 वार्षिक सहयोग का प्रस्ताव किया। इसके अंतर्गत तीन वर्ष **डॉ॰ पी॰ बी॰ विद्यार्थी-स्मृति पुरस्कार** दिया गया। 2001 में यह जबलपुर के दर्शनशास्त्र के उपाचार्य डा॰ दीनानाथ शुक्ल को उनकी पुस्तक *भारतीय दर्शन में भ्रम* पर दिया गया। 2003 में यह पुरस्कार वाराणसी के डॉ॰ आनन्द मिश्र को उनकी पुस्तक *संवित्प्रकाशवाद* पर दिया गया। 2006 का यह पुरस्कार नालंदा के डा॰ राजेन्द्र प्रसाद शर्मा को उनकी पुस्तक *सत्यकाम जाबाल का जीवन-दर्शन* पर दिया गया। कुछ कारणों से यह कार्यक्रम अपेक्षित ढंग से नहीं चल पा रहा है।

श्री खचेडूसिंह नागर पुरस्कार दर्शन विषय पर किसी पुस्तक पर प्रतिवर्ष रू॰ 5,000-00 (पाँच हजार) का पुरस्कार प्रदान करने के लिए नोएडा के युवा दार्शनिक एवं शोधछात्र श्री विजेन्द्र सिंह भाटी ने परिषद् को राशि प्रदान की है। श्री खचेडूसिंह नागर (25-1-1919 : 3-2-1997) की शिक्षा तथा समाज-सेवा में उनकी विशेष रुचि रही। सत्यान्वेषण तथा मानवीय मूल्यों के विकास हेतु यह पुरस्कार 2004 से प्रारंभ किया गया है।

श्री भाटी ने स्वामी दयानन्द के नाम पर एक निबन्ध-प्रतियोगिता के लिए भी कुछ राशि उपलब्ध कराई है, जिससे रू॰-500.00 का पुरस्कार विजेता को प्रदान किया जा रहा है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शन के पूर्व-छात्र डॉ॰ अशोक कुमार पाण्डेय ने अपने गुरु के नाम पर जनवरी 2003 में प्रो॰ संगमलाल पाण्डेय स्मृति व्याख्यान-माला हेतु रू॰ 11,000-00 की राशि परिषद् को प्रदान की। इसके अंतर्गत "प्रो॰ संगमलाल पाण्डेय के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं दर्शन" पर अधिवेशन के समय व्याख्यान आयोजित किये जा रहे हैं। 2003में रू. 25000.00 के अनुदान से वल्लभ वेदान्त व्याख्यानमाला का प्रारम्भ हुआ। 2006 में रूपये 25,000.00 के अनुदान से हिमगिरि आध्यात्मिक संस्थान व्याख्यानमाला प्रारम्भ की गई।

आज परिषद् को आर्थिक दृष्टि से सर्वाधिक सहयोग भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद (Indian Council of Philosophical Research), नई दिल्ली, प्रदान करती है जिसकी स्थापना केन्द्र शासन ने शिक्षा विभाग के अंतर्गत 1981 में की थी, यद्यपि इसका उपक्रम 1976-77 में ही हो चुका था। व्यक्तिगत रूप से आर्थिक सहयोग देनेवालों में भारत के मूल नागरिक, और अब अधिकांशतः दक्षिण अमेरिका में अनेकों योग-केन्द्र के निदेशक स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती हैं। परिषद् को आर्थिक सहयोग देने वाले लोगों में डॉ॰ (कु॰) गिरिजा व्यास, डॉ॰ रेवती रमण पाण्डेय (2.4.1942-27.7.2004), डॉ॰ सजीवन प्रसाद, श्री अजय तिवारी तथा ठा॰ सुरेन्द्र बहादुर सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं।

स्थापना-वर्ष के अनुसार परिषद् के पांच दिवसीय **स्वर्ण-जंयती अधिवेशन** का शुभारम्भ दिनांक 24 नवम्बर 2004 को श्री बोचासणवासी श्री अक्षर पुरुषोत्तम स्वामिनारायण संस्था, शाहीबाग, अहमदाबाद के आतिथेय एवं पूज्य प्रमुख स्वामी के पावन-सान्निध्य में प्रमुख स्वामी प्रेक्षागृह में हुआ। विश्ववंदनीय प्रमुख स्वामी, शतायु महामहोपाध्याय केशवराम काशीराम शास्त्री एवं अधिवेशन के प्रमुख अध्यक्ष डॉ॰ डी॰ एन॰ द्विवेदी द्वारा दीप-प्रज्जवलन कर अधिवेशन का उद्घाटन किया गया । इस अवसर पर परिषद् के इलाहाबाद में फरवरी, 1956 में आयोजित प्रथम अधिवेशन के प्रत्यक्षदर्शी प्रो. एस. के सेठ ने अपने संस्मरण सुनाया।

इस अवसर पर प्रकाशित कुछ ग्रन्थों का विमोचन भी हुआ। प्रो. एस. आर. व्यास ने श्री ज्योतीन्द्र एम॰ दवे द्वारा सम्पादित *सुवर्ण रेखा* (अधिवेशन में प्रस्तुत आलेखों की संक्षेपिका) का विमोचन किया। डॉ॰ डी॰ आर॰ भण्डारी द्वारा सम्पादित *भारतीय दार्शनिक चिन्तन*-खण्ड दो (अध्यक्षीय भाषणों का संग्रह) का विमोचन प्रो॰ एस॰ पी॰ दुबे ने किया। प्रो॰ एस॰ पी॰ दुबे की प्रस्तुति *अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् - एक परिचय* का विमोचन डॉ॰ रामजी सिंह ने किया। श्री कालीचरण पाण्डेय द्वारा सम्पादित *तुलनात्मक दर्शन* (स्वामी प्रणवानन्द तुलनात्मक दर्शन व्याख्यानमाला के व्याख्यानों का संकलन) का विमोचन प्रो॰ एस॰ के॰ सेठ ने किया। डा॰ अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा सम्पादित *स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण* के दो खण्डों का विमोचन श्री के. का. शास्त्री ने किया। साधु आनन्दस्वरूपदास द्वारा सम्पादित *श्रीस्वामिनारायण दर्शन - एक चिन्तन* का विमोचन प. पू. प्रमुख स्वामी ने किया।

तत्पश्चात् स्वामी प्रणवानन्द दर्शन-पुरस्कार (2004) डॉ॰ रामजी सिंह (भागलपुर) को उनकी पुस्तक भारतीय चिंतन और संस्कृति पर डॉ॰ के॰ का॰ शास्त्री द्वारा दिया गया। श्री खचेडू सिंह नागर स्मृति पुरस्कार डॉ॰ इन्दु परमार (रांची) को उनकी पुस्तक *शंकर एवं रामानुज वेदान्त के महावाक्यों का समीक्षात्मक अध्ययन* पर डॉ॰ श्यामराव द्वारा प्रदान किया गया। डॉ॰ संजय शुक्ल (इलाहाबाद)को महंत लक्ष्मीनारायण दास स्मृति स्वर्ण-जयंती निबंध प्रतियोगिता (वरिष्ठ वर्ग) में उनके आलेख *भारतीय दर्शन का भावी स्वरूप* पर रू॰-5000 का पुरस्कार डॉ॰ डी॰ एन॰ द्विवेदी द्वारा प्रदान किया गया।

इस अवसर पर विद्यावाचस्पति पद्मभूषण पं॰ केशवराम काशीराम शास्त्री (1905-2007) को लगभग 20 हजार रूपये की लागत से निर्मित **सुवर्ण-रजत अमृत कलश** आपको प्रदान किया।

अधिवेशन के प्रमुख सभापति डॉ॰ देवतीनन्दन द्विवेदी ने अपना अध्यक्षीय उद्बोधन प्रस्तुत किया, जिसमें चेतना की भौतिकवादी व्याख्याओं की बृहद् समीक्षा की गई है।

उद्घाटन समारोह के अंत में परिषद् के अध्यक्ष प्रो॰ एस॰ पी॰ दुबे द्वारा भव्य सभागार में उपस्थित सभी के प्रति धन्यवाद ज्ञापन किया गया।

परिषद का स्वर्ण-जयंती के अवसर पर रायपुर के श्री अजय तिवारी ने महंत (स्व०) लक्ष्मीनारायण दास के नाम पर लो लेख-प्रतियोगिताओं के आयोजन हेतु रू०-11,000.00 की राशि उपलब्ध करायी।

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक इमैन्युअल काण्ट के गोलोकवास की द्विशताब्दी कार्यक्रम के अंतर्गत परिषद् के अहमदाबाद अधिवेशन में एक विशेष संगोष्ठी आयोजित की गयी।

प्रथम दिन ही अपराह्न में **भारतीय दर्शन के पचास वर्ष** विषय पर एक विशेष परिचर्चा का आयोजन किया गया। संगोष्ठी के समन्वयक डॉ० अम्बिकादत्त शर्मा की प्रस्तावना के पश्चात् प्रो० सिद्धेश्वर भट्ट, डॉ० रामजी सिंह, प्रो० एस० पी० दुबे तथा डॉ० रजनीश कुमार शुक्ल ने इसमें भाग लिया तथा प्रो० सभाजीत मिश्र एवं डॉ० (श्रीमती) सोनल अमीन ने टिप्पणी की।

चुंकि यह वर्ष स्वामिनारायण सेश्वर वेदान्त व्याख्यानमाला का रजत जयंती वर्ष रहा है इसलिए इस विषय पर अधिवेशन के दूसरे दिन- 25 नवम्बर को पूरे दिन व्याख्यान होते रहे जिसमें ग्यारह विद्वानों ने भाग लिया।

महंत लक्ष्मीनारायण दास स्मृति स्वर्ण-जयंती निबंध प्रतियोगिता (कनिष्ठ वर्ग), जिसका विषय था: **भारतीय दर्शन में ईश्वर की अवधारणा**, में आठ पुरस्कार निम्नलिखित व्यक्तियों को परिषद् की सामान्य सभा में

दिनांक 27 नवम्बर को दिया गया:

1. श्री विशाल भारद्वाज (अमृतसर)
2. श्री रणधीर कुमार सिंह (सुपौल)
3. डॉ० राजेश्वर प्रसाद यादव (लखनऊ)
4. श्री मुकेश प्रसाद चौरसिया (खगड़िया)
5. कु० दीपाली जलौन्हा (जबलपुर)
6. कु० श्वेता ओझा (जबलपुर)
7. कु० रीता मिश्रा (इन्दौर)
8. कु० मीना मिश्रा (भोपाल)

स्वामी दयानन्द निबंध-प्रतियोगिता (विषय-स्वामी दयानन्द का व्यक्तित्व एवं कृतित्व) पुरस्कार कु० प्रतिभा त्रिपाठी (वाराणसी) को दिया गया।

साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जैन स्मृति युवा-चिंतक पुरस्कार (आलेख का विषय - जैन दर्शन तथा अहिंसा की अवधारणा) श्री अनिल कुमार तिवारी (कानपुर) को प्रदान किया गया।

समापन-समारोह में काण्ट के निर्वाण की द्विशताब्दी आयोजन के अवसर पर परिषद् के निम्नलिखित तीन सदस्यों को उनकी पुस्तकों पर परिषद्-स्वर्णजयंती पुरस्कार दिये गये:

1. डॉ० रजनीश कुमार शुक्ल (वाराणसी) - *काण्ट का सौंदर्यशास्त्र,*

2. डॉ० संजय कुमार शुक्ल (इलाहाबाद) - *Kant's Copernican Revolution*

3. डॉ० अशोक कुमार पाण्डेय (इलाहाबाद)- *Aspects of Rationality: Analysis of Reason and Will in Kant's Philosophy*

परिषद् के इस अधिवेशन में दो नये निबंध-पुरस्कारों की घोषणा की गयी। न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली की ओर से प्रायोजित **श्रीमती कमला देवी जैन स्मृति पुरस्कार** अधिवेशन में प्रस्तुत सर्वश्रेष्ठ आलेख पर (रू०-5,000.00) दिया जायेगा। परिषद् के आगामी अधिवेशन से इसके प्रत्येक विभाग में 35 वर्ष से कम आयु के लेखक द्वारा प्रस्तुत श्रेष्ठ आलेख पर प्रो० रमेश चद्र सिन्हा (पटना) द्वारा प्रायोजित रू०-1,000.00 का **डॉ० विजयश्री स्मृति युवा पुरस्कार** प्रदान किया जायेगा।

परिषद् के अधिवेशनों के आयोजन-क्रम से इसका पंच-दिवसीय स्वर्ण-जयंती (50वां) अधिवेशन लोनावला (पुणे) में 2से 6 जनवरी, 2006 तक अंतर्राष्ट्रिय रूप में आयोजित होना था। कुछ कारणों से इसे जबलपुर में आयोजित किया गया जिसका उद्घाटन 25 फरवरी 2006 को प्रात: 10 बजे विश्वविद्यालय के पं० कुंजीलाल दुबे सभागार में हुआ। इसके मुख्य अतिथि दिल्ली से पधारे प्रबन्धन विशेषज्ञ श्री प्रमोद बत्रा जी थे। अधिवेशन के प्रमुख अध्यक्ष प्रो० सभाजीत मिश्र (गोरखपुर) ने अपने अध्यक्षीय उद्‌बोधन 'अद्वैत वेदान्त में द्वैत का स्वरूप एवं उसका निरास' का अविकल रूप से वाचन किया।

परिषद् की पत्रिका '*दार्शनिक त्रैमासिक*' के सम्पादक डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल के अथक परिश्रम से तैयार परिषद् की वेबसाईट का भी इस अवसर पर लोकार्पण किया गया। अब इस साइट पर पत्रिका से लेकर अधिवेशन के आयोजन तक छोटी-बड़ी समस्त जानकारियों का समावेश होगा। इच्छुक व्यक्ति abdp.org.in पर लॉगऑन कर परिषद् की जानकारियां प्राप्त कर सकते हैं।

परिषद् ने दिल्ली में 15 से 18 दिसंबर, 2006 तक होने वाली अंतरिम विश्व-दर्शन कांग्रेस के आयोजन में भारतीय दार्शनिक-महासभा को सहयोग दिया तथा 16 दिसम्बर को सायं 5 से 7 बजे तक मानव ऐक्य (Human Unity in Indian Tradition) विषय पर एक विशेष सत्र आयोजित किया। दिल्ली विश्वविद्यालय एवं डॉ० एस० पी० दुबे के संयोजन में डा. लक्ष्मी निधि शर्मा, डा० लक्ष्मी निधि शर्मा, डा० हृदय नारायण मिश्र, समणी डॉ० चैतन्य प्रज्ञा, डा० डी० आर० भण्डारी के साथ ही पांच विदेशी वक्ताओं, यथा - प्रो० सेंगाकू मायेडा (जापान), ली सिलांग (चीन), विल्हेम एस्लर (जर्मनी), जीसस मास्टेरिन (स्पेन) तथा डैनियल

रावेह (इसराइल) ने व्याख्यान दिये तथा अनेक श्रोतागण चर्चा में भाग लिये।

परिषद् का 51वां अधिवेशन इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा 2007 के प्रारम्भ (2 से 5 जनवरी) में आयोजित हुआ। इसके प्रमुख अध्यक्ष थे गुरुकुल कांगड़ी वि॰ वि॰ हरिद्वार के सेवानिवृत्त आचार्य डा॰ जयेदव वेदालंकार। इस अधिवेशन में स्वामी प्रणवानन्द दर्शन-पुरस्कार डॉ॰ सिद्धेश्वर भट्ट को उनके ग्रन्थ *मानव की सेवा में विश्व के प्रमुख धर्म* पर दिया गया। डॉ॰ पी॰ बी॰ विद्यार्थी स्मृति पुरस्कार डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद शर्मा (नालन्दा) को उनकी पुस्तक *सत्यकाम जाबाल का जीवन-दर्शन* पर तथा श्री के॰ एस॰ नागर स्मृति पुरस्कार डॉ॰ डी॰ डी॰ बंदिष्टे (इन्दौर) को उनके ग्रन्थ Philosophical Semi-colons पर दिया गया। आलेख प्रतियोगिताओं में साहित्याचार्य डॉ॰ पन्नालाल जैन स्मृति युवा चिंतक पुरस्कार वाराणसी के श्री भूपेन्द्र शुक्ल को जैन *परम्परा में पर्यावरण* पर तथा स्वामी दयानन्द पुरस्कार कानपुर के श्री अनिल तिवारी को *आर्य समाज और नारी-शिक्षा* पर दिया गया।

परिषद् का 52वां अधिवेशन महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी के तत्त्वावधान में 21 से 23 दिसम्बर, 2007 तक आयोजित किया गया था। इस अधिवेशन का उद्घाटन विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ॰ सुरेन्द्र सिंह कुशवाहा ने किया एवं दर्शन की उपादेयता को अपने उद्बोधन में रेखांकित किया। अधिवेशन के दूसरे दिन सारनाथ स्थित केन्द्रीय तिब्बती शोध संस्थान में दो संगोष्ठियां सम्पन्न हुईं।

परिषद् का एक अंतरिम अधिवेशन जुलाई-अगस्त 2008 में स्वामी विश्वात्मानन्द सरस्वती शिक्षण संस्थान, ज्ञान-गंगा आश्रम, शिवकाशी, सुन्दरबनी (राजौरी), जम्मू में आयोजित होना था परन्तु अमरनाथ देवस्थान भूमि विवाद के कारण उत्पन्न अशांति से इसे स्थगित तथा निरस्त करना पड़ा।

परिषद् का 53वां अधिवेशन गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में 8 से 10 नवम्बर 2008 तक सम्पन्न हुआ। दर्शन-विभागाध्यक्ष डॉ॰ उमराव सिंह बिष्ठ के उत्साह से यह अधिवेशन अत्यन्त सफल माना गया। इसके उद्घाटन के अवसर पर राज्यपाल के अतिरिक्त उत्तराखण्ड विधानसभा के अध्यक्ष श्री हरवंश कपूर तथा शिक्षा मंत्री श्री मदन कौशिक उपस्थित थे। जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी राजराजेश्वराश्रम महाराज जी ने इस अवसर पर अपना आशीर्वचन प्रदान किया। अधिवेशन के सभापति की आसन्दी से डॉ॰ सजीवन प्रसाद ने ''तुलनात्मक दर्शन की समस्यायें'' विषय पर अपना अध्यक्षीय व्याख्यान प्रस्तुत किया। अधिवेशन के समापन समारोह में गुरुकुल कागड़ी के परिद्रष्टा पद्मश्री देवेन्द्र त्रिगुणा तथा उत्तराखण्ड के स्वास्थ्य मंत्री डॉ॰ रमेश पोखरियाल 'निशंक' ने अधिवेशन के सफलता के लिए कुलपति डॉ॰ स्वतंत्र कुमार को साधुवाद दिया। परिषद् के अनेक प्रतिभागियों ने बद्रीनाथ की यात्रा भी की। इस अवसर पर भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के सदस्य

सचिव प्रो॰ गोदावरीश मिश्र की उपस्थिति उल्लेखनीय रही।

इस बीच परिषद् को तीन व्याख्यानमालाओं के लिए अनुदान प्राप्त हुए, यथा- (1) डॉ॰ रमाशंकर श्रीवास्तव तुलनात्मक धर्म विज्ञान व्याख्यान, (2) स्व॰ चम्पादेवी- स्व॰ मुल्तानमलजी तातेड़, जसोल (राजस्थान) स्मृति व्याख्यान, (3) महर्षि दयानन्द व्याख्यान। वर्ष 2009 में अहमदाबाद के प्रो॰ सी॰ वी॰ रावल ने परिषद् को रू॰ 30,000.00 का अनुदान दिया जिससे ''वैद्य श्री गणपतराम जानी (पोलरपुर वाला) गुजरात'' शीर्षक से तीन पुरस्कार प्रदान किये जायेंगे।

विश्व दार्शनिक सम्मेलन के 22वें अधिवेशन में जो सिओल (दक्षिण कोरिया) में 30 जुलाई से 5 अगस्त, 2008 तक आयोजित हुआ, में परिषद् की ओर से तथा जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान) के सौजन्य से डॉ॰ एस. पी. दुबे ने भाग लिया।

परिषद् ने कुछ शोध-प्रबंधों के प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ किया है। जिसमें डॉ॰ फौजिया परवीन का शोध-प्रबंध प्रकाशित हो गया है। डॉ॰ सोहनराज तातेड़ का शोध-प्रकाशनाधीन है। परिषद् ने दार्शनिक चिंतन-सृजन ग्रन्थमाला का प्रारंभ किया है जिसमें विद्वानों के आलेखों के एकल-संकलन प्रकाशित होंगे। ग्रनथमाला के प्रथम पुष्प के रूप में प्रो॰ नारायण शास्त्री द्राविड़ के कुछ आलेख ''भारतीय दर्शन के मूलगामी समस्यायें'' शीर्षक से प्रकाशित हो गया है। प्रो॰ धर्मेन्द्र गोयल के आलेख द्वितीय पुष्प के रूप में प्रकाशनाधीन हैं।

परिषद् का वर्तमान् (54वां) अधिवेशन जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग द्वारा आयोजित किया जा रहा है। संस्कृत विभागाध्यक्ष, प्रो॰ केदारनाथ शर्मा के अत्यन्त उत्साह से यह अधिवेशन सम्पन्न हो रहा है। जम्मू में परिषद् का यह दूसरा अधिवेशन है। इसके पूर्व परिषद् का 27वां अधिवेशन यहां 13 से 15 अक्टूबर 1981 में आयोजित हुआ था। अधि वेशन के मुख्य कार्यक्रम अभिनव थियेटर में सम्पन्न हुए थे तथा डॉ॰ (श्रीमती) तृप्ता रायजादा इसकी स्वागत-मंत्री थीं। स्मारिका प्राय: सभी अधिवेशनों के आयोजक प्रकाशित करते हैं। वर्तमान अधिवेशन की स्मारिका के संपादक प्रो॰ केदारनाथ शर्मा, अध्यक्ष, संस्कृतविभाग एवं उनके समस्त सहयोगियों का परिषद् की ओर से साधुवाद।



Sanskrit Studies in Japan

(With special reference to the study of Nīlamata of Kashmir)

Prof. Ved Kumari Ghai

It was a matter of honour and joy for me to be included in the delegation which was approved by the Ministry of Human Resources, Government of India for participating in the 14th World Sanskrit Conference held from 1st Sept. to 5th Sept. 2009 at Kyoto. I was specially happy as it provided to me an opportunity to meet some scholars who had done further research on the study of Nīlamata which was made public by me in 1968.

Buddhism being the main religion of the people of Japan, the study of Sanskrit, Pali and Indian philosophy is popular in many universities of Japan. The first department of Sanskrit was established at Tokyo University in the year 1890. As was natural, earlier studies in this department centered around Indian philosophy with special emphasis on Buddhist philosophy. As there were many traditional schools of Japanese Buddhism with their own dogmatic discussions, it must have been a matter of interest for the scholars to study their development and relationship with Buddhist philosophy of India. Later on the scope of Japanese Indology was broadened at Tokyo University and now there are many universities of Japan like Kyoto University, Hiroshima University, Bukkyo University, Osaka University, Rissho University, Osakagakuin University, Kokugakuin University, Kyushu University, Meijo University, Nagoya University and Ryukoku University besides various others which carry on research in various fields of Indology like Indo-Iranian linguistics, Vedic studies, Epics and Puranas, Ayurveda and other sciences, classical law, history of religion and rituals, Buddhism, other systems of Indian Philosophy and Tibetan studies. After World War II, the leading Sanskrit scholars of Kyoto University and Tokyo University have tried to explore many new fields of Indology. One of these has been finding out new manuscripts of various fields of Indology so as to facilitate the preparation of reliable critical editions of texts. Japanese Indologists have introduced computer technology into the study of Sanskrit texts and have made available Vedic texts, Rāmāyaṇa, Mahābhārata, Dharmaśāstras and some basic texts of Indian Philosophy through the network of the internet. This transcription method

with diacritical marks used for Sanskrit texts is named as "Kyoto Harvard" method as it was agreed to by the scholars of Kyoto and Harvard in a joint seminar. A large scale project of text input of the Chinese Taisho Tripitika was started by Professor Y. Ejima and completed by his associates.

Mieko Kajihara of Kyoto University in working these days to bring out critical edition of Vādhūla Gṛhyasūtra. Prof. Yasuke Ikari of Kyoto University discussed in this World Sanskrit Conference, some distinctive features of the Vādhūla Śraūtasūtra on the basis of the newly discovered manuscripts in Malayalam script, and compared the ritual procedures as found in the Vādhūla Śraūtasūtra with parallel procedures found in Baudhāyana Śraūtasūtra of Yajurveda. He also talked about an unknown commentary on Yājñavalkya Smṛti. Tsutomo Yamashita of Kyoto in association with Kenneth G. Zysk of Copenhagen Denmark is working on Jajjata's Nirantarapadavyākhyā - an early commentary on the Caraka Saṃhitā on the basis of MSS in Malayalam script and the printed edition by Haridatta Shastri published in 1941. This indicates Japanese scholar's keen interest in manuscript studies.

In my work The Nīlamata Purāṇa - A Cultural & Literary study which was published by J&K Academy of Art, Culture and Languages, Srinagar/Jammu in 1968, I had referred to two Brahma Purānas, one from which numerous verses had been quoted by Lakṣmīdhara in his Kṛtyakalpataru and which was not available and the other one which was available in print and was quoted by Hemādri, Śulapāṇi, Vācaspatimiśra etc. Prof. Yasuke Ikari of Kyoto University visited India in eighties and discovered the incomplete MS of Ādi Purāṇa at Jammu & Kasmir Government Research Library Śrinagar MS No. 1346 Folio 7 to 32. On the cover page is written Mārtaṇḍamāhatmya by a different hand. The cover page has no relationship with the contents of the MS. Folio 1 to 6 are entirely missing Folio 7 to 10 are written in one hand Folio 11 to 31B are written in another hand.

This Ādipurāṇa seems to be the same as referred to by Laksmīdhara as Brahma Purāṇa and which has many verses common with Nīlamata Purāṇa. Prof. Yasuke Ikari and T. Hayashi have published this Ādipurāṇa alongwith apparatus. It will be highly interesting to undertake a comparative study of this Ādipurāṇa together with parallel verses quoted in Kṛtyakalpataru, Kṛtyaratnākara and other Dharmaśāstra works, with the Nīlamata Purāṇa. This study can throw light on the textual history of the Nīlamata Purāṇa. This discovery of the incomplete manuscript of Ādipuraṇa is very important but attempts should be continued to find out if any other manuscript of the work is available in any manuscript library-institutional or private.

When I took up the cultural and literary study of the Nīlamata Purāṇa, I used two printed editions of the work, Lahore edition (1924) by Prof. Ramlal Kanjilal and Pandit Jagaddhar Zadoo and Leiden edition (1936) by Dr. K. de Vreese. Leiden edition being the first critical edition, my study was mainly based on that. During my study, a perusal of eight manuscripts not used in previous editions prompted me to bring out a critical edition of the Nīlamata in Devanāgarī script along with the first translation of the work in English in the year 1973.

In 1987 the scholars at Kyoto University, Japan took up study of Nīlamata Purāṇa as a part of bi-weekly seminars on ''Studies in traditional cultures in the context of Ancient Indian and Indo-European Societies'' coordinated by Prof. Yasuke Ikari. The joint seminars, with twenty five scholars as participants were held regularly from April 1987 to March 1991 at the Institute for research in Humanities, Kyoto University. As is evident, the scholars made use of the critical editions of the text by K.de. Vreese and by this writer. Although they examined several manuscripts of the text during their seminars, they did not bring out another critical edition of the text. Prof. Y.Ikari writes in this context - ''After the first critical edition of the text by K.de, Vreese in 1936, Ved Kumari has made an important contribution to the textual study with her findings of the new manuscripts from Jammu and Kashmir area. Her edition published in 1973 undoubtedly is to be evaluated as a better critical text than that of de. Vreese's. Her edition however leaves much to be desired, as there are a lot of misprints and misreadings in her critical apparatus which sometimes prevent us from grasping the true nature of each manuscript. The task of preparing better critical text of the Nīlamata, including some more available manuscripts should be taken up in future'' (From preface of ''A Study of the Nīlamata'' - Aspects of Hinuism in Ancient Kashmir) The results of the joint seminars are included in the above mentioned volume published by Institue for Research in Humanities Kyoto University Kyoto Japan, 1994. These papers are -

1. Kashmiri Manuscripts and Pronunciation - M.Witzel
2. On the textual formation of the Nīlamata Purāṇa - M.Fcojii
3. Ādipurāṇa (Text) - Y.Ikari and T. Hayashi
4. Analysis of the Ritual structure of the Nīlamata - S.Einoo
5. Pañcarātra Elements in the Ritual of the Nīlamata - H.Hikita
6. Calender and Related subjects in the Nīlamata Purāṇa - M.Yano

7. The Brahmins of Kashmir - M.Witzel
8. Metre and Euphony (Sandhi) in the Nīlamata Purāṇa - H.Nakatani
9. Devaganas in the Epico-Puranic Literature - M.Tokunaga
10. A note on Kashmir as referred to in Chinese Literature : Ji-bin - F.Enomoto
11. Remarks on Religious Predominance in Kashmir : Hindu or Buddhist? - T.Funayama
12. A note on bhojya and bhakṣya - T.Yagi
13. Description of Temples and Tīrthas in the Nīlamata Purāṇa - M.Tokunaga
14. Map of ancient Tīrthas in Kashmir Valley - Y.Ikari

Some of these papers have reexamined points discussed by this writer and some have added new information as Calender and related subjects by M. Yano. According to his view, Amānta (New moon ending) calender was used in Kashmir which was shifted to Pūrnimānta (full moon ending) somewhere between Bhattotpala and Kalhaṇa. A new classification of Temples and Tīrthas of Kashmir has been given by Prof. Tokunaga. M. Fujii has brought forth some new evidence regarding chronological relationship between the Nīlamata and the Ādi purāṇa/Brahma Purāṇa which however corroborates the conclusion drawn by this writer (cf. Nīlamata Purāṇa, Vol. I, P. 13 with Fujii's paper pp. 74-75) In the light of these new researches and the discovery of Ādi purāṇa J&K Academy of Art, Culture and Languages should plan to bring out revised critical edition of the text of the Nīlamata.



An Examination of the Brāhmaṇical Attitude towards Caṇḍālas and Other Outcasts as Reflected in the Pāli Literature

--K.T.S. SARAO

It needs to be kept in mind that the history of ancient India is the history of upper caste people. Almost none of our sources represent the view point of the various submerged sections of the society. By the beginning of the age of the Buddha, caste system had been well-established in the Indian society. It had become both functional and hereditary. The word *vaṇṇa,* which may be translated as *social grade, rank* or *caste* is liberally used in the Pāli literature not only as a distinguishing mark of race or species, but also as constituting a mark of class (caste) distinction. Similarly, lineage (gotta) is considered of important social significance and references to questions like *of what lineage*?, or *belonging to such and such an ancestry* do find their mention in the Pāli literature.[1] Likewise, a feeling of family/ clan (*kula*) is quite strongly reflected in the Pāli literature and appears to have a kind of acceptance in Indian Buddhism.[2] In the Pāli literature, one comes across references to people who were well-bred, endowed with distinguished/ good/ pure/ high birth, *race*, beauty and nobility.[3] The term *ariya* is used quite liberally in accordance with the customs and ideals of the Ariyan clans[4] and it is not surprising to come across people who were conceited

1. *gottavāda* (D.I.99); *kathaṅgotta*? (D.I.92); *evaṅ-gotta* (M.I.420, II.20, 33).
2. Thus, we have a king's clan (*rājakula* J.I.290; III.277; VI.368*)*, a khattiya clan (*khattiyakula* Vin.II.161), a brāhmaṇic clan (*brāhmaṇakula* A.V.249; J.IV.411), a trader's clan (*vāṇijakula* J.III.82), a farmer's clan (*kassakakula* J.II.109), a banker's clan (*purāṇaseṭṭhikula* J.VI.364) and an esteemed clan (*aggakulika* Pv.III.5.5); a daughter of good family (*kuladhītā* Vin.II.10); *sadisakula* (PvA.82); lineage/ progeny (*kulavaṃsa* M.II.181; A.III.43; IV.61; DA.I.256) so on so forth.
3. *jāti sampanna (*A.III.152); *ājāniya* (J.I.181); *jātimant* (Sn.420); *sujātimant* (J.VI.356); *kula-rūpa-sampanna* (PvA.3, 280); *ariyāya jātiyā jāto* (become of the Ariyan lineage- M.II.103); *uccakulīīnatā* (A.III.48); *uccākulīnatā* (M.III.37; VvA.32; Pv.III.1.16); *kolīniyā*/ *koleyyaka* (J.II.348).
4. For instance, *ayyaputta i.e.,* son of an Ariyan or an aristocratic young man (J.I.62, III.167, VI.146.) and *ariyapuggala* i.e., aristocratic person (Vin.V.117; Ps.I.167; ThA.206.). The term *ariya* has been used in terms like *ariyadhamma (*S.IV.250); *ariyasaṃgha* PvA.1); *ariyamaggo* (S.V.421); *ariyasaccāni* (Vin.I.10; Sn.229, 267; Dh.190; D.I.189; II.90; III.277; M.I.62; III.248; S.V.435 etc.) more or less in the same sense.

or proud of birth.[1] Then there were those of inferior race and not of good blood/ birth.[2] They were perceived as morally ignoble, low, undistinguished, mean low, uncultured, common, not Aryan and of shameless behaviour.[3] Many amongst such unfortunate human beings had been placed outside the pale of caste system and were thus, known as outcasts or having no caste at all.[4] Whereas Pāli literature registers an unmistakable disdain for ruralism and things rural,[5] the word *nagarika* insinuates *urbane and polite*.[6] Other than the gradations at the social level, one also comes across references to divisions at the economic level. Thus, we have references to destitutes[7] as well as wealthy and influential people.[8] Humans being were bought and sold as slaves[9] and there were unpaid labourers and serfs.[10]

The brāhmaṇas who viewed themselves as the highest caste claimed every social privilege and ascendancy as an inalienable birthright. In the period, immediately prior to the time of the Buddha, with the development of the sacrificial cult, the position of the brāhmaṇas had become considerably powerful and their social prestige soared far above the rest of the populace. They came to be viewed as gods in human form and even kings were obligated to place themselves at their services. They were reckoned with so much fear and idolization that they were not considered accountable for any kind of punishment

---

1. *jātithaddha* (Sn.104).
2. *anājāniya* (M.I.367); *ajātimanta* (J.VI.356), *ajacca* (J.III.17, VI.100); *ittarajacca* (M.II.47); *hīnajacca* (J.I.342); *nihīnajacca* (J.V.257); *jātinihīna* (PvA.198); *nihīna-jātika* (PvA.175).
3. *anariya* (Vin.I.10; D.II.87; III.232; Sn.664, 782; A.I.8); *anāriya* (Sn.815); *anariyadhamma* (Pug.13); *anariya-rūpa* (J.V.48, 87; DhA.IV.3); *nīcakula* (Sn.411, 462; J.I.106). The term *dāsiputta* (son of a slave) is often used as an expression of contempt *(Gharadāsiyā va putto* D.I.93; DA.I.257).Also see, *PED* s.v. *dāsīputta*.
4. *vevaṇṇiya* (A.V.87); *vaivarṇika* (Divy.424).
5. *gāmakūṭa* (sycophant- S.II.258); *gāmadhamma* (vile conduct- D.I.4); *gāma-vāsīnaṁ dhamma* (vile conduct- DA.I.72); *gāmadārakā* (street urchins- J.II.78, 176, III.275).
6. DA.I.282.Most of the sermons recorded in the *Nikāyas* were delivered in large cities like Sāvatthī, Rājagaha and Kosambī. In the *Jātakas*, of the 315 bodhisattas who were born as human beings, 223 (84.47%) were born in urban centres and most of them belonged to the families of kings, their minister or rich magnates. (See, K.T.S. Sarao, *Origin and Nature of Ancient Indian Buddhism*, Delhi: Eastern Book Linkers: 1989: Appendix.IV).
7. *daliddal daḷida* (Vin.II.159; S.I.96; V.100, 384, 404; M.II.73; A.II.57, 203; III.351; IV.219; V.43; DA.I.298).
8. *aḍḍhaka* (J.IV.495; Pv.8.2); *mahāvibhava* (PvA.107).
9. D.I.5; DA.I.78; J.I.200, 223, III.343, 347; Pug.56; PvA.112.
10. *dāsakammakāra* (Vin.I.240; A.I.240; D.III.189; DhA.IV.1).

even if they happened to commit the gravest of crimes.[1] The basic criterion to be a brāhmaṇa was his birth. In sharp contrast to the brāhmaṇas who considered themselves as a superior caste,[2] caṇḍāla, nesāda, veṇa, rathakāra and pukkusa are mentioned in the Pāli literature as five categories of people who were baseborn.[3] Birth in any of these five *nīcakulas* was considered as most unfortunate as only sinful people are said to be born into these *nīcakulas.*[4] A man born into any of these castes is said to be hard-pressed for basic necessities and even handicapped by physical disabilities.[5]

As the nesādas[6] /nisādas[7] were a hunting tribe, it is not difficult to explain the inclusion of nesādas in the Buddhist list of castes regarded with extreme dislike and hostility. As per the information available in the brāhmaṇical texts, they were a pre-Āryan people, who are portrayed as short-limbed, of the complexion of scorched wood, with blood-red eyes, high cheekbones, snub-noses, and copper-coloured hair.[8] The legend of their quirky origin from the body of Veṇa,[9] the king who proved tyrannous to the priestly class, may point to the resistance they offered to the process of brāhmaṇization. According to Baudhāyana, nisāda was the son of a brāhmaṇa father and a sudda mother.[10] Even after they were accepted into the brāhmaṇical society, the nesādas continued primarily as hunters[11] and lived in their own villages.[12] There are quite a few references to the black colour of the nisādas in the *Mahābhārata* and the *Viṣṇu Purāṇa.*[13] Right up to the end of the Vedic period, the rathakāra and the nisādas enjoyed the privilege of sacrifice, but later fell under the category of the suddas.[14]

---

1. J.H. Hutton, *Caste in India: Its Nature, Function and Origins*, Cambridge: Cambridge University Press, 1946: 81.
2. *ukkaṭṭhakulīna* (Vin.IV.6).
3. *nīcakulīno* (Vin.IV.6, 9; M.II.152, 183f; S.I.93; A.I.107, II.85, III.385; Pug.51). In some texts, *chapaka* is also mentioned as the name of a low-caste tribe (Vin.IV.203).
4. M.III.169.
5. S.I.93f.
6. Vin.IV.7.
7. J.IV.364.
8. R.S. Sharma, *Śūdras in Ancient India*, 3rd revised edition, Delhi: Motilal Banarsidas:1990:143 fn 1 & 2.
9. See, R.S. Sharma, *Op. Cit.*:142 fn 3.
10. Quoted at R.S. Sharma, *Op. Cit.*:113 fn 7; 132 fn 6.
11. J.II.200; VI.71f, 170.
12. J.VI.71f.
13. Quoted in R.S. Sharma, *Op. Cit.*: 78 from Shafer, *Ethnography of Ancient India*, 10.
14. R.S. Sharma, *Op. Cit.*: 78-79.

Veṇas were another aboriginal tribe, who lived by hunting and working in bamboos.[1] A *Jātaka* alludes to a veṇukāra/ veḷukāra who goes into the forest with his knife to collect a bundle of bamboos for his trade.[2] According to brāhmaṇical texts, a veṇa is the descendant of a vaidehaka father (born of a vessa father and a khattiya mother) and an ambaṭṭha mother (born of a brāhmaṇa father and a vessa mother).[3] Thus, unlike the caṇḍālas and the pukkusas, the veṇa was not presumed to have sudda blood. Although in a Jātaka, the term *veṇī* is bracketted with the caṇḍāla as a term of chastisement,[4] there is nothing to show that the veṇas were reckoned as untouchables like the caṇḍālas. The commentary on the *Vinaya Piṭaka* perspicuously avers that birth as a veṇa implies birth as a carpenter (*tacchaka*).[5]

Rathakāra were a chariot-makers/ carriage-builders.[6] The issue of a vessa father and a sudda mother is known as rathakāra.[7] Rhys Davids suggests that they were an aboriginal tribe.[8] On the basis of a passage in a *Jātaka* it has been indicated that the rathakāra fell in status because of his having taken to leather work.[9] But the rathakāra also continued to be hired to make the wheels of the chariot, which was used by the kings.[10] Further, as the craft of the leather worker (*cammakāra*) is regarded as low, he fell in status. Perhaps one of the reasons why the rathakāra is treated as a despised caste in the Buddhist texts is the Buddhist revulsion to war, for which the rathakāra manufactured chariots.[11] In any case, it is clear that they were not downgraded to the same level as the caṇḍālas and the pukkusas.

Pukkusas were scavengers or refuse-removers.[12] We are told that they were

---

1. Vin.IV.6; S.I.93; A.II.85, III.385; Pug.51; PvA.175.
2. J.IV.251.
3. See, R.S. Sharma, *Op. Cit.*:142 fn 1.
4. J.V.306.
5. *veṇajāti ti tacchakajāti* (SBB.IX.173. Also see, J.V.306).
6. S.I.93; Vin.IV.9; M.II.152, 183f. At PvA.175 this caste is explained as *cammakārin* (a tanner, a leather-worker).
7. See, R.S. Sharma, *Op. Cit.*: 132 fn 9.
8. DB.I.100.
9. A.N. Bose, *the Social and Rural Economy of North-East India*, vol. 2, Calcutta: 1942-45, II.456.
10. A.I.111-113.
11. R.S. Sharma, *Op. Cit.*:142.
12. A.I.107, II.85; Pug.51; Vin.IV.6. Also see, R. Fick, *Social Organization in North-East India in Buddha's Time*, tr. S.K. Mitra, Calcutta: University of Calcutta: 1920: 206f.

the offsprings of nisādas by sudda women.[1] Thus, they appear to have been a mixed tribe. The pukkusas lived by hunting,[2] but they were piecemeal assimilated into the brāhmaṇical society for different tasks such as removing flowers from the temple and the palace.[3] The fact that they could approach the temple premises to remove flowers indicates that they were not reckoned as being quite as degraded as the caṇḍālas.

The caṇḍālas were the most unfortunate people who often vituperated as vile (*duṭṭhacaṇḍālā*)[4] and odious-outcasts (*mahācaṇḍāla*).[5] Originally, the caṇḍālas seem to have been an aboriginal tribe. This is clear from the use of their own argot.[6] But later they appear to have become a mixed tribe as some of them do not appear to be physiognomically different and could hide their identity.[7] Later Vedic literature and the laws of Manu, also regarded the caṇḍālas as a very low caste of mixed origin, who were the descendants of a sudda father and a brāhmaṇa mother.[8] According to this theory, the lower the caste of the father and higher the caste of the mother, the lower would be the caste of the offspring. Hence the caṇḍālas came to be regarded as the meanest and the most loathed of all the mixed castes. According to the Buddhist texts, the caṇḍālas and the pukkusas were not included in the sudda vaṇṇā.[9] T.W. Rhys Davids is of the view that they were originally an abominable group of aborigines, who were dealt with as such by the Äryans.[10] Since the conquering Äryans regarded all aborigines as much below themselves on grounds of colour and other criteria, the caṇḍālas, too, could have been one such group who were more despised than the others due to some reason or the other.[11] In the *Mahāvastu,* caṇḍālas are listed among the enemies of birds.[12] In one of the *Jātakas*, a caṇḍāla is mentioned as a mongoose-trainer (*koṇḍa-damaka*)[13] and in another *Jātaka*, caṇḍālas are

1. See, R.S. Sharma, *Op. Cit.*: 132 fn 7.
2. Though Pāli texts do not indicate this, but various brāhmaṇical texts prescribe hunting as their occupation (See, R.S. Sharma, *Op. Cit.*: 141 fn 5).
3. J.III.195.
4. J.IV.392, 397; A.I.107, 162, II.85; Vin.IV.6; M.II.152; S.V.168; Pug.51.
5. J.IV.200.
6. J.IV.391f.
7. J.IV.390-401.
8. R.S. Sharma, *Op. Cit.*: 71.
9. S.I.102, 106.
10. T.W. Rhys Davids, *Buddhist India*, New York: G.P. Putnam's Sons: 1903: 40.
11. G.S. Ghurye, *Castes and race in India*, London: 1932: 47-48.
12. Mv.II.251.5.
13. J.IV.389.

mentioned as learning *caṇḍālavaṃsadhopana*.[1] Gradually, they came to be looked upon as untouchables. In a *Jātaka* tale when a caṇḍāla enters a town, people pound him with blows and render him unconscious.[2] The extent to which the caṇḍālas were abhorred could be conceived from various occurrences mentioned in some of the *Jātakas*. Contact with the air that touched a caṇḍāla's body was regarded as contamination. In one of the Jātakas,[3] a brāhmaṇa youth who was very conceited about his caste, was going out from the city with his companions when he saw a caṇḍāla. Fearing that the wind which contacted the caṇḍāla might touch his own body and contaminate him, he swore at him for being there and commanded the wretched man to move to leeward and he himself ran in the opposite direction. But the caṇḍāla youth refused to do his bidding and stood to the windward of him. This incensed the brāhmaṇa so much that he started abusing caṇḍāla prodigally. Then the caṇḍāla threw a challenge to the other to answer a question on condition that the failure to do so would result in the caṇḍāla putting the brāhmaṇa between his feet. As he failed to answer the question, the caṇḍāla forcibly put him between his feet. This is evidently expressive of the Buddhist attitude towards the whole question of caste, for it rebuffs the brāhmaṇas, indicating the superiority of knowledge over caste. But the incident also divulges the spite in which the brāhmaṇas held the caṇḍālas.

The very sight of a caṇḍāla foreboded evil.[4] Even the sight of the caṇḍālas from a distance was enough for high caste people, especially women, to wash their eyes with scented water (*gandhodaka*) to remove the contamination. As told in the *Citta-Sambhūta Jātaka*,[5] two women, a daughter of a wealthy merchant and a royal councillor, who had gone to the city gate to play, on seeing two caṇḍāla brothers, washed their eyes with scented water and turned back. The poor caṇḍālas received a sound beating from the people who lost a very good chance of feasting on the occasion. Same sort of incident is related in the *Mātaṅga Jātaka*[6] when the daughter of a seṭṭhi of Bārāṇasī, seeing a caṇḍāla, washed her eyes with perfumed water, that had been contaminated by a mere glance at that despised person.

---

1. J.IV.390 (Translated variously as "art of sweeping in the caṇḍāla breed," "feat of acrobats by caṇḍālas").
2. J.IV.376, 391.
3. J.III.232-237.
4. J.IV.376, 391.
5. J.IV.390-401.
6. J.IV.375-390.

Food and drink, if seen by him, were not to be taken.[1] ingesting of his food, even unknowingly, led to social ostracism. The *Satadhamma Jātaka*[2] exemplifies the harshness of these caste rules. According to the story told in this *Jātaka*, two youths, a brāhmaṇa and a caṇḍāla travel together on a long journey. incidentally, it may be observed here that it was very unusual that a brāhmaṇa travelled together with a caṇḍāla. Only the caṇḍāla youth, who is the bodhisatta, takes provisions for the journey. On the way, before taking his meals, the caṇḍāla invited the other to join him, which was naturally turned down. After having travelled the whole day, the bodhisatta had his second meal in the evening. The brāhmaṇa, who had been very tired by this time, was feeling very hungry. His hunger made him forget all about his caste and this time he asked for a portion of the meal from the caṇḍāla and ate it. No sooner had he finished eating, than he was overcome by grief and remorse, that he being a brāhmaṇa, had eaten food left over by a caṇḍāla, and he immediately vomitted out with blood what he had eaten. He was feeling so guilty that he became sick of life for having committed such a serious fault that he decided to starve himself to death and entered a forest to do so. Here, too, it is a case of Buddhist authors scoffing at the rule of the brāhmaṇas that no brāhmaṇa should eat the food left over by a caṇḍāla, which as pointed out in another *Jātaka*,[3] results in the brāhmaṇa losing his caste altogether. According to this *Jātaka*, 16,000 brāhmaṇas are said to have lost their caste just because the water which had been mixed with rice left over by a caṇḍāla fell into their mouths. The disdain for such a food was so great that the Buddha in his introduction to the *Satadhamma Jātaka*,[4] says that for the followers of his doctrine the eating of food obtained in an illegitimately is like eating the table-leavings of a caṇḍāla.

There is another story in another *Jātaka*[5] where a brāhmaṇa ascetic was humbled by a caṇḍāla. Although the aim of the story is to deride the brāhmaṇic attitude towards the caste system, the low position of the caṇḍālas in the society at that time is divulged by this story too. Here the ascetic had his hermitage on the bank of a river and a caṇḍāla, too, lived in the neighbourhood. One day when the ascetic was taking bath in the river, a toothpick (*dantakaṭṭhaṃ*) thrown by the caṇḍāla upstream into the river got stuck into the ascetic's hair. At this

1. J.IV.390.
2. J.II.82ff.
3. J.IV.388.
4. J.II.82.
5. J.IV.388.

the ascetic became offended through and through, vituperated him and commanded the caṇḍāla to go somewhere else.

By and large, the *Jātaka* references indicate that although the caṇḍālas were loathed as untouchables by the members of the higher castes, they were especially hated by the brāhmaṇas. When the caṇḍālas were absorbed into the brāhmaṇical society, this assimilation did not mark a complete break with their former style of life. The caṇḍālas led a life of misery and squalor. A simile from a Pāli text informs us that a caṇḍāla boy or girl, clad in rags, with begging tray in hand, on entering a settlement assumes a humble mien and then goes on.[1] In popular parlance the term *caṇḍāla* signifies a person who was without any virtues, a person without faith and morals.[2] Fick rightly says that in their portrayal of the caṇḍāla the *Jātakas* show that the reality was not far different from the priestly theory.[3]

Brāhmaṇic attitude towards the caṇḍālas was so negative that even when a brāhmaṇa took a caṇḍāla woman as his wife he was accused of having transgressed a major covenant and is referred to as a *brāhmaṇa-caṇḍāla.*[4] There are references to a caṇḍāla's begging tray (*kalopihattha*), which consisted of a small vessel fixed to the end of a stick so that there is no contact between the giver and the recipient.[5] Just as the origins of the caṇḍālas cannot be clearly explained, even their professional work defies clear explanation. Probably on account of their being hunters and fowlers, they appear to be associated with the removal and disposal of corpses,[6] execution,[7] whipping and cutting off the limbs of the criminals,[8] coffin-making and grave-digging.[1] The caṇḍālas were also sometimes engaged for street sweeping.[10]

Due to the contempt with which they were regarded, the caṇḍālas were kept out of the society at large. As a result, they were made to live in a

---

1. *kalopihattho nantikavāsī gāmaṃ vā nigamaṃ vā pavisanto nīcacittaṃ yava utaṭṭhpetvā pavisati* (A.IV.376).
2. A.III.206.
3. Fick, *Op. Cit.* 318.
4. A.III.228-228.
5. A.IV.376.
6. *chavachaḍḍaka-caṇḍālā* (J.III.195).
7. *coraghātaka* (Execution of a thief). See, A.N. Bose, *Op. Cit.* 438.
8. J.III.41, 179.
9. J.H. Hutton, *Caste in India: Its Nature, Function and Origins*, Cambridge, Cambridge University Press, 1946: 145.
10. J.IV.390.

settlements (*caṇḍālagāma*) which were earmarked for the purposes and located outside towns (*bahinagare*).[1] It appears to have been mandated by the brāhmaṇical society that whenever they entered a village or a town, either for begging or to do their professional work, they had to be distinguished from the others not only in terms of their appearance. We learn from a *Jātaka* that the caṇḍāla possessed a pair of coloured garments in order to distinguish him from the rest of the population, a girdle, a ragged robe and an earthen bowl.[2] In the *Cittasambhūta Jātaka*[3] we are told how two caṇḍāla brothers dressed as brāhmaṇas go to Takkasilā to study under a teacher. Later, one of them burns his mouth with hot-rice, forgets himself, cries in his own caṇḍāla-language (*caṇḍālabhāsāya*) upon which their disguise is detected. According to the story, they were driven out immediately and then they entered a forest to become ascetics. It may be remarked here that this distinction in their speech was probably not in their language as a whole, but in certain words and expressions, for, being excluded from the rest of the population, they must have preserved some traits of their original language. Sometimes the term *caṇḍāla* is used in the Pāli literature as a term of contempt. Thus, when a jackal makes a proposal of marriage to a young lioness, the latter says that the jackal is regarded as the lowest and the most wretched among the four-footed animals and is similar to a caṇḍāla.[4] The lioness felt so insulted at the jackal's proposal that she decided to kill herself. However, there is an instance in which a departure from the normal is mentioned. In the *Chavaka Jātaka*,[5] a king, on being pleased with the behaviour of a caṇḍāla, appoints him as the lord protector of the city.

The origin of untouchability has sometimes been explained variously through the intermixture of castes,[6] as a result of the total isolation and loss of tradition of Buddhist communities,[7] beef-eaters being condemned as untouchables,[8] the

1. J.IV.376, 390 etc.
2. J.IV.379.
3. J.IV.390-401.
4. *caṇḍāla-sadiso* (J.II.6).
5. J.III. 27-30. See also, Vin.IV.203.
6. The Dharmasūtras ascribe the origin of untouchability to the intermixture of castes (R.S. Sharma, *Op. Cit.*: 144).
7. *Modern Review*, Calcutta, December 1923: 712-13. But this appears to have been a post-Moriyan phenomenon.
8. B.R. Ambedkar, *The Untouchable* (*Who are They? And Why They became Untouchables?*), New Delhi: 1948: Ch. X. This may have swelled the ranks of the untouchables in later times, but cannot be taken as an explanation of their origin as there is nothing which may imply that beef-eating was prohibited in the brāhmaṇical society during this period (R.S. Sharma, *Op. Cit.* 144).

psyche of revulsion leading to untouchability being borrowed from the Dravidians,[1] or the theoretical impurity of certain occupations.[2] Most of the mixed castes were nothing more than backward tribes, who were annexed to the four original and recognized vaṇṇas by giving them a wholly arbitrary genesis.[3] It seems that the inhabitants of tribal settlements en masse were condemned to the position of untouchables by the brāhmaṇas. The ranks of such people later appear to have been swelled by those who were kicked out of the caste system due to serious violations of caste laws laid down by the brāhmaṇas. Thus, perhaps the most important reason for the origin of untouchability was the cultural lag of the aboriginal tribes, who were mainly hunters and fowlers, in contrast to the members of the brāhmaṇical society, who possessed the knowledge of metals and agriculture,[4] and were developing urban life. The low material culture and the resultant woeful situation of these tribes is recounted in the Pāli texts as "a life of vagrancy, want and penury, scarcely getting food and drink for the stomachs or clothes to their backs."[5] This would suggest that these despised castes had a very precarious living, and were in far worse condition than the suddas some of whom as dāsas and kammakaras enjoyed at least some security of livelihood. As pointed out by R.S. Sharma, during the post-Vedic period, the upper vaṇṇas, who tended to be hereditary in their positions and functions, gradually withdrew from the work of primary production and developed a contempt not only for manual work but also extended it to those who practised it.[6] Against the background of a very low material culture of the aborigines, the increasing contempt for manual work, combined with primitive ideas of taboo and impurity associated with certain materials, produced the unique social phenomenon of untouchability. This was particularly true of the work of the caṇḍālas who dealt with corpses, with which were linked primitive ideas of impurity and horror. Consequently, it was felt necessary to avoid contact with such persons. In later times, the idea of untouchability was extended not only to the nisādas and

---

1. R.C.. Dutt, *A History of Civilization in Ancient India*, Calcutta, 1891: 106f. But there is no evidence that untouchability existed amongst the Dravidians before their brāhmaṇization (See R.S. Sharma, *Op. Cit.*: 145).
2. G.S. Ghurye, *Castes and Class in India*, Bombay, 1950: 159. But this does not appear to be correct as the question as to why certain occupations came to be regarded as impure remains unanswered.
3. Richard Fick, Op. Cit.: 9.
4. *Ibid.*: 324.
5. *na lābhī annassa vatthassa yānassa* (M.III.169-70; A.II.85).
6. R.S. Sharma, *Op. Cit.*:145-46.

pukkusas but also to the leather workers and weavers.[1]

Surprisingly suddas and outcasts find a very low *representation* in the *Saṃgha.* An analysis of the background of various *tharas* and *therīs* mentioned in the *Theragāthā* and *Therīgāthā* showed that only about 9% came from the sudda and outcast background.[2] One has only to go through the Pāli canonical literature to see how strong in numbers were the brāhmaṇa followers of the Buddha who had rejected the claim of their brāhmaṇahood by birth in theory, but followed mostly in practice. It has been shown that well over 40% of the leading *bhikkhus* and *bhikkhuṇīs* taken together belonged to the brāhmaṇa caste.[3] Though in theory Buddhism refused to accept the relative superiority or inferiority of castes against each other, yet in practice a marked leaning to aristocracy seems to have lingered in early Buddhism.[4] It is for this reason that some scholars do not consider Gotama Buddha as a champion of the cause of lower classes, despite the fact that the Buddhist theory acknowledged the equal right of all males to be received in the *Saṃgha.*[5] It has been alleged that only occasionally the Buddhist texts show some lurking sympathy for the lower orders[6] and that a marked leaning to aristocracy (of all the three varieties, birth, brain and bullion) lingered in ancient Buddhism as an inheritance from the past.[7]

Though it cannot be denied that the all pervading influence of caste system had in fact affected Buddhist way of thinking, yet it cannot be denied that the Buddha threw the doors of his Saṃgha open to the lowliest of the low who could achieve the bliss of the nibbāna.[8] Buddhism made no distinction in the imparting of knowledge.[9] The Buddha argued that just as the king or the owner of the royal domain should not appropriate all revenues to himself, so also a brāhmaṇa or

---

1. *Ibid.* 146f.
2. B.G. Gokhale, "The Early Buddhist Ēlite," *JIH*, XLIII, Pt. II, 1965: 395.
3. *Ibid.* 395.
4. H. Oldenberg, *The Buddha*, reprint, Delhi, 1971: 155.
5. *Ibid.* 153f.
6. R.S. Sharma, *Op. Cit.*: 94.
7. H. Oldenberg, *Op. Cit.*: 155-59.
8. *Khattiyā brāhmaṇa vessā suddā caṇḍālapukkusā*
   Sabbe va soratā dantā sabbe va parinibbutā (J.IV.303).
9. That the members of the lower orders actually got into the Saṃgha is indicated by a quite a few instances. Mātaṅga, the son of a caṇḍāla, is said to have attained infinite bliss, which many khattiyas and brāhmaṇas could not attain (Sn.vv. 137 and 138) a monk is described as a former hawk-trainer (DPPN.I.174.) and two caṇḍāla as adopting the homeless state (J.IV.390-401). Nearly a dozen suddas and caṇḍālas are mentioned in the Pāli Tipiaka who reached positions of seniority within the Saṃgha(K.T.S. Sarao, *Op Cit.*: Appendix.IV.).

a samaṇa should not monopolize all knowledge to himself.[1] In the Buddhist view anybody could be a teacher irrespective of his caste and it is said that a teacher is always to be respected, be he a sudda, a caṇḍāla or a pukkusa.[2] It is typical of the Buddhist attitude that in a Jātaka story a brāhmaṇa loses the charm learnt from a caṇḍāla because of denying his teacher out of shame.[3] A Buddhist monk or a nun never made any distinction between people while begging for food and could approach any householder for a meal, or could eat at his house when invited by him.[4] Thus, it cannot be denied that Buddhism left lasting impact on the social organization in India.



---

1. D.I.226-230.
2. *Khattiya brāhmaṇa vessā suddā caṇḍāla pukkusā*
   yasmā dhammaṃ vijāneyya so hi tassa naruttamo.(J.IV.205).
3. J.IV.200ff.
4. Vin.III.184-85; IV.80, 177.

आचार्य शंकर का अद्वैत दर्शन और स्वामी विवेकानन्द

डॉ. एस.पी. दुबे
अध्यक्ष, अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्,
जबलपुर (म.प्र.)

आचार्य शंकर तथा स्वामी विवेकानन्द दोनों ही भारत के ही नहीं, वरन् विश्व के महान् विचारकों की कोटि में आते हैं। भारतीय चिंतन-परम्परा को सशक्त ढंग से आगे बढ़ाने में दोनों का अनुपम योगदान रहा है और दोनों ने परवर्त्ती चिंतन को दूर कर प्रभावित किया है। दोनों ब्रह्मचारी, यायावर, दिग्विजयी तथा अल्प-जीवी रहे, दोनों ने अद्वैत का प्रतिपादन और प्रचार-प्रसार किया। यहां हम दोनों के चिंतन को संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे तथा पायेंगे कि विवेकानन्द शंकर से बहुत प्रभावित थे तथा शांकर-वेदान्त को आधुनिक काल में लोकप्रिय बनाने में महती भूमिका का निर्वहन किये हैं। हम यह भी देखेंगे कि कुछ भेद होने के बावजूद दोनों में बहुत समानतायें हैं।

जैसा कि प्रायः सभी विचारकों का चिंतन अपनी परंपरा तथा देश-काल की उपज होता है, परंतु व्यक्ति-विशेष की मेधा के कारण यह निखर कर कालजयी तथा बहुजन-हिताय हो जाता है, शंकर और विवेकानन्द के संदर्भ में भी यह तथ्य लागू होता है। एक अत्यंत समृद्ध वैदिक परम्परा उन्हें उत्तराधिकार में प्राप्त थी। इसे उन्होंने आत्मसात् किया था। सातवीं और आठवीं शताब्दी के भारत की पृष्ठभूमि में यदि हम शंकर (ई. 788-820) परम्परानुसार आचार्य का जन्म वैशाख शुक्ल पंचमी युधिष्ठिर संवत् 2631, कल्यब्द 2593, ई.पू. 509 को हुआ था।) को देखें तो स्पष्ट होता है कि उस समय के आध्यात्मिक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के अनुरूप होते हुए भी उनकी रचनायें कालजयी हो गईं। वह युग शास्त्रीय और प्रारंभिक मध्ययुग के बीच का संक्रमण-काल था, बौद्ध-परम्परा का अवसान हो रहा था तथा पौराणिक धर्म-दर्शन का प्रभाव बढ़ रहा था। भक्ति एवं तंत्र, तर्क एवं कर्मकाण्ड का समानान्तर विकास हो रहा था। शंकर ने प्रवृत्ति-धर्म, सगुण और निर्गुण ब्रह्म, भक्त्यानुसारी कर्म और ज्ञान, तर्क एवं अनुभूति तथा व्यवहार और परमार्थ इन सबको समन्वित एवं समाहित कर एक ऐसे दर्शन को स्थापित की जो परवर्ती युगों में भी विकसित होता रहा है। उन्होंने *वेदान्त-सूत्र* तथा उपनिषदों को आधार बनाकर अद्वैत की स्थापना की एवं गौड़पाद को केन्द्रस्थ कर वेदान्त एवं बौद्ध परम्पराओं का समन्वय किया। साथ ही साथ मीमांसा के कर्मकाण्ड तथा सांख्य के प्रकृति-परिणामवाद का खण्डन कर ज्ञान-मार्ग से ब्रह्मात्मैक्य-बोध की आवश्यकता के साथ सच्चिदानन्द को परम तत्त्व के रूप में निरूपित किया। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए किसी सामाजिक अर्हता की आवश्यकता नहीं होती, निम्न जाति के लोग भी, जो वेदाध्ययन के लिए अपात्र माने गये हैं, स्मृति-ग्रन्थों के

आधार पर अध्यात्म का अनुसरण कर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। *मनीषा-पंचकम्* में तो वे एक कदम और आगे बढ़कर कहते हैं कि प्रपंचों के बीच दृढ़ प्रज्ञावान, चाहे वह चाण्डाल हो अथवा द्विज, मेरा गुरु है।[1]

मध्य-युग में धर्म एवं दर्शन का पूरे भारत में (तथा यूरोप में भी) घनिष्ट संबंध रहा। आचार्य शंकर प्रसिद्ध धर्म-सुधारक एवं प्रखर दार्शनिक दोनों ही थे। उन्होंने अपनी अद्वैतवादी अवधारणाओं को तर्क से पुष्ट किया। इसी आधार पर द्विविध सत्ता को मानकर जगत् को माया भी निरूपित किया। उन्होंने नैतिक आचार का भी विधान किया। पारिभाषिक रूप से दर्शन-शास्त्र में आनेवाली तीनों विधाओं - तत्त्वशास्त्र, ज्ञानमीमांसा तथा नीतिशास्त्र- के आधार पर अद्वैत का उन्होंने व्यवस्थित विवेचन किया। जड़-तत्व की विवेचना (अन्नमय कोश) से लेकर आनन्दमय ब्रह्म तक का पथ-प्रदर्शन किया। आरुणि उद्दालक के सृष्टि-विज्ञान (*छान्दोग्य* उप. 6/3), सांख्य के विकास-क्रम से लेकर याज्ञवल्क्य और गौड़पाद के चिंतन को शंकर ने आत्मसात् किया। न्याय तथा मीमांसा की तर्क-पद्धति, योग-दर्शन की साधना-पद्धति और योगाचार के विज्ञान की अवधारणा का भी समायोजन उनके दर्शन में मिलता है।

शंकर के दर्शन का अत्यंत संक्षेप में निर्वचन है : ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है, अन्य नहीं।[2] इनके अनुसार आत्मा कभी विषय नहीं हो सकता और सत् का अपलाप संभव नहीं। लोक-व्यवहार में नैसर्गिक परन्तु अनर्थ-हेतुक अध्यास के नाश तथा आत्मैकत्व का प्रतिपादन सभी वेदान्त (उपनिषद्) करते हैं, यह प्रदर्शित करना ही उनकी शारीरिक-मीमांसा का लक्ष्य है। वेदान्त के अध्ययन अथवा अद्वैत-तत्त्व के बोध हेतु कुछ विशेष करणीय नहीं है। परन्तु साधन-चतुष्टय इसके लिए उपयोगी है। वेदान्त-वाक्यों के पुष्पों को गुंफित कर अद्वैत की वे स्थापना करते हैं। महावाक्यों की अद्वैतपरक व्याख्या में वे तर्कपूर्वक लक्षणा का उपयोग करते हैं तथा अविद्या-निवृत्ति से मोक्ष हो जाता है, यह प्रतिपादित करते है।[3] श्रुति-विहित कर्म- श्रवण, मनन और निदिध्यासन- आत्म-बोध हेतु आवश्यक हैं यह उन्हें स्वीकार्य है।

शंकर की ज्ञानमीमांसा यथार्थ-परक है। इसी कारण वे बौद्ध-विज्ञानवाद का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार ज्ञान वस्तुतंत्र है, ब्रह्मज्ञान भी। परन्तु इसका अवसान अनुभूति में होता है, जहां त्रिपुटी-विलय हो जाता है।

---

1. जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरा या संविदुज्जृंभते
   या ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी।
   सैवाहं न च दृश्यवस्त्विति दृढप्रज्ञापि यस्यास्ति चे
   च्चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम।। - शंकर, *म.पं.* ।।1।।
2. ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।
   अनेन वेद्यं सच्छास्त्रमिति वेदानतडिंडिमः।। -शंकर, *ब्रह्मज्ञानावलीमाला*, 20
3. Dubey, S.P., "Hermeneutics in the Vedanta of Sankaracarya', in *Perspective of Sankara*, ed. by Balasubramanian and Bhattacharya, Govt. of India, New Delhi, 1989; pp 104-15.

आचार्य शंकर का *ब्रह्मसूत्र-भाष्य* उपलब्ध भाष्यों में सर्वाधिक प्राचीन है। बादरायण के सूत्रों पर शंकर-पूर्व के भाष्यों का उल्लेखमात्र मिलता है, यथा- बोधायन (ईसवी प्रथम शताब्दी), उपवर्ष एवं भर्तृप्रपंच के ग्रन्थ। शारीरिक-भाष्य में कुछ बात तो ऐसी अवश्य है जिसके कारण यह शताब्दियों से प्रभावी रूप से वरेण्य है। वेदान्त के परवर्ती आचार्यों, सुरेश्वर (*वार्त्तिक*), पद्मपाद (*पंचपादिका*), वाचस्पति (*भामती*), सर्वज्ञात्म (*संक्षेप शारीरक*), प्रकाशात्म (*विवरण*), अमलानन्द (*कल्पतरु*) तथा मधुसूदन सरस्वती (*संक्षेप शारीरिक व्याख्या*) जैसे अनेक आचार्यों ने सूत्र-भाष्य के चिंतन को आगे बढ़ाने में योगदान किया।

शंकर का युग भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग (गुप्त-वंश) के बाद का तथा दक्षिण में पल्लव तथा चोल साम्राज्यों के प्रभाव का समय था। इस समय उत्तर तथा दक्षिण की संस्कृतियों का समन्वय हो रहा था। संस्कृत को विद्वानों की भाषा के रूप में सारे भारत में मान्यता थी। यह देश की सांस्कृतिक एकता का आधार बनी। आचार्य ने इस पृष्ठभूमि में अपने ब्रह्मवाद का प्रतिपादन किया।

यहां यह उल्लेखनीय है कि आचार्य का दर्शन उत्तर भारत में 11वीं शताब्दी में संभवतया अधिक प्रचलित नहीं था। अल् बरूनी (ई. 1030 के लगभग)[1] के लेखन में वेदान्त या शंकर का उल्लेख नहीं है। संन्यासी गौड़ का उल्लेख आचार्य के परम गुरु गौड़पाद का संकेतक अवश्य हो सकता है। ऐसा लगता है कि सत्रहवीं शताब्दी तक अद्वैत वेदान्त एक दार्शनिक संप्रदाय के रूप में अवश्य माना जाता रहा, जैसा कि वृत्ति-टीका की परंपराओं से स्पष्ट है, परंतु जन-मानस में अधिक प्रचलित नहीं रहा।

अंग्रेजों के भारत आने पर न्याय तथा वेदान्त की ओर आकर्षण बढ़ा। यूरोप में उस समय तर्क एवं प्रत्ययवादी चिंतन प्रभावी हो रहे थे। उन दिनों बंगाल के प्रायः हर बड़े कस्बे में न्याय दर्शन के पंडित मिलते थे तथा पाठशालायें सुलभ हो गई थीं। बर्कले (1685-17530), काण्ट (1724-1804), फिक्टे (1762-1814), हेगल (1770-1831), शापेनहावर (1788-1860) जैसे विचारकों के आदर्शवादी चिंतन सत्ता के साथ थे। 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में शासकों को एक ऐसे दर्शन की आवश्यकता महसूस हुई जो एक नये समाज के विकास में योगदान दे सके, अर्थात् समानता और स्वतंत्रता की अवधारणाओं को पुष्ट कर सके। वेदान्त इस दृष्टि से उन्हें उपयोगी प्रतीत हुआ। तत्कालीन भारतीय विचारकों ने भी इससे सहमति व्यक्त की। राजा राम मोहन राय ने मोटे तौर पर रामानुज के विशिष्टाद्वैत को तथा विवेकानन्द के गुरु रामकृष्ण परमहंस ने अद्वैत को महत्वपूर्ण माना।

रामकृष्ण परमहंस को आचार्य शंकर तथा स्वामी विवेकानन्द के बीच सर्वाधिक महत्वपूर्ण कड़ी माना जा सकता है। ठाकुर अद्वैत वेदान्त और शाक्त-भक्ति दोनों ही परंपराओं के पोषक तथा

---

1. cf. *Al Baruni's India*, 2 Vols., tr. & ed. by E. Sachau, London, 1910.

समन्वयक रहे। उनका मत था कि माँ काली की कृपा से जीव अपने मूल स्वरूप (आत्मा) एवं ब्रह्मरूपता को प्राप्त होता है।

उपनिवेशवादी शासकों के विरुद्ध अप्रत्यक्ष रूप से विरोध व्यक्त करते हुए परमहंस ने सभी धर्मों की समानता का उद्घोष किया। इसका आधार उन्होंने शंकर के अद्वैत-चिंतन को बनाया। उनके अनुसार सभी धर्म मूलत: सत्य हैं तथा ईश्वर-प्राप्ति के विभिन्न साधन हैं। यह धारणा विदेशी शासकों की प्रसारवादी आस्था को चुनौती देने के साथ-साथ भारत के अंदर के विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के बीच विरोधी मान्यताओं की धार कम करती है। उनकी मान्यता रही कि यदि ईश्वर सर्व-व्यापी है तो सभी मनुष्यों को उसका दर्शन अवश्य होगा। विभिन्न संप्रदाय एक ही गंतव्य के सोपान हैं, गंतव्य तो परब्रह्म ही है। परब्रह्म ईश्वर रूप से माया के द्वारा जगत् की सृष्टि करता है, परंतु वह माया से बद्ध नहीं होता, जैसे विषधर स्वयं विष से प्रभावित नहीं होता है।[1]

परमहंस के जीवन को विवेकानन्द सभी जातियों के वेदों की जीवंत टीका मानते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में स्वामी विवेकानन्द (1863-1902) ने अद्वैत वेदान्त के आधार पर संभवत: पहली बार सामाजिक अवधारणाओं का विकास किया। रामकृष्ण ने सर्व-धर्म समभाव की बात की। विवेकानन्द ने सभी मनुष्यों (तथा जीवों) में समानता को रेखांकित किया तथा पशुओं को भोज्य माननेवाले मत का निषेध किया। सभी परमतत्त्व से एकाकार हैं तो भेद कैसा और क्यों? जब सभी व्यक्ति और राष्ट्र समान अधिकार पा लेंगे तभी वास्तविक विकास संभव है, उपनिवेशवाद के विरुद्ध यह विवेकानन्द का सिंहनाद था।

विवेकानन्द ने विश्व को 'सत्य' का संदेश दिया, या यों कहें कि उन्होंने दुनिया को सत्य का पाठ पढ़ाया। अपने भाषणों में उन्होंने स्पष्ट किया कि यह सत्य सभी धर्मों में समान रूप से पाया जाता है- प्रत्येक आत्मा मूलत: दिव्य है। इसी दिव्यता को अभिव्यक्त करना हमारा लक्ष्य है। यह हमारी आंतरिक और बाह्य प्रकृति के नियंत्रण से संभव है। इसे ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग, दर्शन- किसी एक से या सभी को सम्मिलित कर प्राप्त किया जा सकता है और मुक्त हुआ जा सकता है। यही धर्म-सर्वस्व है, ग्रन्थ, सिद्धान्त, मंदिर-मस्जिद, ये सब गौण हैं। उनकी सारी शिक्षाओं में यही बात बार-बार ध्वनित होती है। यही वेदान्त पर आधारित उनका सर्व-धर्म-समभाव का सिद्धान्त है।

स्वामी विवेकानन्द ने स्वयं को दार्शनिक नहीं माना था, कुछ नया कहने का दावा भी नहीं किया, परन्तु उन्होंने अपने को शंकर (शंकराचार्य) का अनुयायी अवश्य स्वीकार किया।[2] आचार्य के प्रमुख सिद्धान्तों के वे पोषक थे। ब्रह्म की आत्यंतिक सत्ता तथा जगत् की सापेक्ष सत्ता को उन्होंने स्वीकार किया। यह तत्त्व अनिर्वचनीय है, जिसे उपनिषद् 'नेति-नेति' कहते हैं। शंकर की

---

1. देखिये - स्वामी सारदानन्द, *श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग*, नागपुर, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ, 380
2. cf. *The Life of Vivekanand and The Universal Gospel*, p. 189.

तरह ही वे भी एक ब्रह्म को नाना रूपों में देखते हैं और जगत् को अध्यारोप मानते हैं। वे जगत् को समझाने के लिए रज्जु-सर्प का उदाहरण भी देते हैं। परन्तु माया को वे जगत् की पूर्ण व्याख्या में अनुपयुक्त पाते हैं।

स्वामी विवेकानन्द के दर्शन को नव्य-वेदान्त कहा जाता है। आधुनिक युग में अद्वैत वेदान्त को यथार्थ-परक रूप में प्रस्तुत करने के कारण ही इसे इस रूप से जाना जाता है। इसे नव्य-अद्वैत कहना अधिक समीचीन होगा। वस्तुत: शताब्दियों से अद्वैत की निषेधपरक व्याख्या होती आई है। उपनिषद्-दर्शन इसका मूल आधार रहा। दारा शिकोह (1615-1695) ने प्रमुख उपनिषदों का फारसी में अनुवाद कराया। इनका लैटिन अनुवाद अन्टेक्विल डुपेरान् ने किया। इससे शापेनहावर प्रभावित हुए। नीत्शे पर भी इनका प्रभाव पड़ा। इससे यूरोप में यह धारणा बनी कि वेदान्त जीवन और जगत् का निषेध करता है। इस अवधारणा को समाप्त करने का कार्य स्वामी रामतीर्थ, महर्षि अरविन्द, राधाकृष्णन् जैसे विचारकों ने किया। परन्तु विवेकानन्द का नाम इस कोटि में सर्वोपरि है।

स्वामी जी ने यह स्पष्ट किया कि अब समय आ गया है जब इस तत्त्व-बोध को व्यवहार में लाया जाय। अत: वेदान्त को सामान्य-जन के दैनन्दिन जीवन में उन्होंने प्रयुक्त किया। इसी कारण उनके दर्शन को व्यावहारिक-वेदान्त कहा जाता है। वे जीव को ब्रह्म का व्यावहारिक रूप मानते थे। जीव ज्ञाता है, कर्ता है, कर्म-फल-भोक्ता है। अपने वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है, परन्तु सत्य के ज्ञान की उपलब्धि से तत्काल मृत्यु नहीं आ जाती है। यह जीवन्मुक्ति की स्थिति होती है। जीवन्मुक्ति की स्थिति में आत्मा का पहिया थम जाता है परन्तु शरीर और मन के पहिये प्रारब्ध कर्मों के समाप्त होने तक चलते रहते हैं। मोक्ष को स्वामी जी शंकर की ही भांति 'प्राप्तस्य प्राप्ति:' मानते हैं। मोक्ष न तो संस्कार्य है, न प्राप्य। यह किसी महिला के गले के भूले हार के प्रत्यभिज्ञान की भांति है।

व्यावहारिक वेदान्त पर स्वामी जी ने नवंबर, 1896 में लंदन में चार व्याख्यान दिया था। इस सिद्धान्त पर विश्व का ध्यान मुख्यतया इन्हीं व्याख्यानों को कारण आकृष्ट हुआ था। अपने प्रथम व्याख्यान में ही स्वामी जी ने इस बात पर बल दिया कि वेदान्त को धर्म के रूप में अत्यंत व्यावहारिक होना है। इसे हमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उतारना होगा। इनके व्यावहारिक वेदान्त की विशेषता यह है कि इसमें अद्वैत वेदान्त के गूढ़ सिद्धान्तों तथा व्यक्ति और समाज की आवश्यकताओं में सामंजस्य बनाया गया है। नैतिकता इन दोनों पक्षों के बीच की कड़ी है। धर्मशास्त्रों के 'साधारण धर्म' को उन्होंने वेदान्त-सम्मत एवं व्यावहारिक बताया।

विवेकानन्द की धारणा है कि शंकर आत्मैकत्व स्थापित कर मोक्ष-प्राप्ति के साधन की विवेचना में प्राय: व्यस्त रहे। विवेकानन्द के अनुसार आचार्य ने वेदों तथा उपनिषदों की स्वर-लहरियों को पहचाना था तथा उनका संपूर्ण जीवन वेदोपनिषद् के सौन्दर्य को निखारने में

लगा। वे स्वयं उपनिषदों से बहुत प्रभावित थे तथा उनको बहुत महत्व देते थे।[1] उनके अनुसार उपनिषद् परंपरागत पूर्व और आधुनिक पश्चिम के मिलन-बिन्दु हैं। वे आचार्य की ही भांति उपनिषदों को अधिकाधिक उद्धृत करते थे। परन्तु उन्होंने यह भी कहा कि आचार्य का चिंतन निवृत्ति-परक है तथा उनका दर्शन पहाड़ों और जंगलों में ही छूट गया। स्वामी जी उसी दर्शन को उन स्थानों से बाहर लाकर व्यावहारिक जगत् एवं समाज में फैलाने तथा लोकोपयोगी रूप देने के लिए आये हैं। उनके अनुसार शंकर सामान्य-जन से तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाये। उनकी प्रज्ञा विराट् थी, वे महाप्रज्ञ थे, परन्तु विशाल मानव-सेवा प्रशस्त है। वे दलित समुदाय के साथी थे और उनकी दृढ़ धारणा थी कि इन्हें साथ लिए बिना उपनिवेशवाद समाप्त नहीं होगा एवं भारत का नव-निर्माण भी नहीं हो सकेगा। अद्वैत की ही भाव-भूमि में उन्होंने यह कहा कि मैं भारतीय हूँ तथा प्रत्येक भारतीय मेरा भाई है।

भारतीयता के साथ-साथ विश्व-बंधुत्व को भी स्वामी जी ने महत्वपूर्ण माना। जब परम तत्त्व एक है और हम उससे अभिन्न हैं तो सभी मनुष्य दिव्य हैं और परस्पर भेद को स्थान नहीं है। उन्होंने कहा : 'मनुष्य विश्व में सभी जगह मनुष्य ही है।'[2]

ठाकुर के संदेश को आगे बढ़ाते हुए विवेकानन्द ने सभी मनुष्यों में ईश्वर-साक्षात्कार का संदेश दिया तथा माना कि मनुष्य की सेवा ईश्वर-सेवा है। जीवमात्र पर दया का उनका संदेश उनके निम्नलिखित पद्य से अभिव्यक्त होता है:

बहुरूपे सम्मुखे तोमार छाड़ि कोथा खूँजिछो ईश्वर।
जीवे प्रेम करे जेइ जन सेइ जन सेबिछे ईश्वर॥

(अर्थात्, अनेक रूपों में तुम्हारे सामने हैं, उन्हें छोड़कर कहाँ ईश्वर को खोज रहे हो? जीवों से जो व्यक्ति प्रेम करता है वही ईश्वर की सेवा करता है।)

यह एक सुखद संयोग ही माना जा सकता है कि मध्य-प्रदेश आचार्य शंकर और स्वामी विवेकानन्द दोनों के लिए विशेषतया उत्प्रेरक रहा। संभवतः कोचीन के निकट अपने ननिहाल (तिरुपुनिथुरा, न कि पितृ-गृह 'कालडी') में उत्पन्न बालक को नर्मदा-तट पर तीन वर्षों तक योग की दीक्षा देने वाले गुरु गोविन्दपाद ने उन्हें बदरी क्षेत्र जाकर व्यास के सूत्रों पर भाष्य लिखने को प्रेरित किया। बड़ौदा से मुंबई की यात्रा करते समय खण्डवा में अधिवक्ता श्री हरिदास चट्टोपाध्याय के घर स्वामी जी तीन सप्ताह रहे। शिकागो धर्म-सभा में जाने का उन्होंने अपना मन यहीं बनाया। हरिदास बाबू से उन्होंने कहा था: 'यदि कोई जाने-आने का खर्चा दे तो वहां जाने में कोई आपत्ति नहीं होगी।' और यह हम सबको ज्ञात है कि 11 दिसंबर, 1893 को शिकागो की धर्म-सभा में उनका व्याख्यान कितना ऐतिहासिक रहा।

---

1. cf. Dubey S.P., 'The Indian Background of Swami Vivekananda', in Swami Vivekananda - A *Hundred Years Since Chicago*, Ramakrishna Math, Belur, 1994; pp. 301-7.
2. *Complete Works of Vivekananda,* Mayavati, Almora, Vol. IX, 1, p. 386.

आचार्य शंकर ने उज्जयिनी में लगभग तीन मास का प्रवास किया था। उस समय उज्जैन में कापालिक मत का विशेष प्रचार था। आनन्दगिरि (*शंकरदिग्विजय*) के अनुसार शंकर ने यहां उन्मत्त भैरव को शास्त्रार्थ में परास्त किया।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य शंकर कश्मीर में अपनी दिग्विजय यात्रा के अवसर पर कुछ दिन रुके थे। महाकवि बिल्हण की गर्वोक्ति है कि कविता और केसर के अंकुर कश्मीर के शारदीय क्षेत्र में ही उगते हैं; अन्यत्र नहीं। श्रीनगर के निकट शारदा-मन्दिर का सर्वज्ञपीठ उस युग में देश का सर्वाधिक प्रतिष्ठित ज्ञान-पीठ था जहां दाक्षिणात्य-पण्डितों को छोड़कर सभी प्रदेशों के आचार्य विद्यमान थे। मंदिरों के प्रवेशद्वारों पर पंडित-समूह नवागन्तुकों से शास्त्रार्थ करता था। सर्वज्ञपीठ पर आरोहरण का वही पात्र होता था जो सभी पंडितों को परास्त कर पंडित-मण्डली की सहमति से मंदिर में प्रविष्ट हो। शारदाकुण्ड के जल का आचमन कर आचार्य शंकर जब एक द्वार पर गये तो कणाद-मतावलम्वी वैशेषिक विद्वान् ने उनसे पदार्थ-ज्ञान संबंधी प्रश्न किया। ''दो परमाणुओं के मिलने का क्या कारण है?'' इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए भाष्यकार ने बताया कि द्वित्व संख्या ही द्वयणुक का कारण है। गौतम मतावलम्वी पंडित द्वारा न्याय तथा वैशेषिक मतों में मुक्तावस्था में भेद-निरूपरण संबंधी प्रश्न पर आचार्य ने स्पष्ट किया कि काणादीय मुक्तात्मा को असंग एवं निष्क्रिय मानते हैं जबकि नैयायिक इसे आनन्दमय। बौद्ध विज्ञान-वादियों के साथ बाह्यानुमेयवाद पर शास्त्रार्थ में आचार्य ने विज्ञानों की वाह्यात्मकता या आलय-विज्ञान की अपरिवर्तनशीलता सिद्ध कर उन्हें वेदान्त-मतावलम्वी बताया। माधयमिकों की स्वभाव-शून्यता का भी आचार्य ने खण्डन कर यह सिद्ध किया कि यदि शून्य को सत् माना जाय तो वह निर्गुण ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं।

सांख्य-योग, मीमांसा और आर्हतादि दर्शनों के अन्य पंडितों को भी पराभूत कर आचार्य शंकर जब मंदिर के दक्षिण-द्वार से प्रवेश कर सर्वज्ञ-पीठ की ओर बढ़े तब आकाशवाणी हुई, ''इस पीठ पर अधिरोहरण के लिए सर्वज्ञता ही नहीं, सच्चरित्रता भी आवश्यकता है। मृतक-शरीर में प्रवेश कर कामिनियों के संग रमण करने वाले ब्रह्मचारी को इसकी पात्रता कैसे?'' आचार्य स्तंभित होकर बोले, ''मैंने इस शरीर से कोई पातक नहीं किया है। देहान्तर से कामकला सीखी थी, वह भी शास्त्रार्थ के लिए, ब्रह्मात्मैक्य प्रतिपादन के लिए। फिर अनासक्तभाव से यदि इसी यति-देह से भोग-विलास किया होता तो भी दोषी नहीं रहता, जैसे अमना-कृष्ण का गोपियों के साथ रास।'' सरस्वती ने शंकर की युक्ति स्वीकार कर सर्वज्ञपीठ पर आरोहण की अनुज्ञा प्रदान की।

स्वामी विवेकानन्द के चिंतन में समाज-दर्शन का पक्ष बहुत प्रबल था। उन्होंने भारत की जाति-प्रथा तथा पश्चिम के वर्ग-भेद को अनुचित माना तथा यह आग्रह किया कि किसी को भी कोई विशेषाधिकार नहीं होना चाहिये। नारी-सम्मान और नारी-शिक्षा के वे बड़े हिमायती थे। इस प्रसंग में वे मनु के प्रशंसक रहे। सीता को वे नारी-जाति का आदर्श बखानते थकते नहीं थे।

सामाजिक असमानता के विरुद्ध स्वामी जी की आवाज में चारों युगों तथा वर्णों को समन्वित करने की चुनौती थी। इस समन्वय के आधार पर वे एक नये समाज की संरचना का स्वप्न चरितार्थ करना चाहते थे। उनकी प्रबल धारणा थी कि भविष्य में चतुर्थ वर्ण का शासन होगा। उनके अनुसार भावी दिनों में एक प्रकार का समाजवाद अपरिहार्य है। हाँ, इसके लिए शिक्षा आवश्यक है। शिक्षा उनके अनुसार मनुष्य के भीतर जो पूर्णता स्वतः ही विराजमान है, उसके विकास का नाम है।

विवेकानन्द ने शंकर के दर्शन तथा समसामयिक वैज्ञानिक मनोदशा पर आधारित मानवतावादी समाज-दर्शन को विकसित किया जो उनके युग की आवश्कता थी। यह एक सुखद आश्चर्य है कि विवेकानन्द को विश्व के पूँजीवादी देश जितना स्वीकार करते हैं उतना ही साम्यवादी देश भी मानते हैं। यह भी एक विलक्षण तथ्य है कि वे परंपरावादी (सांप्रदायिक ?) एवं उदारवादी (संप्रदाय-निरपेक्ष) दोनों ही खेमों में प्रिय हैं। गुरुदेव रवीन्द्र उन्हें भारत वर्ष की साधना को पश्चिम में और पश्चिम की साधना को भारतवर्ष में लेने और देने की मार्ग-रचना में जीवन-उत्सर्ग करने वाला कर्मयोगी मानते थे।[1] जवाहरलाल नेहरू उन्हें प्राचीन तथा अर्वाचीन का सेतु मानते थे तथा उनके 'अभय' के संदेश को भारत के लिए बहुत महत्वपूर्ण।

विवेकानन्द वस्तुतः एक अग्रदूत रहे हैं। उनका वास्तविक महत्त्व भविष्य में अधिक समझ में आयेगा क्योंकि अद्वैत-दृष्टि का कोई विकल्प नहीं है, इससे पलायन संभव नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकर और विवेकानन्द दोनों ने अद्वैत-चिंतन की धारा के भारत और विश्व में अनवरत प्रवाहित होने में अनुपम योगदान किया है। दोनों ने ही आज के तथा आने वाले दिनों के मानव-समाज के लिए अत्यंत सार्थक दर्शन का प्रतिपादन किया है।



---

1. देखिये - *'संदीपन'*, बेलूड़, अंक-2, 1961

चमत्कारचर्चा

प्रो॰ रामप्रतापो वेदालङ्कारः

चमत्कारेण सम्पृक्तश्चमत्करणचञ्चुरः।
स चकास्ति चमत्कर्ता चण्डश्चण्डांशुवत् प्रभुः॥1॥

इदं सर्वं खलु ब्रह्म यदस्तीह चराचरम्।
चमत्कारस्वरूपं तद् विश्वमेवं प्रतीयते॥2॥

योऽसौ चकचको ब्रह्मा चाकचक्येन भासितः।
चमत्कारमयीं सृष्टिं सृष्ट्वासौ शोभतेतराम्॥3॥

देवानसौ परित्रातुं नाशयितुं च दानवान्।
चमत्कारकरं चक्रं चक्री करे दधाति सः॥4॥

अयं कोऽपि चमत्कारो महेशेन प्रदर्शितः।
चन्द्रं शिरसि धत्तेऽसौ विषं कण्ठे नियच्छति॥5॥

या तिष्ठति परा शक्तिः सर्वभूतेषु पावनी।
चमत्कारबलं प्राप्य जाता जगन्नियामिका॥6॥

मायां विना यथा ब्रह्म कर्तुं किमपि नो क्षमम्।
तथा न कुरुते किञ्चिच्चमत्कारं विना विभुः॥7॥

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति चमत्कारे चराचराः।
चमत्कारोद्भवं सर्वं चमत्कारे विलीयते॥8॥

सकलेष्वेव देवेषु चमत्कारोऽवतिष्ठते।
अवाप्यास्मिन् स्थितिं ते ऽपि विद्योतन्ते चकासिताः॥9॥

तैस्तै दिव्यै र्गुणैः सार्धं चमत्कारगुणोऽपि सः।
देवेषु परमेशे च तिष्ठति समवायतः॥10॥

स्वीक्रियेत न चेत्तेषु चमत्कारस्य संस्थितिः।
सन्दिग्धा भवेत् तेषां सदादिगुणसम्पदा॥11॥

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकस्तत्रानुयोक्तव्यस्तादृशार्थविचारणे॥12॥

चाकचक्यं विधत्ते यश्चेतस्सु वासनावताम्।
चमतो हेतुरसावुक्तश्चमत्काराभिधानवान्॥13॥

पर्यायाश्चमतः प्रोक्ताः कान्त्याभाचक्यदीप्तयः।
चमत्कारोऽस्त्ययं लोके काव्ये नाट्ये च दर्शने॥14॥

पुरुषोऽस्ति चमत्कारः प्रकृतिश्च चमत्कृतिः।
कुरुतस्तौ चमत्कारं कृत्वा सर्गमनेकधा॥15॥

विद्यते यश्चमत्कारश्चमत्कारत्वजातिमान्।
लक्ष्यतेऽसौ तु सर्वेषु चमत्कारिषु वस्तुषु॥16॥

चमत्कारत्ववत्त्वं यच्चमत्कारिणि संस्थितम्।
तद्धि सर्वगता जातिः पदार्थोऽस्त्यथवा पृथक्॥17॥

चितिरूपश्चमत्कारः स्वत एव प्रकाशते।
चित्तं दीपयति क्षिप्रं कृष्णमेघं तडिद् यथा॥18॥

विस्मयोऽसौ चमत्कारश्चमत्कारो रसोऽद्भुतः।
चमत्कारात् प्रजायन्ते चमत्कारिरसा इमे॥19॥

चमत्कारात्मके काव्ये तदङ्गानि रसादयः।
अङ्गीभूयोपकुर्वन्ति पुष्णन्ति तं च सर्वदा॥20॥

रसे सारश्चमत्कारो रीतौ सारश्चमत्कृतिः।
ध्वनौ सारश्चमत्कारः सोऽलङ्कारेऽपि वर्तते॥21॥

रससारश्चमत्कारस्तं विना न रसो रसः।
स सारस्तु ध्वनेश्चापि तं विना न ध्वनि र्ध्वनिः॥22॥

न तिष्ठन्ति विना तेन गुणालङ्काररीतयः।
एवमस्य मता काव्ये नाट्ये चावश्यिकी स्थितिः॥23॥

औचित्यं वृत्तिरीती ते ध्वनिरसौ रसश्च सः।
चमत्कारं हि सेवन्ते मन्त्रिणो नृपतिं यथा॥24॥

यथा सप्ताङ्गराज्ये तु राजैव राजतेतराम्।
तथा मध्ये रसादीनां चमत्कारो विशिष्यिते॥25॥

जन्यतेऽसौ चमत्कारस्त्वलङ्कारसादिभिः।
जन्यजनकभावो वै तन्मध्ये सुप्रतिष्ठितः॥26॥

जनयति रसादीन् स तस्माज्जनक उच्यते।
जन्यजनकभावोऽयं विपरीतः प्रकीर्तितः॥27॥

चिदात्मकं हि चैतन्यं चमत्करणमुच्यते।
नानारूपाणि बिभ्रत् तत् सर्वभूतेष्ववस्थितम्॥28॥

आत्मसाक्षात् कृतिः प्रोक्ता चिदाह्लादस्य चर्वणा।
निर्विघ्न एव आस्वादो रसनात्मा प्रकीर्तितः॥29॥

अद्भुतत्वं नवीनत्वं चाकचक्यं विमोहनम्।
दिव्यत्वालौकिकत्वे च नैर्मल्यं नित्यता तथा॥30॥

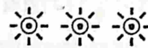
केवलत्वमनन्यत्वं सच्चिदानन्दरूपता।
स्फुरता स्फारता दीप्तिश्चमत्कारगुणा इमे॥31॥

चमत्कारमयं सर्वं लोके यदिह वर्तते।
दर्शं दर्शं हि तत्सर्वं विस्मयं यान्ति मानवाः॥32॥

अपायात्स सदा पायाच्चमत्कारोऽखिलं जगत्।
धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धि र्भवेन्नृणाम्॥33॥

चमत्कारे रति र्भूयाच्चमत्कारे मतिर्भवेत्।
प्रसीदतु चमत्कारः सर्वदिक्षु स तिष्ठतु॥34॥

चमत्कारस्य चर्चेयं यथाबुद्धि कृता मया।
चमत्कारप्रतिष्ठायै सन्तुष्ट्यै विदुषां तथा॥35॥



पातञ्जले महाभाष्ये द्रव्यगुणविमर्शः

डा० भीमसिंहो वेदालङ्कारः

व्याकरणमहाभाष्यकारो भगवान् पतञ्जलिर्द्रव्यगुणयोर्विषये द्वेधा सिद्धान्तं व्यवस्थापयामास। गुणेभ्यो गुणसमुदायाद् वाऽतिरिक्तं पृथग्भूतमन्यद् हि द्रव्यम्–इत्येकः सिद्धान्तः। तच्च द्रव्यं गुणानां क्रियाणां चाश्रयः सर्वत्र समवायिकारणं सर्वैरनुभूयते। गुणास्तु सर्वत्रासमवायिकारणान्येव। नैयायिकादयोऽपि अवयवावयविनोः, गुणगुणिनोः जातिव्यक्त्योः क्रियाक्रियावतोश्च परस्परं समवायसम्बन्धेनायुतसिद्धयोरपि सतोरवयवादिभ्योऽतिरिक्तान्यवयवादीनि सन्तीति प्रतिपन्नाः। तदुक्तं न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याम्–

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः[1]॥ इति

गुणादिभ्यो द्रव्यस्यातिरिक्तत्वे वैशेषिकसूत्रमपि–

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्।[2] इति।

द्रव्यविषयादस्मादुक्तात् सिद्धान्तादपरः सिद्धान्तः - गुणेभ्यो गुणसमुदायाद् वाऽतिरिक्तं नास्ति किञ्चिद् द्रव्यं नाम। गुणसमुदायमेव प्रत्यक्षीभूतं द्रव्यमित्युपाचरन्ति मनीषिणः। यथोक्तं योगसूत्रव्यासभाष्ये– "अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदायो द्रव्यमिति पतञ्जलिः।[3]" अअयुतसिद्धानामपृथग्भूतानां समुदायानां ये अवयवाः, तेषां भेदेनानुगतः समन्वितो यस्तेषामेवावयवानां समुदायः समूहः, तद् द्रव्यं भवति, न तु गुणसमुदायातिरिक्तं किञ्चिद् द्रव्यमस्तीति पतञ्जलिर्मन्यत इति सूत्रार्थः।

तत्र पूर्वं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं प्रतिपादयन्नाह भगवान् भाष्यकारः–"किं पुनर्द्रव्यम्? के पुनर्गुणाः? शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा गुणाः। ततोऽन्यद् द्रव्यम्। किं पुनरन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यमिति? आहोस्विदनन्यत्?

---

1. विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यप्रणीता न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पं. ढुण्डिराजशास्त्रिसम्पादिता, विद्याविलासप्रेसवाराणसीतः 1925 ईशवीयाब्दे प्रकाशिता, प्रथमं संस्करणम्, प्रत्यक्षखण्डे कारिका सं. 11, पृ. 19
2. वैशेषिकदर्शनम्, उदयवीरशास्त्रिसम्पादितम्, विरजानन्द-वैदिक-संस्थान-गाजियाबादतः 1972 ईशवीयाब्दे प्रकाशितम्, प्रथमं संस्करणम्, सूत्रसं. 1.1.15, पृ. 31
3. द्र. - तत्त्ववैशारदीयोगवार्तिकविभूषितव्यासभाष्यसमेतं पातञ्जलयोगदर्शनम्, नारायणमिश्रेण सम्पादितम्, भारतीयविद्याप्रकाशनवाराणसीतः 1971 ईशवीयाब्दे प्रकाशितम्, प्रथमं संस्करणम्, पृ. 365 - "तन्मात्रं भूतकारणम्। तस्यैकोऽवयवः परमाणुः सामान्यविशेषात्माऽयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदाय इत्येवं सर्वतन्मात्राण्येतत् तृतीयम्।"

गुणस्यायं भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशं कुर्वन् ख्यापयति यदन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यमिति।[1] अयमाचार्यो वार्त्तिककारो "यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशं करोति, तस्य गुणस्याभिधाने त्वतलौ प्रत्ययौ भवतः[2]" इति सूत्रार्थे गुणादतिरिक्तं द्रव्यं सिध्यति।

ततो गुणसमुदायमेव द्रव्यं मन्वानः पर्य्यनुङ्क्ते–"अनन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम्। न ह्यन्यदुपलभ्यते। पशोः खल्वपि विशसितस्य पर्णशते न्यस्तस्य नान्यच्छब्दादिभ्य उपलभ्यते[3]" इति। विशसितस्य पशोः गवादेः पर्णशते न्यस्तस्य बहुधा विभक्तस्य शब्दादिभ्योऽन्यद् नोपलभ्यते, तेन शब्दादिगुणसमुदाय एव द्रव्यम्, न ततोऽन्यदित्यर्थः। अनन्यद् अभिन्नमिति यावत्। न हि रूपादिव्यतिरेकेण द्रव्यं प्रत्यक्षेणोपलभ्यते, रूपादिसन्निवेशमात्रे घटादिव्यवहारात्। यद् वस्तु भवान् द्रव्यमिति मन्यते, तद् रूपादिगुणसमवेतमेवाक्षिलक्षी भवति, न ततोऽन्यत्। तस्माद् गुणसमुदाय एव द्रव्यं मन्यताम्, लघुत्वात्। अतिरिक्तद्रव्यस्य तन्नाशस्य च कल्पनापेक्षया रूपादिगुणसमुदाय एव द्रव्यमस्तु, न ततोऽन्यदित्यर्थः।

ततो गुणातिरिक्तद्रव्यवादी कथयति–"अन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम्। तत्त्वनुमानगम्यत्, तद्यथा– ओषधिवनस्पतीनां वृद्धिह्रासौ। ज्योतिषां गतिरिति। कोऽसावनुमानः। इह समाने वर्ष्मणि परिणाहे च अन्यत् तुलाग्रं भवति लोहस्य, अन्यत् कार्पासानाम्। यत्कृतो विशेषः, तद् द्रव्यम्। तथा कश्चित् कार्पासादिर्लम्ब्यमानोऽपि न छिनत्ति। कश्चित् खड्गादिः स्पृशन्नेव छिनत्ति। यत्कृतो विशेषस्तद् द्रव्यम्। तथा कश्चिदेकेनैव प्रहारेण व्यपवर्गभेदं करोति। कश्चित् द्वाभ्यामपि न करोति। यत्कृतो विशेषस्तद्द्रव्यम्[4]" इति। अश्वादीनां गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यसूर्यादिज्योतिषां देशान्तरप्राप्त्या गत्यनुमानं भवति। वर्ष्म उच्छ्रायः। परिणाहो विस्तारः। लोहकार्पासयोस्तुलाग्रस्यान्यथात्वं नामोन्नामलक्षणं गुरुत्वभेदाद् भवति। कार्पासेषु तादृशं गुरुत्वं नास्ति। गुरुत्वस्य च गुणस्य समवायिकारणं द्रव्यमिति रूपादिगुणसमुदायातिरिक्तं द्रव्यं सिध्यति। यत्कृतो विशेषः, तद्द्रव्यमिति स्पष्टमेव।

सामान्यतो दृष्टेनाप्यनुमानेन गुणसमूहातिरिक्तस्य द्रव्यस्य सिद्धिर्भवति। तथा हि–द्रव्यं गुणसमूहादन्यत्, विशेषवत्वात्। यद् यतो विशेषवत्, तत् ततोऽन्यत्। यथा लोहकार्पासे परस्परस्मात्। यदि गुणसमुदाय एव द्रव्यं स्यात्, तर्हि उच्छ्रायविस्तारयोः साम्याद् लोहकार्पासयोरेकत्वमापद्येत। तेन च तुलाग्रादिविशेषानुपपत्तिः स्पष्टैव।

इतोऽपि "गुणातिरिक्तं द्रव्यम्" इति साधयन् भाष्यकारः पुनराह–"अथवा यस्य गुणान्तरेष्वपि प्रादुर्भवत्सु तत्त्वं न विहन्यते, तद् द्रव्यम्। किं पुनस्तत्त्वम्? तद्भावस्तत्त्वम्। तद्यथा–आमलकादीनां फलानां रक्तादयः पीतादयश्च गुणाः प्रादुर्भवन्ति, अमलकं बदरमित्येव भवति। अन्वर्थं खल्वपि

1. पतञ्जलिमुनिप्रणीतं महाभाष्यम् (महा.) कीलहार्नसम्पादितम्, भाण्डारकर - ओरियण्टल-रिसर्ज-इंस्टीच्यूट्-पूनातः 1962 ईशवीयाब्दे प्रकाशितम्, तृतीयं संस्करणम्, भा. 2, सू. 5.1.119 पृ. 366
2. द्र. - तत्रैव वार्तिकम् - "सिद्धं तु यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलौ।"
3. तत्रैव, पृ. 366।
4. तत्रैव, पृ. 366

निर्वचनम्–"गुणसंद्रावो द्रव्यम्[1]" इति। अयम्भावो यदि रूपादिगुणालम्बनेनैवामलकादिबुद्धिः स्यात्, तदा पूर्वरूपादिविनाशात् पररूपादिप्रादुर्भावाच्च तदेवेदमामलकमिति प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययो नोपपद्येत। अस्ति च भिन्नाकारबुद्ध्युत्पत्तिः। तेन मन्यामहे–रूपाद्यतिरिक्तं रूपाद्याश्रयश्च द्रव्यमिति। द्रव्यशब्दस्य गुणसंद्रावो द्रव्यम् इति निर्वचनं चाप्यन्वर्थम्, अर्थानुगतं भवति। संद्रूयते संगम्यते आश्रीयते इति संद्रावः। गुणानां संद्रावो गुणसंद्रावः, गुणानामाश्रय इत्यर्थः। एतावता भाष्यसन्दर्भेण द्रव्यस्य गुणसमुदायातिरिक्तत्वं पृथक्त्वं चायुतसिद्धस्यापि सतः साधितं भवति।

परन्तु 'सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्[2]' इति न्यायेनेदानीं भाष्यकारो रूपादिगुणसमुदायमेव द्रव्यं मन्यमानः पक्षान्तरं व्यवस्थापयितुं 'सरूपसूत्रे', 'स्त्रियाम्' इति सूत्रे च प्राह–"तस्मान्न वैयाकरणैः शक्यं लौकिकं लिङ्गमास्थातुम्। अवश्यं च कश्चित् स्वकृतान्तः आस्थेयः। कोऽसौ स्वकृतान्तः? संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्तः। संस्त्यानं तिरोभावः, अपचयो वा। प्रसवः प्रवृत्तिरुपचयो वा। कस्य पुनः संस्त्यानं स्त्री, प्रवृत्तिर्वा पुमान्? गुणानाम्। केषाम्। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाम्। सर्वाश्च पुनर्मूर्तय एवमात्मिकाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवत्यः। यत्राल्पीयांसो गुणाः, तत्रावरतस्त्रयः शब्दः, स्पर्शः, रूपमिति। रसगन्धौ न सर्वत्र, वाय्वाकाशयोरभावादिति[3]"। भाष्यस्यास्य प्रदीपकारः श्रीकैयट इत्थमर्थं विवृणोति–"सत्वरजस्तमांसि गुणाः। तत्परिणामरूपाश्च तदात्मका एव शब्दस्पर्शादयः पञ्चगुणाः। तत्सङ्घातरूपं घटादि, न तु तद्द्रव्यातिरिक्तमवयविद्रव्यमस्तीति सांख्यानां सिद्धान्तः।[4]"

अत्र 'गुणानाम्' इति ब्रुवन् भाष्यकारोऽपि सांख्यसिद्धान्तमेवाङ्गीकरोतीति विज्ञायते। उद्द्योतकारो नागेशभट्टः कैयटोक्तमर्थमनुसरन् विस्तरशो गुणानां कर्तृत्वं प्रतिपादयति।[5] रूपादीनां गुणानां संस्त्यानविवक्षायां स्त्री। प्रसवविवक्षायां च पुमान्। एवं च गुणा एव द्रव्यम्, न तु ततः पृथक् किञ्चिद् द्रव्यं नामास्ति। सर्वस्य जगतः सुखदुःखमोहान्वयात् तत्कारणत्वेन सत्त्वरजस्तमांसि परिकल्प्यन्ते। प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका महच्छब्दवाच्यबुद्धिरूपेण परिणमते। महदहङ्कारात्मना, अहङ्कारस्य गन्धरसरूप–

---

1. तत्रैव, पृ. 366
2. तत्रैव, भा. 1 सू. 2.1.58, पृ. 400
3. तत्रैव भा. 1 सू. 1.2.64, पृ. 246; भा. 2 सू. 4.1.3, पृ. 197-98
4. द्र. – प्रदीपोद्द्योतसहितं महाभाष्यम्, गुरुप्रसादशास्त्रिसम्पादितम्, राजस्थानसंस्कृतकालेजग्रन्थमालावनारसतः 193। ईशवीयाब्दे प्रकाशितम्, प्रथमं संस्करणम्, पृ. 23
5. तत्रैव, पृ. 23, "भाष्ये कस्य पुनरिति जातावेकवचनम्, तत्त्वेत्यादि – सर्वस्य जगतः सुखदुःखमोहान्वयात् तत्कारणत्वेन सत्त्वादीनि परिकल्प्यन्ते। प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका महच्छब्दवाच्यबुद्धिरूपेण परिणमते। महत् – अहङ्कारात्मना। अहंकारस्य गन्धरसरूपस्पर्शशब्दात्मकपञ्चतन्मात्राः, दशेन्द्रियाणि, मनश्च परिणामः। अत एव सत्त्वाद्यात्मकाः शब्दादयश्च पृथिव्याद्यात्मना परिणमन्ते। तत्र पञ्चानां पृथिवी, चतुर्णामापः, त्रयाणां तेजः, द्वयोर्वायुः, एकस्य गगनम्। एवं प्रकृतिः सर्वरूपा पुरुषभोगार्था। पुरुषश्च न प्रकृतिः, नापि विकृतिः। केवलचैतन्यरूपोऽपरिणामी शुद्ध इति सांख्यसिद्धान्तः।"

स्पर्शशब्दात्मकपञ्चतन्मात्रा दशेन्द्रियाणि मनश्च परिणामः। सत्त्वाद्यात्मकाः शब्दादयश्च गुणाः पृथिवीजलाद्यात्मना परिणमन्ते। तत्र पञ्चानां गन्धरसवर्जितानां त्रयाणां वह्निः परिणामः। स्पर्शशब्दयोर्वायुः परिणामः। अवशिष्टस्य शब्दस्याकाशः परिणामः।

एवं शब्दादिगुणसंघातरूपमेव पृथिव्यादिद्रव्यं गुणेभ्यः पृथक् सत्तां नार्हति। किं बहुना, नागेशो हि "तस्य भावस्त्वतलौ" इति सूत्रभाष्ये साधितं गुणसमुदायातिरिक्तं द्रव्यत्वमपि चिखण्डयिषुराह– "एवं हि रूपादिसमवायिकारणायैव द्रव्यसिद्धौ तत्त्वनुमानगम्यमिति वदतो भाष्यकारस्यानुमानपर्यन्तधावनमपि व्यर्थतामापद्यते। गुणातिरिक्तस्यैकस्य गुरुत्वाश्रयस्याभावेऽपि नामोन्नामलक्षणो विशेषोऽनेकगुरुत्वैरेव दृष्टः। गुरुत्वगुणसमूहो यावान् न्यूनो वाऽधिको वा भविष्यति, तावानेव नामोन्नाहलक्षणः परिणामविशेषः फलिष्यति। तत्र गुरुत्वातिरिक्तद्रव्यकारणेन किं कार्यम्? अतिरिक्तद्रव्यस्वीकारे पटादौ सूत्रादिभ्योऽधिक-गुरुत्वाद्युपलम्भापत्तिः स्यात्। तस्माद् "यत्कृतो विशेष" इति भाष्यस्य कार्पासादधिकगुरुत्वसमूहकृतो विशेषः, तत्समूहो द्रव्यमित्यक्षरार्थ उन्नेयः। एवं च तुल्यन्यायाद् रूपादिसमूह एव द्रव्यम्। प्रत्येकं च गुणत्वमिति द्रव्यगुणयोर्भेदोऽपि सिध्यति। तथा चायुतसिद्धरूपादिपरिणामरूपावयवानुगतः समूहो द्रव्यमभ्युपेयम्। अतो वनोदेर्न द्रव्यत्वम्। वृक्षसमूहस्यैव वनत्वात्। हस्तपादाद्यवयवसमूहस्यैव शरीरत्वात्" इति।[1]

"स्त्रियाम्" इति सूत्रभाष्ये स्पष्टमकष्टमेवाभाणीयं कल्याणी वाणी भगवता भाष्यकारेण– "द्रव्ये च भवतः कः सम्प्रत्ययः? गुणसमुदायो द्रव्यमिति।[2]" "तपरस्तत्कालस्य" इति सूत्रभाष्येऽपि "कं प्रत्यवयवो गुणः? समुदायम्[3]" इति वदता गुणसमुदायं प्रत्येव गुणस्यावयवत्वं प्रदर्शितम्, न तु द्रव्यं प्रत्यवयवो गुण इत्युक्तम्। इत्थं भाष्यस्य साधीयः पर्यालोचनेन द्रव्यगुणयोः परस्परं भेदाभेदौ अन्यत्वमनन्यत्वं वोभयं दृग्गोचरीभवति।

एषा ह्याचार्यस्य महाभाष्यकारस्य शैली लक्ष्यते यत् ते यादृशं समयं स्थितिं वा पश्यन्ति, तादृशं प्रसङ्गानुकूलं समाधानं विदधाति। "पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति[4]" इति न्यायमवलम्ब्यैते महाभागा प्रत्याख्यानकाले अन्वाख्येयस्यापि वस्तुनः प्रत्याख्यानकरणान्न विरमन्ति। तद्यथा प्रस्तुतसन्दर्भे एव दृश्यताम्–यदा गुणेभ्यो गुणसमुदायाद्वातिरिक्तं पृथग्भूतमन्यद् द्रव्यम् इति सिद्धान्तः स्वीक्रियते, अन्वाख्यायते वा, तदा गुणाद् गुणसमुदायाद्वातिरिक्तं नास्ति किञ्चिद् द्रव्यं नाम इति राद्धान्तः स्वत एव प्रत्याख्यातो जायते। एवमेव यदा पूर्वोक्तसिद्धान्तस्य स्थाने पश्चादुक्तो राद्धान्तोऽन्वाख्यायते तदा पूर्वोक्ता स्थापना खण्डिता भवति। तात्पर्यमिदं यदेतस्यां परिष्थितौ भाष्यकारस्य स्वकीयोऽभिप्रेतः सिद्धान्तः कः समुल्लसति इति दुर्ज्ञानमेव। प्रसङ्गेऽस्मिन् टीकाकारा अपि बहुधा परस्परं विपरीतविचारा

---

1. तत्रैव, सू. 5.1.119 पृ. 248
2. महा. भा. 2 सू. 4.1.3, पृ. 200
3. तत्रैव, भा. 1 सू. 1.1.70
4. तत्रैव प्रत्याहाराह्निके, 'ऋलृक्' सूत्रे

अवलोक्यन्ते। यतो हि भाष्यकारेणात्रोभावपि पक्षौ स्वीकृतौ प्रत्याख्यातौ च। पतञ्जलेरियं शैली प्रायः समस्तेऽपि भाष्ये यथास्थलं दृग्गोचरीभवति।

लेखकस्य सम्मतौ लोकव्यवहारायाधिकमहत्त्वप्रदानमेव भाष्यकारस्योक्तविशिष्टशैल्या कारणं सम्भवति यतो हि भाष्यकारो महान् लोकन्यायविद् लोकविज्ञानवेदिता च चकास्ति। अत एव भाष्ये पदे पदे "एवं हि दृश्यते लोके[1]", "यथा लोके तथा व्याकरणे[2]" इत्यादीनि वाक्यानि दरीदृश्यन्ते। भाष्यकारस्य तयं सिद्धान्त एव प्रतीयते–"न हीदं (व्याकरणम्) लोकाद् भिद्यते। यदीदं लोकाद् भिद्येत ततो यत्नार्हं स्यात्[3]" इति। तद्यथा लोके कमपि विषयमधिकृत्य द्वेधा सिद्धान्तः, सिद्धान्तस्य द्वैविध्यं वा दरीदृश्यते, तथैवात्र शास्त्रेऽपि कमपि शास्त्रीयं विवादग्रस्तं विषयमाश्रित्य भाष्यकार उभयमपि पक्षमनुमोद्य निराकृत्य वा पाणिनिरिव मध्यममार्गमनुसरन्निव प्रतीयते। तद्यथा–गुणा भेदका अभेदका वा? अनुबन्धा एकान्ता अनेकान्ता वा? उणादयोऽव्युत्पन्नानि व्युत्पन्नानि वा प्रातिपदिकानि इत्यादि। अत एव प्रस्तुतप्रसङ्गेऽपि भाष्यकारेण द्रव्यगुणविषयकं पक्षद्वयमेव स्वीकृतं निराकृतञ्च।

अस्तु, नागेशभट्टस्तु सांख्यमतानुसारिभाष्यकृदाशयं मन्यमानोऽवयवानतिरिक्तमवयविनमिव गुणसमूहानतिरिक्तमेव द्रव्यं ज्यायोऽङ्गीकरोति।[4] अमूर्तस्यापि गुणस्य लिङ्गसंख्यायोगः 'गुणवचनानां हि शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्तीति' वचनसामर्थ्याद् यदसौ द्रव्यं श्रितो भवति, गुणस्तन्निमित्तक एवेष्टव्यः। यथा जातिवादिनो मते जातेरमूर्तत्वात् तत्रालम्भनप्रोक्षणविशसनादीनां सम्भवो नास्तीति कृत्वा जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते तथा गुणसमुदाये लिङ्गसंख्ययोः सम्भवो नास्तीति तदाश्रये द्रव्याख्ये लिङ्गसंख्यायोगः प्रसेत्स्यति। न चैतन्मन्तव्यम् यद् गुणसमुदायेन एकान्तेन द्रव्यत्वं नास्तीति। गुणानां समुदाये द्रव्यत्वमवयवे च गुणत्वं द्रष्टव्यम्। इतरथा गुणा अनाश्रयाः सन्तः क्व स्थास्यन्ति? तेषामाश्रयो द्रव्यमिति पक्षान्तरं स्थापितमेव।

वस्तुतो यथा जातिव्यक्ती व्यक्त्याकृती वा पदार्थौ पृथग्भूतावपि समवायसम्बन्धेन सम्बद्धत्वाद् एकीभूताविव स्थितिं कलयतः। जातिं विना व्यक्तिः किंस्वरूपा भवेत्? व्यक्तिं विना च जातिः किमाश्रया तिष्ठेत्? धर्मं विना धर्मिणोऽनवस्थानात्। धर्मिणं विना च किमाश्रयो धर्मः स्यात्? अनेका हि व्यक्तयः। प्रतिस्वं भिन्नासु तासु सर्वास्वपि तद्गता जातिरेकैव भवति। जातिः, सामान्यम्, आकृतिरित्येक एवार्थः। व्यक्तिर्द्रव्यम्, विशेष इति चानर्थान्तरम्। जातिव्यक्त्योरुभयोरुभयेन नान्तरीयकः

---

1. महा. पस्पशाह्निके, पृ. 7
2. तत्रैव सू. 1.1.23, पृ. ८1। यद्यपि भाष्ये यत्र कुत्रापि 'न यथा लोके तथा व्याकरणे' (महा. भा. 1 सू. 1. 1.23 पृ. ८1) इत्यादिकथनमप्युलभ्यते तथापि तत्कथनं सैद्धान्तिकं न मत्वाऽऽपवादिकमेव मन्तव्यम्। सिद्धान्तस्त्वयमेव वरीवर्ति यत् "यथा लोके तथा व्याकरणे" इति।
3. महा. 1.1.1, पृ. 40
4. द्र. - महाभाष्यप्रदीपोद्योते, सू. 5.1.119, पृ. 345 – "भाष्ये तद्द्रव्यमित्यस्य तदाश्रयो द्रव्यमिति भावः।"

सम्बन्धः। व्यक्तिः कार्यं प्रतिपद्यमाना सामान्यप्रतिबद्धैव प्रतिपद्यते। सामान्यमपि कार्यं प्रतिपद्यमानं व्यक्तिद्वारेणैव प्रतिपद्यत इति फले न कश्चिद् भेद इति "स्वं रूपमिति" सूत्रे कैयटः।[1]

एवं द्रव्यगुणयोरपि समवायः सम्बन्धः। तयोः पृथक्त्वेऽपि सत्यपृथक्त्वमेव। द्रव्यं विना गुणाः क्व तिष्ठेयुः? को हि तेषामाश्रयः स्यात्? गुणान् विना च द्रव्यस्य किं स्वरूपम्? क आकारः? कीदृशो व्यवहारश्च स्यात्? अत एवोक्तं भाष्ये–"किमाकृतिः पदार्थः, आहोस्विद् द्रव्यम्? उभयमित्याह। कथं ज्ञायते? उभयथा ह्ययाचार्येण सूत्राणि पठितानि। आकृतिं जातिं वा पदार्थं मत्वा 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' इत्युच्यते। द्रव्यं पदार्थं मत्वा च 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इत्येकशेष आरभ्यते।[2]"

उभयोर्नान्तरीयकं समवायसम्बन्धं चाभ्युपगम्य सरूपसूत्रभाष्ये प्रोक्तम्–"न ह्याकृतिपदार्थिकस्य द्रव्यं न पदार्थः। द्रव्यपदार्थिकस्य वा आकृतिर्न पदार्थः। उभयोरुभयं पदार्थः। कस्यचिद् किञ्चित् प्रधानभूतं, किञ्चिद् गुणभूतम्। आकृतिपदार्थिकस्य आकृतिः प्रधानभूता, द्रव्यं गुणभूतम्। द्रव्यपदार्थिकस्य द्रव्यं प्रधानभूतम्, आकृतिर्गुणभूतेति।[3]" एषैव गतिर्द्रव्यगुणयोरपिद्रष्टव्या। उक्तं हि "बहुषु बहुवचनम्" इति सूत्रभाष्ये–"इह कदाचिद् गुणो विशेषको भवति, तद्यथा–शुक्लस्य पट इति। कदाचिच्च गुणिना गुणो व्यपदिश्यते, तद्यथा–पटस्य शुक्ल इति। तद् यदा तावद् गुणो गुणिविशेषको भवति–पटः शुक्ल इति, तदा सामानाधिकरण्यं गुणगुणिनोः, तदा नान्तरेण भावप्रत्ययं गुणप्रधानो भवति निर्देशः इति।[4]" गुणद्रव्ययोः साहचर्यं द्योतयितुमेवाचार्यः पाणिनिः प्रायेण सूत्रेषु 'गुणवचन'शब्दस्य निर्देशं करोति। तद्यथा–"तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन[5]", "वोतो गुणवचनात्[6]", "विस्पष्टादीनि गुणवचनेषु[7]", "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च[8]", "प्रकारे गुणवचनस्य[9]", "अजादी गुणवचनादेव[10]" इति। अत्र सर्वत्र 'गुणवचन' शब्देन गुणोपसर्जनं द्रव्यमर्थः परिगृह्यते।

जातिव्यक्त्योरभिन्नसम्बन्धत्वं प्रदर्शयितुं 'जात्याख्याया'मिति सूत्रभाष्ये प्रावोचद् भाष्यकारः– "कथं पुनर्ज्ञायते जातिशब्देन द्रव्यमप्यभिधीयत इति। एवं हि कश्चिन् महति गोमण्डले गोपालकमासीनं

---

1. महाभाष्यप्रदीपे सू. 1.1.67, पृ. 516
2. महा. पस्पशाह्निकम्, पृ. 6
3. तत्रैव सू. 1.2.64, पृ. 246
4. तत्रैव सू. 1.4.21, पृ. 321
5. पा., 2.1.30
6. तत्रैव 4.1.44
7. तत्रैव 6.2.24
8. तत्रैव 5.1.124
9. तत्रैव 8.1.12
10. तत्रैव 5.3.58

पृच्छति–अस्त्यत्र काञ्चिद् गां पश्यसीति। स पश्यति चायं गाः, पृच्छति च काञ्चिद् अत्र गां पश्यसीति। नूनमस्य द्रव्यं विवक्षितमिति।[1]" अनयोरुभयोरपि पक्षयोर्मध्ये व्याडिराचार्यो द्रव्यपदार्थं प्राधान्येन स्वीकरोति। उक्तं हि 'सरूप'सूत्रभाष्य एव–"द्रव्याभिधानं व्याडिः[2]" इति।

वाजप्यायनश्चाचार्य आकृतिपदार्थं मुख्यमङ्गीकरोति। तदप्युक्तं तत्रैव–"आकृत्यभिधानाद्वैकं विभक्तौ वाजप्यायनः[3]" इति। जातिव्यक्त्योरिव धर्मधर्मिणोः, गुणगुणिनोः, क्रियाक्रियावतोः, अवयवावयविनोः, समुदायसमुदायिनोः, द्रव्यगुणयोश्च समानैव गतिः। न ह्यन्तरेण गुणं द्रव्यस्यावस्थानमपि सम्भवति। न चान्तरेण द्रव्यं गुणो निराश्रयोऽवस्थातुमर्हति। अवश्यं तेन स्वकीय आश्रय आधारो वाऽन्वेष्टव्यः। द्रव्येणापि स्वरूपाववोधनाय गुणोऽपेक्षितव्यो भवति। उभौ हि द्रव्यगुणावन्योन्यविशेषकौ भवतः।

द्रव्यगुणयोरभिन्नयोरपि सतोर्भेदेन व्यवहारोऽप्यवयवावयविनोरिव दृश्यते। तद्यथा–वार्क्षी शाखेति। वृक्षसम्बन्धिनी शाखेत्यत्रार्थे शाखासमूहरूपाद् वृक्षात् समुदायात् शाखेत्यवस्य पृथक्त्वं दृष्टिपथमवतरति। प्राहुश्च भाष्यकाराः–"दृश्यते हि समुदायादवयवस्य पृथक्त्वम्। तद्यथा–वार्क्षी शाखेति[4]" एवं पटस्य शुक्लः, शौक्ल्यगुण इत्यर्थे द्रव्यगुणयोर्भेदेन निर्देशो व्यपदेशो वा भवति। 'शुक्लः पटः' इत्यत्र तु द्रव्यगुणयोरभेद एव।[5] अनयोरभेदाभेदौ च विवक्षाधीनौ।

गुणा अपि द्विविधाः। केचित् केवलगुणमात्रवाचिनः, तद्यथा–रूपरसगन्धादयः। एते न कदाऽपि द्रव्ये वर्तन्ते। केचित्तु गुणे तद्वति द्रव्ये च वर्तमाना दृश्यन्ते, तद्यथा–शुक्लकृष्णादयः। तत्र ये गुणे तद्वति च वर्तमाना गुणाः सन्ति, तेषामेव भेदाभेदविवक्षा प्रयोजयति–'शुक्लः पटः', 'कृष्णः पटः' इति। 'पटस्य शुक्लः', 'पटस्य कृष्णः' इति च। ये तु केवलं गुण एव वर्तमाना गुणाः सन्ति, तेषां भेद एव सर्वदा गृह्यते, न तु कदाचिद् द्रव्येण सहाभेदः, तद्यथा–पुष्पस्य गन्धः, आम्रस्य रसः, पटस्य रूपमित्यादि।

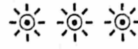
गुणानां वैविध्यादेव "गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः[6]" इति वार्त्तिकं चरितार्थं भवति। 'शुक्लः पटः' इत्युदाहरणम्। अत्र शुक्लशब्दस्य गुणे द्रव्ये च वर्तमानत्वाद् गुणविवक्षायां 'शुक्लवान् पटः' इति रूपं प्राप्तम्। तद्व्यावृत्तये मतुपो लुग्विधानं कृतम्। उक्तं वार्तिकं प्रत्याख्यातुं भाष्ये प्रोक्तम्–

---

1. महा. भा. । सू. 1.2.64, पृ. 246
2. तत्रैव सू. 1.2.64 पृ. 244
3. तत्रैव पृ. 242
4. तत्रैव भा. 2 सू. 5.1.2, पृ. 338
5. तुलनीयम् – तत्रैव प्रत्याहाराह्निने 'एओङ्', 'ऐऔच्' सूत्रयोः, पृ. 23 – "अभ्यन्तरश्च समुदायेऽवयवः। तद्यथा वृक्षः प्रचलन् सहावयवैः प्रचलति।"
6. महा. भा. 2 सू. 5.2.94, पृ. 394

"अव्यतिरेकात् सिद्धम्[1]" इति। न हि गुणो गुणिनं व्यभिचरतीति शुक्लशब्दो गुणवचनः सन् स्वस्मादव्यतिरिक्तं द्रव्यं स्वयमेवाभिधास्यतीति नार्थो मतुपा, न च तल्लुका। ततो वार्त्तिककार आक्षिपति--"अव्यतिरेकात् सिद्धमिति चेद् दृष्टो व्यतिरेकः। दृश्यते व्यतिरेकः पटस्य शुक्लः[2]" इति अर्थाच्छुक्लशब्दस्य द्रव्येण सह व्यतिरेको भेदो वा दृश्यते। तेन यदा शुक्ल शब्दस्य गुणवाचकस्य द्रव्येण सामानाधिकरण्यविवक्षा भवति, तदा 'शुक्लवान् पटः' इति मतुप् प्राप्नोति, तन्निवृत्तये लुग् वक्तव्य एव। "तथा च लिङ्गवचनसिद्धिः"। मतुपो लुकं विधाय लिङ्गवचनानां सिद्धिरपि साधीयसी सम्पद्यते–'शुक्लपटः', 'शुक्ला शाटी', 'शुक्लौ कम्बलौ', 'शुक्लाः कम्बला' इति।

"यदसौ द्रव्यं श्रितो भवति गुणः, तस्य यल्लिङ्गं वचनं च, तद् गुणस्यापि भवतीति[3]"। यदि तु लक्षणया गुणवचनोऽपि शुक्लशब्दो द्रव्यसामानाधिकरण्येन द्रव्येण सह प्रयुज्येत, तदा मतुपो लुकमन्तरेणापि 'शुक्लः पटः' इतीष्टं सिद्ध्यति। एवं द्रव्यगुणयोर्विषये भेदाभेदं व्यावृण्वाना महाभाष्यकारा भूयः पराक्रमितवन्तः कस्य नमस्या न भवन्तीति शम्।।



---

1. महा. भा. 2 सू. 5.2.94, पृ. 394
2. तत्रैव पृ. 394
3. तत्रैव पृ. 394

तुलनात्मक दर्शन : स्वरूप एवं उद्देश्य

डॉ. अभिमन्यु सिंह
दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

I

भारतीय दर्शन को मोक्ष-शास्त्र कहा जाता है, यह तर्क (बुद्धि) एवं अनुभव को वरीयता न देकर श्रुति, आप्त-वचन और प्रातिभ साक्षात्कार को वरीयता देता है। इसलिए भारतीय दर्शन के बारे में बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि इसे दर्शन माना जाये या धर्म। यदि यह दर्शन है तो अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों (परम्पराओं) एवं उनकी संकल्पनाओं के साथ इसके तुलनात्मक अध्ययन की संभावना पर विचार किया जा सकता है और यदि यह धर्म है तो इसका तुलनात्मक अध्ययन तुलनात्मक धर्म के अन्तर्गत ही सम्भव होगा, तुलनात्मक दर्शन के अन्तर्गत नहीं। यदि दर्शन को पूर्णतया अनुभव और बुद्धि (तर्क) पर आधारित अवधारणात्मक संरचना के अर्थ में समझा जाये, जैसा कि बीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य दार्शनिक मानते हैं, तो स्पष्टत: भारतीय-दर्शन दर्शन नहीं है और ऐसी स्थिति में तुलनात्मक दर्शन के अन्तर्गत इसके तुलनात्मक अध्ययन की संभावना क्षीण हो जाती है। यदि भारतीय दर्शन पाश्चात्य दर्शनों के अर्थ में अनुभवपरक और पूर्णतया बौद्धिक क्रियाकलाप नहीं है तो फिर यह किस प्रकार के अनुभव एवं बौद्धिक क्रियाकलाप से सम्बन्धित है जिसके आधार पर इसे दर्शन (दार्शनिक चिन्तन) कहा जा सके? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसका समाधान दर्शन का अर्थ भिन्न प्रकार से लेकर ही हो सकता है। यदि दर्शन को एक विशिष्ट प्रकार के अनुभव पर आधारित विचार अथवा चिन्तन के अर्थ में लिया जाये तो भारतीय दर्शन भी विशिष्ट प्रकार के अनुभव पर आधारित विशिष्ट प्रकार का चिन्तन है और तुलनात्मक दर्शन के अन्तर्गत इसके तुलनात्मक अध्ययन की संभावना बनती है। यह सही है कि भारतीय दर्शन श्रुति, आप्तवचन अथवा प्रातिभ साक्षात्कार की पूर्व-मान्यता पर आधारित है, किन्तु यही पूरा सच नहीं है। भारतीय दर्शन श्रुति, आप्तवचन अथवा प्रातिभ-साक्षात्कार मात्र नहीं है। यदि श्रुति, आप्तवचन अथवा प्रातिभ-साक्षात्कार ही सब कुछ होते तो प्रश्न उठता है कि फिर *ब्रह्म सूत्र* और भाष्य क्यों लिखे गये और सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के चिन्तकों ने अपने-अपने विपुल शास्त्र की संरचना क्यों की? स्पष्ट है कि इनमें श्रुति, आप्तवचन अथवा प्रातिभ-साक्षात्कार से इतर कुछ किया गया। इनमें श्रुति, आप्तवचन अथवा प्रातिभ-साक्षात्कार द्वारा स्थापित पूर्वमान्यताओं का अनुभव और बुद्धि के स्तर पर विश्लेषणात्मक विवेचन किया गया है।

इन्हें दार्शनिक चिन्तन नहीं कहेंगे तो और क्या कहेंगे? भारतीय दर्शन आध्यात्मिक अनुभवों (अनुभूतियों) का बौद्धिक विवेचन एवं विश्लेषण है। पूर्वमान्यतायें तो प्रत्येक दर्शनिक चिन्तन की होती हैं, चाहे वह भारतीय दर्शन हो या पाश्चात्य दर्शन। यहां तक कि पाश्चात्य दार्शनिक जॉन लाक, जो अपने को पूर्ण रूप से अनुभववादी होने का दावा करते हैं, भी इसके अपवाद नहीं। वे ज्ञान को अनुभवजन्य मानते हैं। उनका मानना है कि मानव-मानस प्रारम्भ में निरंक (टेबुला राजा) होता है और अनुभव द्वारा ज्ञान उस पर अंकित होता है। यदि लॉक से यह पूछा जाये कि निरंक मानस का ज्ञान आपको किस अनुभव से होता तो इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं होगा, क्योंकि अनुभव तो उसी का होगा जिस पर (अनुभव द्वारा) कुछ अंकित हो। जिस पर कुछ अंकित ही नहीं है उसका अनुभव असम्भव होगा। स्पष्ट है कि लॉक के दर्शन में निरंक मानस एक अनुभवातीत कल्पित पूर्वमान्यता है और उनका समूचा दार्शनिक चिन्तन इसी पूर्वमान्यता पर आधारित है। उसी प्रकार भारतीय दर्शनों की भी अपनी-अपनी पूर्वमान्यतायें हैं और पूर्वमान्यताओं पर आधारित होने के कारण उनमें तर्क पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं है। वे बुद्धि के स्वतंत्र क्रिया-कलाप नहीं हैं, वरन् तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यताओं से बंधे हुए हैं और उनके अधीन हैं। दोनों में अन्तर यह है कि पाश्चात्य दर्शनों की पूर्वमान्यतायें छिपी हुयी हैं और भारतीय दर्शन की पूर्वमान्यतायें स्पष्ट एवं प्रकट हैं।

पुनश्च, 'दर्शन' (दृश्+ल्युट्) शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है 'देखना'। 'तत्त्व को देखना'। भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा में दर्शन बौद्धिक स्तर पर उसी तत्त्व को दिखाने का प्रयास करता है और धर्म उसे प्राप्त करने का मार्ग बताता है। 'धर्म' शब्द का प्रयोग यहां हम आध्यात्मिक अनुशासन के अर्थ में कर रहे हैं। अतएव 'दर्शन' शब्द के सच्चे अर्थ में भारतीय दर्शन ही दर्शन है। यह ज्ञान के प्रति अनुराग मात्र नहीं है और न एक आकारिक ज्ञान की शाखा मात्र। दर्शन एवं धर्म का द्वैत विशेष रूप से वस्तुओं पर विचार करने की पाश्चात्य दृष्टि पर आधारित है और यदि हम भारतीय दर्शन के बोध के प्रति गंभीर हैं तो हमें इस पाश्चात्य दृष्टि को त्याग देना होगा। वस्तुतः भारतीय दार्शनिक परम्परा में दर्शन और धर्म का द्वैत नहीं है। धर्म जब दर्शन के आलोक में जिया जाता है तो वह आध्यात्मिक अनुशासन बन जाता है। दोनों साथ-साथ चलते हैं। केवल चार्वाक दर्शन ही इसका अपवाद है। दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय उनके लौकिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक (सांस्कृतिक) परिवेश की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

II

कोई भी दर्शन पूर्णतया वस्तुनिष्ठ नहीं होता, अन्यथा समूचे विश्व का एक ही दर्शन होता। दर्शन ज्ञान की उन सभी शाखाओं से पृथक् है जो किसी न किसी रूप में पूर्णतया वस्तुनिष्ठ होने का दावा करती हैं। दर्शन का प्रारम्भ सैद्धान्तिक चेतना से होता है। यह एक विशिष्ट प्रकार की अवधारणात्मक संरचना या विमर्शात्मक चिन्तन है। प्रत्येक दर्शन अपनी-अपनी दृष्टि से (मानव) जीवन और जगत् का मूल्यांकन करने का प्रयास करता है। तुलनात्मक दर्शन दर्शनों की तुलनात्मक

मीमांसा है। दर्शन एवं तुलनात्मक दर्शन में सम्बन्ध 'भेद में अभेद' का है। तुलनात्मक दर्शन दर्शन से भिन्न भी है और अभिन्न भी। दर्शन 'वहां क्या है' के बारे में एक अन्तर्दृष्टि है और यह प्रथम स्तर का अन्वेषण है। तुलनात्मक दर्शन यह जानना है कि वास्तव में हम क्या कर रहे हैं जब हम दर्शन करते हैं। यह प्रथम स्तर के अन्वेषण में अन्वेषण है और इसलिए यह उच्चतर स्तर का अन्वेषण है। यह तुलनीय दर्शनों की दार्शनिक अन्तर्दृष्टियों के मूलभूत आधारों का अन्वेषण है। तुलनात्मक दर्शन तुलनीय दर्शनों के सत्यों को उद्घाटित करता है।

दार्शनिक दृष्टिकोणों के तुलनात्मक अध्ययन की बात उन लोगों को सर्वथा स्वीकार्य होगी जो निकोलाइ हार्टमन (Nicolai Hartmann) तथा अन्य समकालीन तुलनात्मक दर्शन के समर्थकों की तरह यह मानते हैं कि सभी दर्शनों की सदा से, सर्वत्र एक ही प्रकार की शाश्वत समस्यायें रही हैं। पाल डायसन (Paul Deussen) का भी कहना है कि चिन्तनशील जीवों को सर्वत्र एक ही प्रकार के शाश्वत सत्य की गूंज सुनाई पड़ती है। तुलनात्मक दर्शन से ये शाश्वत समस्यायें या सत्य प्रकाशित हो जाती हैं। वैसे तो तुलनात्मक दर्शन दर्शन के क्षेत्र में अपेक्षाकृत नवागन्तुक है, तथापि दार्शनिक विचारधाराओं की संरचना की तार्किक अपेक्षा के रूप में यह उनमें प्रारम्भ से ही अस्पष्ट रूप में अनुस्यूत रहा है। तुलनात्मक दर्शन प्रत्येक दर्शन में पूर्वपक्ष अथवा प्रतिपक्ष के रूप में सन्निहित रहता है या छिपा हुआ रहता है। तुलनात्मक अध्ययन का कार्य है उसे उद्घाटित या प्रकाशित करना। मैं यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूं कि किसी दार्शनिक विचारधारा का पूर्व पक्ष (प्रतिपक्ष) खड़ा कर देना अथवा उसका खण्डन-मण्डन करना तुलनात्मक दर्शन नहीं है। सभी प्रकार के तुलनात्मक अध्ययनों में तुलनीयों के बीच समानता और असमानता की बात एक साथ निहित रहती है, किन्तु तुलनीय दर्शनों की समानताओं को एक तरु तथा असमानताओं को दूसरी तरफ सजा देने मात्र से कोई दर्शन नहीं बनता और तुलनात्मक दर्शन इस रूप का तुलनात्मक अध्ययन नहीं है।

तुलनात्मक दर्शन को तुलनीय दर्शनों में प्रविष्ट होने के साथ-साथ तटस्थ भी होना पड़ता है; क्योंकि बिना प्रविष्ट हुए दर्शनों को ठीक-ठीक (यथारूप) समझा नहीं जा सकता। उनकी पूर्वमान्यतायें क्या हैं? वे बनते कैसे हैं? उनकी अवधारणात्मक संरचना के मूलभूत आधार क्या हैं? इत्यादि को स्पष्ट करने के लिए उनमें प्रविष्ट होना आवश्यक होता है। और 'तटस्थ होना' संतुलित एवं तुल्य तुलनात्मक अध्ययन के लिए अनिवार्य है। तुलनात्मक दर्शन तुलनीय दर्शनों से पृथक् तीसरे, चौथे या किसी अन्य प्रकार का दर्शन नहीं है, वरन् यह तुलनीय दर्शनों का दर्शन है। यह तुलनीय दर्शनों का विश्लेषण करके उनमें निहित संगतियों, विसंगतियों एवं पूर्वमान्यताओं को उद्घाटित करता है। ऐसा करके वह स्वयं किसी पूर्वमान्यता की स्थापना नहीं करता। यह स्पष्ट करना कि तुलनीय दर्शनों की पूर्वमान्यतायें क्या हैं, स्वयं एक पूर्वमान्यता की स्थापना करना नहीं है। तुलनात्मक दर्शन से तुलनीय दर्शनों पर नवीन प्रकाश पड़ता है और हम उन्हें और (अधिक) स्पष्ट रूप से समझने लगते हैं। तुलनीय दर्शन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर तुलनात्मक दर्शन देता है।

तुलनात्मक दर्शन एवं उसकी सम्भावना के विषय में अनेक प्रकार की आपत्तियां उठायी जाती हैं। उनमें से कुछ प्रमुख आपत्तियों पर हमने विचार करने का प्रयास किया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि यदि तुलनात्मक दर्शन एक प्रकार का दर्शन है तो इसकी पूर्वमान्यता क्या होगी, इस आपत्ति के सम्बन्ध में हमारा कहना है कि यदि तुलनात्मक दर्शन अन्य तुलनीय दर्शनों के समान स्तर का एक प्रकार का दर्शन होता तो उसकी पूर्वमान्यता होती। तुलनात्मक दर्शन, दर्शन का एक प्रकार नहीं है। अतएव उसकी पूर्वमान्यता होने का प्रश्न ही नहीं उठता। तुलनात्मक दर्शन को शुद्ध विश्लेषण के रूप में समझना चाहिए। तुलनात्मक दर्शन में हम दर्शनों का मूल्यांकन तो करते हैं किन्तु किसी दर्शन की श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयास नहीं करते हैं।

कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि तुलनात्मक दर्शन को दर्शनों का तुलनात्मक दर्शन माना जाये या परादर्शन? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि तुलनात्मक दर्शन दर्शनों का तुलनात्मक दर्शन एवं परादर्शन दोनों है। अगर दर्शन ही नहीं होगा तो परादर्शन कैसे बनेगा? दर्शनों की तुलना से इसका प्रारम्भ होता है फिर तुलनीय दर्शनों के सत्यों को उद्घाटित कर यह परादर्शन का रूप ग्रहण करता है। वस्तुत: जिस समय हम तुलनात्मक दर्शन कर रहे होते हैं, वह समीक्षात्मक होता है। तुलनात्मक दर्शन की परिणति (परिनिष्पत्ति) परादर्शन के रूप में होती है। दर्शनों के मूल में जाना, खण्डन-मण्डन के पीछे क्या है? इत्यादि तुलनात्मक दर्शन की दिशा है। तुलनात्मक दर्शन के पीछे इसका अपना कोई दृष्टिकोण नहीं होता। तुलनात्मक दर्शन यदि तुलनीय दर्शनों की गहराई में जाकर उनका गहन विश्लेषण नहीं करता है तो वह व्यर्थ है।

तुलनात्मक दर्शन के सम्बन्ध में एक मौलिक प्रश्न उठाया जाता है कि हम तुलना क्यों करें? इस प्रश्न के सम्बन्ध में हमारा मानना है कि तुलना से बचा नहीं जा सकता। तुलना बुद्धि के स्वभाव में निहित है। बुद्धि की प्रकृति ही ऐसी है कि वह हमेशा सापेक्षिक अवधारणाओं की संरचना करती है। किसी दर्शन की संरचना एकल रूप से नहीं हो सकती। उसकी संरचना के लिए किसी अन्य दृष्टि या दृष्टियों के समग्र परिप्रेक्ष्य की पूर्वापेक्षा रहती है। प्रत्येक दर्शन एक तरह से तुलनात्मक दर्शन से ही शुरू करता है। वह अन्य दर्शनों से अपनी पृथकता स्थापित करता है, उनके विचारों से सीखता है और कभी-कभी अन्य दर्शनों के प्रभाव में अपने दार्शनिक विचारों का परिष्कार भी करता है। इस अर्थ में प्रत्येक दर्शन तुलनात्मक दर्शन है। किन्तु इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए कि दर्शन एवं तुलनात्मक दर्शन में कोई अन्तर ही नहीं है। प्रत्येक दर्शन में पूर्वपक्ष (प्रतिपक्ष) की स्थापना और उसका खण्डन प्राप्त होता है। वह खण्डन अन्य दार्शनिक विचारधाराओं से (अपनी) पृथकता स्थापित करके अपना एक अलग दर्शन खड़ा करने के उद्देश्य से किया जाता है। किन्तु तुलनात्मक दर्शन में जब तुलनीय दर्शनों की समीक्षा, उनका गहन विवेचन एवं विश्लेषण किया जाता है तो वहां उसका उद्देश्य एक अलग दर्शन खड़ा करना नहीं होता है। दर्शन निषेधों से संरचित होता है और निषेधों से संरचित होने के कारण इसकी दृष्टि संकुचित होती है। तुलनात्मक दर्शन दर्शनों का दर्शन होने के कारण व्यापक होता है। अतएव तुलनात्मक दर्शन विशेष-विशेष दर्शनों से भिन्न है।

एक प्रश्न तुलनात्मक दर्शन के स्वतंत्र दर्शन होने के सम्बन्ध में उठाया जाता है। प्रश्न किया जाता है कि क्या तुलनात्मक दर्शन एक स्वतंत्र, पृथक् विशिष्ट प्रकार का दर्शन है? यदि हां तो इसकी ज्ञानमीमांसीय स्थिति क्या होगी? इसकी दार्शनिक विशेषतायें क्या होंगी और दार्शनिक क्रिया-कलापों में इसका स्थान क्या होगा? इन प्रश्नों के उत्तर में हमारा कहना है कि तुलनात्मक दर्शन स्वतंत्र दर्शन नहीं है। यह दर्शन का एक प्रकार नहीं है। यह परादर्शन है। तुलनीय दर्शनों की तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा तथा मूल मान्यताओं को यह तटस्थ भाव से देखेगा, उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार नहीं करेगा। उनका गहन विवेचन एवं विश्लेषण करके उनके सत्यों को उद्घाटित करना ही इसका कार्य है। यहां पर आपत्ति की जा सकती है कि यदि तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में चिन्तन का कार्य दर्शनों का गहन विवेचन एवं विश्लेषण करके उनके सत्यों को प्रकाशित करना है तो इसमें तुलना कहां हुयी? और यदि इसमें तुलना नहीं हुयी तो इसे तुलनात्मक दर्शन कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न के सम्बन्ध में हमारा कहना है कि यह 'तुलना' ही है जो यह स्पष्ट करती है कि सभी दार्शनिक दृष्टियां सत्य का अन्वेषण करती हैं। और अगर सत्य एक ही है तो ये दृष्टिगत भेद क्यों हैं? 'दृष्टिगत भेद होना' यह स्पष्ट करता है कि दार्शनिक दृष्टियां सत्य को पकड़ने में असमर्थ हैं। सत्य उनकी पहुंच से परे है। वैसे तो सभी दार्शनिक दृष्टियां अपनी--अपनी दृष्टि से समान रूप से सत्य हैं किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो यह तुलनात्मक दर्शन ही है जो यह स्पष्ट करता है कि सत्य के बारे में सभी दार्शनिक दृष्टियां समान रूप से मिथ्या हैं। मेरे विचार से तुलनात्मक दर्शन के अन्तर्गत तुलनात्मक अध्ययन (चिन्तन) दो स्तरों पर होता है। प्रथम स्तर पर तुलनात्मक अध्ययन दर्शनों की मान्यताओं, उनकी संकल्पनाओं इत्यादि का विवेचन एवं विश्लेषण करके उनके सत्यों को उद्घाटित करता है। तुलनात्मक अध्ययन का यह रूप अत्यधिक प्रचलित है। द्वितीय स्तर पर दर्शन मात्र तुलनात्मक दर्शन का विषय बनता है। दर्शन बनते अथवा बनाये क्यों जाते हैं? दर्शन क्या है? इस स्तर पर उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ने की प्रक्रिया में तुलनात्मक अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि दर्शन आत्मपूर्ति अथवा आत्माभिव्यक्तियां हैं। तुलनात्मक दर्शन यह स्पष्ट करता है कि सभी दर्शन आत्म-दर्शन है।

III

तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य - तुलनात्मक दर्शन के उद्देश्य का निर्धारण आवश्यक है क्योंकि जब तक इसका उद्देश्य निर्धारित नहीं होगा तब तक यह एक निश्चित रूप को ग्रहण नहीं कर सकेगा। पी.टी. राजू का कहना है कि "जीवन की किन समस्याओं का समाधान विभिन्न परम्पराओं द्वारा किन रूपों में किया गया है, जीवन का कौन (सा) मौलिक पक्ष किन तरह की दार्शनिक समस्याओं को जन्म देता है और उनका किस प्रकार का समाधान प्रस्तुत करता है, इनका अन्वेषण करना तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य है।"[1] उनका मानना है कि "बौद्धिक जिज्ञासा

---

1. राजू पी.टी., *इन्ट्रोडक्शन टु कम्परेटिव फिलॉसफी*, पृ. 291, मोतीलाल बनारसीदास, प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1992.

तुलनात्मक दर्शन का चरम उद्देश्य नहीं है''।[1] इसका उद्देश्य मानव, मानव-जीवन के मूल्यों तथा मानव-जीवन के प्रति आदर भाव, जो कि सभी दार्शनिक परम्पराओं में समान रूप से निहित हैं, को ध्यान में रखते हुए एक विश्व-दृष्टि विकसित करना है। जो पश्चिम के लोगों के लिए सत्य और शुभ है वह पूरब के लोगों के लिए भी सत्य और शुभ है और जो पूरब के लोगों के लिए सत्य और शुभ है वह पश्चिम के लोगों के लिए सत्य और शुभ है।[2] यदि मानव-जीवन हर जगह तत्त्वत: समान है, और यदि जीवन के सभी मूल्य सभी मानवों के लिए समान रूप से अभिगम्य हैं या अभिगम्य कराने हैं तो प्रत्येक संस्कृति ऐसे दर्शनों को विकसित करेगी जो विचार, दृष्टिकोण और उद्देश्य में मौलिक समानता धारण करते हैं। तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य एक ऐसा सांस्कृतिक समन्वय है, जो किसी संस्कृति का वर्चस्व नहीं वरन् विकास, उसका आरोपण नहीं वरन् आत्मसाक्षात्करण, दृष्टिकोण का संकुचितीकरण नहीं वरन् व्यापकीरण और जीवन का परिसीमन नहीं वरन् उसके विस्तारण को प्रतिपन्न करता है।[3] तुलनात्मक दर्शन का काम सभी (दार्शनिक) परम्पराओं को एक साथ लाना (है) और उनकी समस्याओं का सुस्पष्ट रूप में अध्ययन करना है। सिर्फ तभी समन्वय उपयोगी होगा।[4] मानव तथा मानव-जीवन (के मूल्यों) को विश्व-परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है। तुलनात्मक दर्शन का काम एक मौलिक समग्र दृष्टिकोण को पुनर्जीवित करना है।[5] ध्यातव्य है कि पी.टी. राजू संस्कृतियों एवं उनमें पनपी दार्शनिक परम्पराओं के बीच समन्वय की बात करते हैं जो समीचीन नहीं है। तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य संस्कृतियों एवं दार्शनिक परम्पराओं का समन्वय करना नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से उनका पृथक् अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। अगर संस्कृतियों एवं दार्शनिक परम्पराओं का अन्तर्भाव एक विश्व दृष्टिकोण में कर दिया जायेगा तो दर्शन ही समाप्त हो जायेंगे। फिर तुलनात्म्क दर्शन किसका तुलनात्मक अध्ययन करेगा? परिणामस्वरूप तुलनात्मक दर्शन स्वनिर्धारित मृत्यु को प्राप्त करेगा। तुलनात्मक दर्शन उस पद्धति को स्वीकार नहीं कर सकता जो तुलनीय दार्शनिक दृष्टियों का अपचयन एक दृष्टि में कर देती है। तुलनात्मक दर्शन का कार्य किसी दर्शन को मिटाना नहीं है। इसके अलावा संस्कृतियों एवं दार्शनिक परम्पराओं के बीच समन्वय की समस्या एक गम्भीर समस्या है। भारतीय दर्शन, एकाध अपवादों को छोड़कर, मूलत: आध्यात्मिक है। यह मोक्षमार्ग (शास्त्र) है। भारतीय दार्शनिक मोक्ष के प्रति इतने उत्सुक हैं कि वे हमेशा शरीर से अलग होने की बात करते हैं। आत्मा शरीर से भिन्न है, आत्मा और शरीर का सम्बन्ध आन्तरिक न होकर बाह्य होता है, इसके लिए वे तर्क प्रस्तुत करने में ही संलग्न रहे हैं। वे यह भूल जाते हैं कि यह शरीरीजीव के अनुभवों

---

1. *वही*, पृ. 292.
2. *वही*, पृ. 293-295.
3. *वही*, पृ. 288.
4. *वही*, पृ. 291.
5. *वही*, पृ. 297.

का विस्तृत विश्लेषण कम ही प्राप्त होता है।[1] डॉ. के.सी. भट्टाचार्य और तन्त्र दर्शन इसके अपवाद हैं। बीसवीं सदी का पाश्चात्य दर्शन मुख्य रूप से तर्क एवं अनुभव पर आधारित है। भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों के धरातल भिन्न-भिन्न हैं। इनके बीच समन्वय स्थापित करने का कोई भी प्रयास अन्ततः असफल ही सिद्ध होगा। यदि यह मान भी लिया जाये कि दार्शनिक सम्प्रदायों (परम्पराओं) के बीच समन्वय सम्भव है और इससे तुलनीय दर्शनों का लोप भी नहीं होगा तो इससे लाभ क्या होगा? सिर्फ यही की एक दर्शन और खड़ा हो जायेगा और वह भी एक दृष्टि (मात्र) बनकर रह जायेगा। काण्ट और हेगेल द्वारा किये गये प्रयास इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। मेरा मानना है कि तुलनात्मक दर्शन के बारे में दो प्रकार की भ्रान्तियों से बचना चाहिए- (1) दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय किसी दर्शन की श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसके लिये न तो तुलनात्मक दर्शन के पीछे कोई दृष्टिकोण होता है और न कोई मापदण्ड और तुलनात्मक दर्शन का न तो यह कार्य है और न ही उद्देश्य। सभी तुलनीय दर्शन समान रूप से दार्शनिक दृष्टिकोण हैं और समान रूप से महत्त्वपूर्ण। (2) और न सभी दर्शनों से थोड़ा-थोड़ा लेकर एक पृथक् दर्शन खड़ा करना चाहिए। इसका काम तुलनीय दर्शनों का निष्पक्ष (तटस्थ) विवेचन एवं विश्लेषण है। दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन की प्रक्रिया में हम पहले उनका विस्तार देखते हैं फिर धीरे-धीरे गहराई में जाकर उनके मर्म को समझने (जानने) का प्रयास करते हैं। खण्डन-मण्डन के पीछे छिपी मूलभूत मान्यताओं (पूर्व मान्यताओं) को उद्घाटित कर उनके (बीच) विवादों को सुलझाते हैं। अतएव तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य दार्शनिक विवादों को सुलझाना है; उनका समाधान प्रस्तुत करना है।

यदि यह कहा जाये कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास ने पूरी दुनियां को एक देश में तब्दील कर दिया है और ऐसी स्थिति में विश्व की सभ्यताओं, संस्कृतियों एवं दार्शनिक परम्पराओं का तुलनात्मक अध्ययन द्वारा ही सम्यक् बोध प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए विश्व की सभ्यताओं, संस्कृतियों एवं दार्शनिक परम्पराओं का सम्यक् बोध (प्राप्त) कराना ही तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य है; किन्तु यह बात भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि उनका अलग-अलग अध्ययन करके भी उन्हें सम्यक् रूप से जाना जा सकता है।

IV

तुलनात्मक दर्शन में दार्शनिक सम्प्रदायों (परम्पराओं) और उनकी संकल्पनाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। इस प्रसंग में यह प्रश्न उठता है कि क्या हम किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय (परम्परा) की तुलना किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय (परम्परा) से कर सकते हैं? क्या हम तुलनात्मक दर्शन की विषय-वस्तु का चयन करने के लिए पूर्णतया स्वतंत्र हैं? हमारा मानना है कि किसी भी दर्शन की तुलना किसी भी दर्शन के साथ नहीं की जा सकती। तुलनात्मक

---

1. चटर्जी ए.के., *मेटाफिजिक्स, सबजेक्टिविटी एण्ड मिथ* पृ. 25, द इण्डियन फिलासाफिकल कांग्रेस, पैंतालिसवां सेशन, उस्मानिया यूनिवर्सिटी, हैदराबाद, 1971, प्रेसीडेंन्सियल ऐड्रेस, मेटाफिजिक्स एण्ड एपिस्टीमालजी सेक्शन।

दर्शन की विषय-वस्तु का चयन हमारी स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर नहीं करता है। हम क्यों न्यायशास्त्र की तुलना कामशास्त्र से नहीं करते? हम न्यायशास्त्र की तुलना के लिए बौद्ध-दर्शन या मीमांसा-दर्शन का ही बहुधा चयन क्यों करते हैं? हम क्यों बौद्धों के आभिधर्मिक सम्प्रदाय के कारणता सम्बन्धी विश्लेषण की तुलना अरस्तू के कारणता सम्बन्धी विश्लेषण से न करके ह्यूम के कारणता संबंधी विश्लेषण से करते हैं? यहां तक कि जब एक दर्शन किसी अन्य दर्शन को पूर्वपक्ष अथवा प्रतिपक्ष के रूप में रखता है तो यह सिर्फ इसलिए की वह दर्शन किसी न किसी रूप में कहीं न कहीं से उसे छू रहा है। उसे लगता है कि वह भी वही कर रहा है जो वह स्वयं कर रहा है, भले ही उसकी दृष्टि भिन्न क्यों न हो। यदि किसी दर्शन का पूर्वपक्ष या प्रतिपक्ष नहीं है तो एक कल्पित प्रतिपक्ष खड़ा कर लिया जाता है। अतएव तुलना की भी कुछ मूलभूत मांगें होती हैं जिनको पूरा करना अनिवार्य होता है। यदि दो दर्शनों में निहित संकल्पनायें भिन्नार्थक हैं तो वे दोनों अ-तुलनीय हो जायेंगी। और यदि वे तुलनीय हैं तो इसका तात्पर्य है कि वे एकार्थक विशिष्टताओं से युक्त हैं। अब प्रश्न उठता है कि दर्शनों की संकल्पनाओं का भिन्नार्थक अथवा एकार्थक होना किस पर निर्भर करता है? इसका निर्धारण दर्शनों की सत्तामीमांसीय मान्यता द्वारा होता है अथवा ज्ञानमीमांसीय पूर्वधारणा द्वारा। इस प्रश्न के उत्तर में एक स्वाभाविक सलाह यह दी जाती है कि दर्शनों एवं उनकी संकल्पनाओं का भिन्नार्थक अथवा एकार्थक होना उनकी सत्तामीमांसीय पूर्व-मान्यता पर निर्भर करता है। यदि दो दर्शनों की सत्तामीमांसायें भिन्न-भिन्न हैं तो उनके बीच तुलना नहीं हो सकती और यदि वे समान एकार्थक विशिष्टताओं से युक्त हैं तो वे तुलनीय हैं। यहां एकार्थक विशिष्टताओं से युक्त होने का आशय यह नहीं है कि तुलनीयों के बीच हर पहलू में समानता होनी चाहिए। धरातलगत साम्य होने के अलावा उनमें असमानतायें भी हो सकती हैं। जब तक तुलनात्मक अध्ययन के सन्दर्भ में उपरोक्त बातों को प्राथमिकता नहीं प्रदान की जायेगी तब तक हम यह नहीं जान पायेंगे कि हम वास्तव में तुलना कर रहे हैं या तुलना को सिर्फ टटोल रहे हैं। प्रचलित अर्थ में तुलनात्मक दर्शन विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों (परम्पराओं) में निहित सर्वसामान्य बिन्दुओं का सुस्पष्ट विश्लेषण है।

अस्तु, तुलनात्मक दर्शन का कार्य किसी ऐसी मौलिक सामान्य अवधारणा का निर्माण करना नहीं है जो विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों (परम्पराओं) पर समान रूप से लागू होती हैं और अन्ततः उनके बीच समन्वय का आधार बनती हैं। तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में चिन्तन का कार्य सिर्फ दो भिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों (परम्पराओं) के मध्य वैचारिक साम्य और बिन्दुओं के अन्वेषण तक सीमित नहीं है और न तो इसका कार्य दार्शनिक सम्प्रदायों (परम्पराओं) के अभिप्रायों के अन्वेषण तक ही सीमित है। इनसे परे तुलनात्मक दर्शन में चिन्तन का कार्य विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों (परम्पराओं) में निहित प्रच्छन्न सत्यों को प्रकाशित करना और स्पष्ट करना है।



प्राचीन संस्कृत में - शिक्षक

प्रो. रमणिका जलाली

प्राचीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि श्रुतियों और स्मृतियों का अध्ययन मौखिक रूप में होता था। वेदों को श्रुति कहने का अभिप्राय यह है कि वे गुरू-परम्परा से सुने जाते थे। अतः उन्हें श्रुति अर्थात् सुना गया कहा जाता था। उन्हें श्रवण परम्परा से ही शिष्यों को पढ़ाया जाता था। इसी प्रकार स्मृति का अर्थ है, जो स्मरण किया जाय था याद रखा जाए। इससे स्पष्ट है कि धर्मशास्त्र ग्रन्थ भी शिष्यों को स्मरण कराए जाते थे और मौखिकपरम्परा से ही इन्हें शिष्यों को प्रदान किया जाता था। अतएव स्मृतिहीन एवं मन्दबुद्धि व्यक्तियों को श्रुति और स्मृति न पढ़ाने का विधान था। ब्राह्मण श्रुति और स्मृति को समदृष्टि से पढ़े। स्मृतिहीनों को वेद आदि शोभा नहीं देते हैं।

शिक्षक

आधुनिक युग में शिक्षण संस्थाओं और विश्वविद्यालयों को जो महत्त्व प्राप्त है। वहीं महत्त्व प्राप्त है। वहीं महत्त्व प्राचीन भारत में गुरूकुल और गुरु का था।[1] शिक्षक के लिए दो प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है। आचार्य एवं गुरु। अज्ञान रूपी अन्धकार को रोकने के कारण शिक्षक को गुरु कहा जाता है और सदाचार की स्थापना करने के कारण एवं स्वयं आचरण करने के कारण आचार्य पद की प्राप्ति होती है।

गुरू शब्द तो अतिमहत्त्वपूर्ण है। गु + रु = गुरु। गु = अज्ञान, रु = अवरोधक। अर्थात् जो अज्ञान को नाश कर ज्ञान प्रदान करे उसे गुरु कहते हैं।[2] गुरु इस संसार सागर से पार उतारने वाले हैं और उनका दिया हुआ ज्ञान नौका के समान बताया गया है। मनुष्य उस ज्ञान को पाकर भवसागर से पार और कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसे नौका और नाविक दोनों की अपेक्षा नहीं रहती।[3]

---

1. प्रा. भा. शि. प. - डां. अ. स. अलतेकर पृ. 437
2. कल्याण शिक्षाङ्क - पृ. 250
3. न विना ज्ञान विज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत्
   न विना गुरु सम्बधं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः।
   गुरु प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते
   विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत्।। महा. शान्ति. 326, 22-23

शिक्षक का महत्त्व

शिक्षक छात्र को अज्ञान के अन्धकार से निकालकर ज्ञान के प्रकाश में ले जाता है, वह अपरिपक्व बुद्धि के बालकों का भार अपने ऊपर लेकर उन्हें योग्य और उपयोगी नागरिक बनाता है। अत: समाज में उसका आदर होना स्वभाविक ही है। एक मनीषी का कथन है कि ज्ञान रूपी दीपक एक प्रकार के आवरण से आच्छन्द रहता है। गुरू इस आवरण को हटा देता है और तब प्रकाश की किरणें निकलती हैं। अत: गुरू के प्रति कृतज्ञ होता और उसका अधिक से अधिक सम्मान करना शिष्य का कर्त्तव्य है।[1]

गुरु माता-पिता से अधिक आदर का पात्र हैं क्योंकि माता पिता से हमें केवल पार्थिव शरीर ही मिलता है परन्तु गुरु से बौद्धिक उन्नति व विकास। वैदिक काल से ही आचार्य को शिष्य का मानस पिता माना गया है।[2] उसकी सहायता और मार्ग दर्शन के बिना शिक्षा सम्भव नहीं है। इसलिए ज्ञान के लिए गुरु अपरिहार्य है। गुरु के इस सम्मान से हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए क्योंकि सभी मानते हैं कि स्कूल की इमारत और सजावट का छात्रों पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना एक योग और सदाचारी अध्यापक का जो कि उनको उपदेश और प्रेरणा देते हैं।

आचार्य से उपदेश प्राप्त करने का इतना महत्त्व है कि जो व्यक्ति आचार्य से उपदेश ग्रहण करता है वह सत् का ज्ञानी है और मोक्ष प्राप्ति कर सकता है।[3] गुरु-प्रेरित शिक्षा अनियमित अथवा सुनियोजित तथा सोद्देश्य होती है। सुनियोजित तथा सोद्देश्य शिक्षा को ही शिक्षा पद्धति के नाम से व्यवहार में लाया जाता है।[4]

स्मृतियों में चार प्रकार के शिक्षक माने गए हैं– कुलपति, आचार्य, उपाध्याय और गुरु। जो ब्रह्मर्षि विद्वान् दश सहस्र मुनियों (विद्या का मनन करने वाले ब्रह्मचारियों) को अन्न, वस्त्र आदि देकर पढ़ाता था, वह "कुलपति" कहलाता था। जो अपने छात्रों को यज्ञ करने की विधि और रहस्य के साथ वेद पढ़ाता था वह "आचार्य" कहलाता था जो विद्वान् मन्त्र और वेदाङ्ग पढ़ाता था, वह "उपाध्याय" कहलाता था। और जो विद्वान् अपने छात्रों को देकर वेदाङ्ग पढ़ाता

---

1. यथा घटप्रतिच्छन्न रत्नराजा महाप्रभा:।
   अकिंचित्करतां प्राप्तास्तद्वद्विधारचतुर्दश।। याज्ञ. स्मृ. 1, 212
2. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त:। अ. वे.11, 5/3
3. एवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोत्र्येऽथ सम्पत्स्य इति।।
   स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वम् तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेकेतो इतिभूय
   एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सौम्येति होवाच।। हा. उ. 6 / 2-3
4. कल्याण शिक्षाङ्क पृ. 78

था वह गुरु कहलाता था। उस समय यही विश्वास था कि विद्या-दान से बढ़कर कोई दान नहीं है क्योंकि विद्या पढ़ाने से जीवन की मुक्ति हो जाती है। इसलिए अनेक विद्वान् सब प्रकार की तृष्णा को त्यागकर लोक-कल्याण की कामना से छात्रों को विद्या दान करते ही रहते थे।[1] गुरु पूज्य होता था उसे "आचार्य देवोभव" की संज्ञा से विभूषित किया जाता था।[2] याज्ञवल्क्य ने भी गुरु की महत्ता का उल्लेख किया है। उनके अनुसार गुरु वह होता है जो उपनयन तक की क्रियाएं कराके ब्रह्मचारी को वेद की शिक्षा देता हे। मात्र उपनयन-संस्कार करके वेद की शिक्षा देने वाले को आचार्य कहते है थे।[3] वे के एक भाग या अङ्ग की शिक्षा देने वाले को उपाध्याय और यज्ञ-कर्म कराने वाले को ऋत्विज् कहते थे। ये सभी क्रमानुसार पूजनीय थे।[4]

याज्ञवल्क्य के अनुसार तद्युगीन समाज में पैसा लेकर पढ़ाने वाले अध्यापक तथा शिष्य दोनों हेय-दृष्टि से देखे जाते थे।[5]

शिक्षक की अनिवार्यता-

प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति गुरु की अनिवार्यता को प्रतिपादित करती है। गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। पुस्तकों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है और गुरु की सेवा में रहकर जो अध्ययन नहीं किया गया, उस ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य उसी प्रकार शोभित नहीं होता, जिस प्रकार जार के गर्भ धारण करके स्त्रियां शोभित नहीं होती।[6]

कठोपनिषद् में कहा गया है कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए शिक्षक का होना अनिवार्य है।[7] मुण्डकोपनिषद् का कथन है कि विद्यार्थी को चाहिए कि वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रुति को जानने वाले ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास समित्पाणि होकर जावें।[8]

शिक्षा को प्राप्त करने के लिए केवल एक ही शिक्षक पर्याप्त नहीं है, अपितु अनेक शिक्षकों की आवश्यकता है। एक ही गुरु सब विषयों का विशेषज्ञ नहीं होता। विभिन्न विषयों

---

1. क. शि. पृ. 1/4
2. तै. उ. 1/11
3. याज्ञ. स्मृ. 1/34
4. याज्ञ. स्मृ. 1/35
5. याज्ञ. स्मृ. 1/223
6. पुस्तकप्रत्याधीतं नाधीतं गुरु सन्निधौ।
   भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रिया:।। ना. स्मृ. 1/154
7. नरेणावरेण प्रोक्त एष: सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमान:। कठो. उ. 2/8
8. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।। मु. उ. 1 / 2, 12

की शिक्षा को प्राप्त करने के लिए छात्र विभिन्न विषयों के ज्ञाता शिक्षकों (गुरुओं) की सेवा में उपस्थित होते हैं। यह भी हो सकता है कि एक ही गुरु के पास रहते हुए शिक्षा में कोई विघ्न उपस्थित होने पर विद्यार्थी किसी अन्य गुरु की सेवा में चला जावे। "उत्तररामचरित" नाटक में वर्णन है कि वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में अध्ययन करने वाली एक तापसी, अध्ययन में विघ्न उपस्थित हो जाने पर वहां से अगस्त्य ऋषि के आश्रम में विद्या अध्ययन करने के लिए चली गई।[1]

शिक्षक की योग्यता

प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति का अध्ययन करते हुए यह जानना आवश्यक है कि प्राचीन काल में शिक्षक के लिए किन योग्यताओं को अनिवार्य समझा गया था तथा समाज में उनको किस प्रकार का सम्मान प्राप्त था।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में शिक्षक की योग्यता पर निम्न प्रकार से कहा गया है– यदि कोई विद्वान-शिक्षक बनना चाहता है, तो उसको प्रथम तो स्वीकृत पाठ्यक्रम का भली प्रकार से अध्ययन करना चाहिए और दूसरे ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर ब्रह्मचारी के सब नियमों का पालन करना चाहिए।[2] प्रश्नोपनिषद् के अनुसार शिक्षक का ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्मनिष्ठ होना आवश्यक है।[3]

शिक्षक की योग्यता का विस्तृत विवरण प्राचीन साहित्य में है। आचार्य और गुरु को अपने विषय का प्रकाण्ड पण्डित होना चाहिए। "आपस्तम्ब धर्मसूत्र" के अनुसार शिक्षक वंशपरम्परागत होता है और धर्म के पालन को अपना कर्त्तव्य समझता है।[4] आचार्य केवल तक विषय ही नहीं अपितु अनेक विषयों का पण्डित होता है। ज्ञान के अभिलाषी छात्र उसको घेरे रहते हैं। विषय का ज्ञान होने के साथ ही यह भी आवश्यक है कि शिक्षक अपने विषय का प्रतिपादन करने में तथा छात्रों को समझने में समर्थ हो। गुरु की वाणी उपदेश देने में कुशल होती है।

आचार्य तथा शिक्षक के नैतिक गुणों को भी बहुत महत्त्व दिया गया था। उसको अल्पवक्ता, धैर्यशाली, विद्या में पारंगत, दयालु, आस्तिक, पवित्र आचरण वाला, स्वाध्यायशील

---

1. अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति।
तेश्शेऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकि पार्श्वादिह पर्यरामि।। उ. रा. च. 2/3
2. ऋ. प्राति. अध्याय-15
3. तं हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठा परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति नेह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः। प्र. उ. 1/1
4. आ. ध. सू. 1, 1, 1, 12-17

और जितेंद्रिन्य होना चाहिये। आचार्य के लक्षण हैं–यशील और जितेंद्रिन्य होना, वृद्ध, लोभरहित, दंभ न करने वाला, विनम्र और मृदुस्वभाव।[1]

शिक्षक का आदर और सम्मान

समाज में गुरु (शिक्षक) को सबसे अधिक आदर और सम्मान दिया गया है, उसको साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश और परम ब्रह्म माना गया था।[2] गुरु का स्थान पिता से भी ऊपर है। पिता तो मनुष्य के भौतिक शरीर को उत्पन्न करता है परन्तु आचार्य उसको ज्ञान प्रदान करता है। अतः वह गुरु कहलाता है।[3]

राजा भी गुरुजनों का आदर करते थे। गुरु (शिक्षक) के अपमान को सहन किया जा सकता। शिक्षक का निरादर करना महान् पाप है। गुरुद्रोही की निन्दा की गई है। जो शिक्षकों की निन्दा करते हैं या उनको अपमानित करते हैं, उनका हृदय लज्जा से कट जाना चाहिए।[4]



1. वृद्धाश्चाऽलोलुपाश्चैव आत्मवन्तो ह्यदाम्भिकाः।
   सभ्यग्विनीताः मृद वस्तानाचार्यान् प्रचक्षते।। म.पु. 145, 29
2. गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुगुरुर्देवो महेश्वरः।
   गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।। रामा. 113, 3
3. पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ।
   प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात् स गुरुरुच्यते।। रामा. 113, 3
4. ये सत्यमेव हि गुरुनतिपातयन्ति।
   तेषां कथं नु हृदयं न भिनत्ति लज्जा।। मुद्रा. 3/33

वेदों का वाल्मीकि पर प्रभाव

डा० शारदा गुप्ता

रामायण विशुद्ध वेद के अर्थ के रूप में ही लोक के कल्याणार्थ आविर्भूत हुआ है। इन्हीं कारणों से रामायण का एक--एक वर्ण, (अक्षर) सभी महापातकों एवं उपपातकों का प्रशमन करने वाला है और परम एव चरम पुण्य का उत्पादक है।[1] रामायण के प्रारम्भ के सुंदर और मनोहरी श्लोक में कहा गया है कि परमात्मा वेदवेद्य है। कहने का भाव यह है कि परमात्मा नामक तत्त्व वह तत्त्व है जिसे वेदों के द्वारा ही जाना जा सकता है। जब परमात्मा पर ब्रह्म परमेश्वर लोक के हितार्थ दशरथ के पुत्र रघुनन्दन आनन्दधन राम के रूप में अवतीर्ण हुए।[2]

वेदों का अर्थ अत्यन्त गूढ़ है तथा रामायण के भावों में आर्जवता है। अत: रामायण के द्वारा ही वेदार्थ का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। महर्षि वाल्मीकि ने इस रहस्य का वर्णन इस रूप में किया है कि वेदों के समान पवित्र एवं पाप नाशक तथा पुण्यमय इस रामचरित को जो पढ़ेगा, वह सभी पापों से मुक्त हो जाएगा[3] अर्थात् वह सर्वाधिक परम पवित्र, सभी पापों का नाश करने वाला, अपार पुण्य प्रदान करने वाला तथा सभी वेदों के तुल्य है। इसे जो पढ़ता है वह सभी पाप से मुक्त हो जाता है। भगवान् श्रीराम चारों भाइयों के साथ महर्षि वशिष्ट के आश्रम में जाकर वेद का अध्ययन करते है। राजा जनक के गुरु पुरोहित याज्ञवल्क्य, गौतम, शतानन्द आदि सभी वेदों में निष्णात थे यहीं नहीं स्वयं रावण भी वेदों का बड़ा भारी विद्वान् पंडित था। उसके भाष्यों का प्रभाव सायण, उद्गीत, वयेकंट, माधव तथा मध्वादि के भाष्यों पर प्रत्यक्ष दीखता है। उसके यहाँ अनेक वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मण थे। हनुमानजी जब अशोक वाटिका में सीता जी को ढूंढते हुए पहुँचे तो अशोक वृक्ष पर छिपकर बैठे तब आधीरात के बाद उन्हें लंका निवासी वेदपाठी विद्वानों की वेदध्वनि सुनाई पड़ी।[4] रात के उस पिछले पहर में छ:हों अंगों सहित सम्पूर्ण वेदों के विद्वान् तथा श्रेष्ठ यज्ञों द्वारा

---

1. चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।,
   एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्।।
2. वेदवेधे परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
   वेद: प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मता।।
3. 1.1.98
4. 5.18.2

यजन करने वाले ब्रह्म राक्षसों के घर में वेदपाठ की ध्वनि होने लगी, जिसे हनुमान जी ने सुना। अयोध्या में तो वेदज्ञ ब्राह्मणों का बाहुल्य ही था। जब भरतजी हनुमान जी को वापिस करने चित्रकूट जाते हैं, तो अनेक वेदपाठी शिक्षक-छात्र, भरतजी के साथ चलते हैं। महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है कि कठ, कण्व, कपिष्ठल आदि शाखाओं के शिक्षक, याज्ञिक भरत जी के साथ चल रहे थे और भरत जी ने उनकी रुचि के अनुसार जलपान, भोजन आदि की पूरी व्यवस्था कर रखी थी। इसी प्रकार वनवास- काल में भगवान् श्री राम जी की आगे महर्षि अगस्त्य भेंट होती है। अगस्त्य जी का ऋग्वेद में 'आगस्त्यमण्डल' बहुत प्रसिद्ध है। अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा वेद के कई सूक्तों की द्रष्टा है। हनुमान जी कहते है कि वेदों के प्रकाण्ड विद्वान्-निष्णात पंडित थे। जब वे किष्किन्धा में भगवान् श्री राम से बाते करते हैं; तब श्रीराम जी लक्ष्मण जी से कहते हैं-[1] लक्ष्मण। इन शत्रुदमन सुग्रीवसचिव कपिवर हनुमान से; जो बात के मर्म को समझने वाले हैं; तुम स्नेहपूर्वक मीठी वाणी में बातचीत करो। जिसे ऋग्वेद शिक्षा नहीं मिली जिसने यजुर्वेद का अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेद का विद्‌वान नहीं है, वह इस प्रकार सुंदर भाषा में वार्तालाप नहीं कर सकता। निश्चय ही इन्होंने समूचे व्याकरण का कई बार स्वाध्याय किया है, क्योंकि बहुत-सी बातें बोल जाने पर भी इनके मुँह से कोई अशुद्धि नहीं निकली। सम्भाषण के समय इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौंह तथा अन्य सब अंगों से भी कोई दोष प्रकट हुआ हो, ऐसा कहीं ज्ञात नहीं हुआ। भाव यह है कि जब तक कोई अनेक व्याकरणों का ज्ञाता नहीं होगा, तब तक इतना सुंदर, शान्त एवं प्रसन्न-चित से शुद्धविशुद्ध सम्भाषण नहीं कर सकेगा। हनुमान जी जब लंका जाते हैं और रावण से बातचीत करते हैं, तो वेदों के सारभूत ज्ञान का निरूपण करते हैं। वे रावण से कहते है कि तुम पुलस्त्य-कुल में उत्पन्न हुए हो, वेदज्ञ हो तुमने तपस्या की है और देवलोक तक को भी जीत लिया है, इसलिए सावधान हो जाओ। तुमने वेदाध्ययन और धर्म का फल तो पा लिया, अब वेदविरुद्ध दुष्कर्मों का परिणाम भी तुम्हारे सामने उपस्थित दीखता है[2]। तुमने पहले जो धर्म किया था, उसका पूरा-पूरा फल तो यहाँ पा लिया, अब इस सीताहरणरूपी अध र्म का फल भी तुम्हें शीघ्र ही मिलेगा। चार मुखों वाले स्वयम्भू ब्रह्मा तीन नेत्रों वाले त्रिपुरनाशक रुद्र अथवा देवताओं के स्वामी महान् ऐश्वर्यशाली इन्द्र भी समराङ्गण में श्रीरघुनाथ के समाने नहीं ठहर सकते। अर्थात् जिनके तुम भक्त हो, वे त्रिनेत्रधारी त्रिशूलपाणि भगवान् शंकर अथवा चार मुख वाले ब्रह्मा या समस्त देवताओं के स्वामी इन्द्र-सभी मिलकर भी राम के वध्य शत्रु की रक्षा नहीं कर सकते। इसी प्रकार हनुमान जी ने रावण के समक्ष तर्कों से युक्तियों से राम को परब्रह्म परमात्मा और पर ब्रह्म सिद्ध किया। वे कहते हैं[3]। अर्थात् हे राक्षसराज रावण।

---

1. 4.3.27-30
2. 5.51.29-44
3. 5.51.38-39

मेरी सच्ची बात सुनो– महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी चराचर प्राणियों सहित सम्पूर्ण लोकों का संहार करके, फिर उनका नये सिरे से निर्माण करने की शक्ति रखते हैं। विभीषण को वेद का तत्त्वज्ञान थे। उन्होंने रावण को वेदज्ञान के आधार पर परामर्श दिया किन्तु उसने उनकी एक भी नहीं सुनी। इसलिए वेद को जानते हुए भी वेद विरुद्ध वह चल रहा था। भाव यह है कि वसिष्ठ जी महाराज वाल्मीकि रामायण की समाप्ति के समय प्रार्थना रूप में कहा गया है सम्पूर्ण वेदों के पाठ का जितना फल होता है, उतना ही फल इसके पाठ से होता है। इससे देवताओं की सारी शक्तियाँ बढ़ जाती हैं। पृथ्वी पर ठीक से वर्षा होती है। राजाओं का शासन निर्विघ्न चलता है। गौ- ब्राह्मण आदि सभी खूब प्रसन्न रहते हैं। सम्पूर्ण विश्व में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता और भगवान् विष्णु का बल बढ़ता जाता है।[1] इस प्रकार संक्षेप में यह समझाया गया है कि बिना रामायण के जाने वेद का ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। जो रामायण को नहीं जानता वह वेद के अर्थ को ठीक नहीं समझ सकता। इसलिए अल्पश्रुतों से वेद भयभीत से वेद भयभीत रहता है, कहता है कि यह अपनी अल्पश्रुतता से मेरे ऊपर प्रहार कर देगा।[2] वाल्मीकि ने जब प्रथम श्लोकबद्ध लौकिक साहित्य की रचना की, तब ब्रह्माजी उनकी मनः स्थिति समझकर हँसने लगे और मुनिवर वाल्मीकि से इस प्रकार बोले- 'ब्रह्मन्' तुम्हारे मुँह से निकला हुआ यह छन्दोबद्ध वाक्य श्लोकरूप ही होगा। इस विषय में तुम्हें कोई विचार नहीं करना चाहिए। मेरे संकल्प अथवा मेरी प्रेरणा ही तुम्हारे मुँह से ऐसी पवित्र एवं मनोरम कथा को श्लोकबद्ध करके लिखो। वेदार्थयुक्त समचरित का निर्माण करो-[3] आगे ब्रह्मा जी ने पुनः कहा - जब तक पृथ्वी पर्वत और समुद्र रहेंगें, तुम्हारी यह वाणी समस्त काव्य, इतिहास पुराणों का आधारभूत बीजमन्त्र बनी रहेगी। कहा जाता है कि सभी ब्राह्मण बालकों को सर्वप्रथम महर्षि वाल्मीकि के मुख से निकला हुआ यही श्लोक पढ़ाया जाता है-मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः। वत् कौश्चमिथुनादेक-मवधीः काम मोहितम्-[1]।



---

1. वा. रा. युद्धकाण्ड
2. काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी।
   देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भवः।।
3. महाभारत, आदिपर्व (1.268)
4. 1.2.15

साम्प्रदायिक सद्भाव में भारतीय धर्म और दर्शन की उपयोगिता

प्रो० केदारनाथ शर्मा

सम्प्रदायवाद के कारणों एवं उसके निदान पर विचार करने से पहले सम्प्रदाय शब्द के सामान्य अर्थ से परिचित होना आवश्यक है। सम्प्रदाय शब्द का सामान्य अर्थ है–कोई विशेष मत, धर्म, वर्ग, प्रचलित प्रथा, धार्मिक सिद्धान्त आदि।[1] किसी विशेष विचार या मत का एक का दूसरे को और दूसरे का तीसरे को अनुक्रमेण दिया जाना ही सम्प्रदाय है।[2] किसी धार्मिक गुरु के विचारों का अनुसार करने वाला अनुयायिवर्ग आदि। सम्प्रदाय का वाद ही सम्प्रदायवाद है।

समाज में व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि रूपों में विद्यमान विभिन्नताएं ही पृथक् इकाई अथवा वर्ग की सृष्टि करते हैं। व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह का अपनी जाति, धर्म, संस्कृति आदि को अन्य व्यक्ति अथवा व्यक्ति समुदाय की जाति, धर्म आदि से श्रेष्ठ समझने और दूसरों को हीन मानने से भेदभाव का जन्म तथा विकास होता है। भारत के संदर्भ में देखें तो वैदिक काल तक भारतीय समाज और संस्कृति में वर्ग या जाति के कारण किसी प्रकार की उच्चता और नीचता का भाव नहीं था।

भारत में साम्प्रदायिक या सामुदायिक संघर्ष का इतिहास ढूँढ़ने चलें तो उसकी एक निश्चित तिथि तय करना कठिन है। हड़प्पा, मोहनजोदड़ों के समय जो नगरीय संस्कृति थी उस समय सामाजिक संरचना कैसी थी इस विषय में जानकारी देने वाला कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। सामाजिक वर्गीकरण का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में मिलता है, जिसमें विराट् पुरुष के मुख, बाहु, जङ्घा और पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति की बात कही गई है।[3] इसमें किसी भी वर्ण के उच्च अथवा निम्न श्रेणी में होने का संकेत नहीं मिलता। पैर मानव-शरीर का भले ही सबसे निम्न-प्रदेश का अङ्ग हो परन्तु

---

1. आदर्श-हिन्दी-संस्कृत कोश, (रामस्वरूप शास्त्री); बाल-संस्कृत कोश (आर.एस. त्रिपाठी)।
2. *A Practical Vedic Dictionary (Suryakanta)* - सम्यक् प्रदाय प्रदाय एकोऽन्यस्मै सोऽप्यन्यस्मै इत्येवं प्रकारेण सम्प्रदायम्।
3. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
   ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भयां शूद्रो अजायत।। –ऋग्वेद, 10.90.12

शरीर में उसका महत्त्व किसी अन्य अङ्ग से कम नहीं है। मुख, बुद्धि या ज्ञान का प्रतीक है। बाहु शक्ति का प्रतीक है। जङ्घा स्थायित्व का प्रतीक है और पैर सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के भारवाहन का प्रतीक है। वैदिककाल की वर्ण-व्यवस्था क्षैतिज (*Horizontal*) थी, लेकिन धीरे-धीरे यह स्थिति बदलती गई। व्यक्ति के व्यवसाय चयन में स्वतन्त्रता समाप्त होती गई। समाज जैसे-जैसे और सुव्यवस्थित होता गया वैसे-वैसे वर्ण-चयन में स्वतन्त्रता भी समाप्त होती गई। धीरे-धीरे वर्ण का स्थान जाति ने ले लिया और जातिगत संकीर्णता बढ़ती चली गई। स्मृतिकाल में वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था में बदल गई और वर्ण-चयन में स्वतन्त्रता सर्वथा समाप्त हो गई। तब समाज का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग–शूद्र तीव्र भेदभाव और उपेक्षा का पात्र बना और यह वर्णगत भेदभाव सामाजिक विषमता, कटुता आदि का कारण बनने लगा। समय-समय पर विदेशी लोग, आक्रान्ता[1], व्यापारी[2], भ्रमणार्थी[3] इत्यादि रूपों में भारतवर्ष में आए। इनमें से कई तो आक्रमण कर और इस देश की सम्पत्ति लूटकर वापिस चले गए किन्तु अनेक लोग यहीं रच-बस गए। धर्म और संस्कृति में विभिन्नता के कारण परस्पर मतभेद तथा अनेकधा संघर्ष की स्थिति का सृजन भी हुआ। चौथी शताब्दी ईसा पूर्व सिकन्दर आक्रमणकारी के रूप में भारत आया और पुरुराज से उसका परम संघर्ष हुआ। वह स्वयं तो वापिस चला गया परन्तु उसका सेनापति सैल्यूकस तथा अन्य सरदार यहीं रह गए। द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व में इण्डो-ग्रीक मिलिन्द पश्चिम भारत में सबसे बड़े साम्राज्य का स्वामी बना। समय के प्रवाह में विविध संस्कृतियों के मेल स्वरूप कई धार्मिक सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय विकसित होते गए जिनके कारण वैचारिक असहिष्णुता एवं तज्जनय संघर्ष बढ़ने लगे। अपने सम्प्रदाय को श्रेष्ठ तथा दूसरे के सम्प्रदाय को हीन समझने-सिद्ध करने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व में अहिंसा के नाम पर अशोक के वंशजों द्वारा दिखाई जा रही कायरता तथा अकर्मण्यता के विरुद्ध जनमानस में तीव्र आक्रोश बढ़ने लगा, जिसकी अभिव्यक्ति उसके ही ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग के द्वारा राजा की परेड निरीक्षण के समय ही हत्या के रूप में हुई। बौद्धों के प्रति जन सामान्य का यह प्रथम विरोध-प्रतिक्रिया थी जिसे कुछ लोग प्रथम साम्प्रदायिक द्वेष एवं संघर्ष कहना पसन्द करते हैं। उसके पश्चात् भारत का शताब्दियों का इतिहास सामन्ती और शाहंशायी युद्धों से भरा पड़ा है। कभी इस्लाम जीता, कभी हिन्दू जीता, कभी अंग्रेज़ जीता परन्तु मानवता सदा हारती रही। चूंकि मरने वाले चाहे हिन्दू

---

1. 326 ई.पू. में सिकन्दर का आगमन (द्रष्टव्य, नंद-मौर्य युगीन भारत, सम्पादक - के.ए. नीलकंठ शास्त्री, पृष्ठ - 39, संस्करण - 1969); 712 ई. में अरबों का आक्रमण, 1191-92 ई. में मोहम्मद गौरी, मोहम्मद गज़नवी का आक्रमण, 1199-1125 ई. तक नालन्दा, विक्रमशिला, औदन्तपुरी के विध्वंसक-बख्तियार खिलजी का भारत में आक्रान्ता के रूप में ही प्रवेश हुआ।
2. जैसे–अंग्रेज़ों का भारत में व्यापारी के रूप में ही प्रवेश हुआ था।
3. जैसे, चौथी शताब्दी में फाहियान, ह्वेनसांग (ह्वानच्वांग), सप्तम शताब्दी में इत्सिग, अल्बरुनी भारत भ्रमण करने आए।

रहे हों, मुसलमान रहे हों, या ईसाई या यहूदी। वे सब थे तो मानव ही। मध्यकालीन भारत के इतिहास के लम्बे कालक्रम में जितने भी युद्ध हुए, उन सबके पीछे जो भी कारण रहे हों लेकिन विशुद्ध मानवीय दृष्टिकोण से देखने पर वे सब मानवता के ही शत्रु सिद्ध हुए।

भारत में 1947 के पश्चात् राष्ट्रवासियों के विविध धर्मों, मतों के अनुयायियों के मध्य जो खूनी संघर्ष हुए, उनमें धर्मान्धता या साम्प्रदायिकता ही मूल कारण रही। यदि स्वतन्त्रयोत्तर काल के इतिहास पर ही विचार दौड़ाएं तो भी साम्प्रदायिकता को देश की स्थिरता एवं सुख-समृद्धि के लिए सबसे हानिकारक माना जा सकता है। राजनीति या अन्य क्षूद्र स्वार्थवश राष्ट्र को रक्तरंजित करने के लिए जितने भी खेल खेले गए उनमें धर्म को किसी न किसी रूप में इस्तेमाल किया गया। यूं कहें कि बदनाम किया गया। लाखों निरीह लोगों के प्राणों को लीलने वाला भारत-विभाजन के समय (1947) का रक्त-पात हो, 1984 का सिक्ख-विरोधी हिंसा हो, 1½ दशक से अधिक समय से चला आ रहा कश्मीर का रक्त-रंजित इतिहास हो, मानवता के कलंकभूत भागलपुर काण्ड हो, बाबरी मस्जिद का विध्वंस हो, 90 के दशक का शृंखलाबद्ध मुम्बई बम काण्ड हो, गोधरा काण्ड हो या गोधरा कांड के प्रतिक्रिया के रूप में गुजरात दंगा हो, नन्दीग्राम कांड हो, असम या पूर्वोत्तर का अलगाववादी आंदोलन हो—इन सब में धर्म को किसी न किसी रूप में हथियार बनाया गया। कहते हैं 'इतिहास स्वयं को दुहराता है' यदि यह सच है तो आज जो हत्या करने वाले हैं, कल हत्या के पात्र अवश्य बनेंगे। एक हिंसा दूसरी हिंसा को जन्म देगी। समाज और राष्ट्र यूं ही रक्तरंजित होता रहेगा तब मित्रो! बंटता हुआ समाज, लड़ता हुआ राष्ट्र, कटता हुआ मानव किसी को अच्छा नहीं लग सकता। सम्प्रदायिक सद्भाव, धार्मिक सहिष्णुता, विश्व-मानव में परस्पर भाईचारे के सन्देश के लिए किसकी ओर आशा की निगाहों से निहारा जा सकता है?

बन्धुओं! यदि मुझे इसका उपाय सुझाने का अवसर दें तो एक धर्मपरायण मानव होने के नाते "धर्म" और 'भारतीय दर्शन' में छुपे हुए सन्देशों को ही साम्प्रदायिक सद्भाव, परस्पर स्नेह एवं विश्व शान्ति के लिए परम उपाय के रूप में सुझाना चाहूँगा।

स्वातन्त्र्योत्तर-भारत में ही जितने साम्प्रदायिक दंगे हुए, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया; उनके पीछे किसी न किसी रूप में धर्म का इस्तेमाल अवश्य हुआ। यहां धर्म से तात्पर्य धर्म का वह संकुचित और अधिक स्पष्ट से कहें तो धर्म के उस विकृत-स्वरूप से है जो एक समाज, राष्ट्र या विश्व की भिन्न-भिन्न धार्मिक विचारधारा रखने वाले लोगों के पूजा-पद्धति से सम्बद्ध है। यह धर्म मानव को मानव के रूप में न देखकर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख आदि के रूप में देखता है, और उन्हें आपस में लड़ाता है, समाज में, राष्ट्र में; साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाता है। इस धर्म से मानव-कल्याण की आशा तो नहीं की जा सकती। हाँ, मानव-मानव के बीच में परस्पर द्वेष बढ़ाने कलह के बीज को पनपने, का अवसर प्रदान करने में सहायक होगा।

साम्प्रदायिक-विद्वेष के जनक, साम्प्रदायिक सद्भाव के शत्रु इस "धर्म" को मिटाकर ही हम राष्ट्र या विश्व को साम्प्रदायिक विद्वेष के जाल से मुक्त कर सकते हैं और मानव को हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख आदि समुदायों में न बाँटकर सबमें एक ही मानवता का दर्शन कर सकते हैं। जब सबमें एक ही मानव की पहचान हो जाएगी तब धर्म के नाम पर लड़ाने वालों की दुकान भी बंद होगी।

साम्प्रदायिक विद्वेष के शमन और साम्प्रदायिक सद्भाव के ऐकान्ति उपाय-धर्म और दर्शन

अब मैं विद्वान् विचारकों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करना चाहूंगा कि यदि धार्मिक असहिष्णुता, कट्टरता और धर्मान्धता यदि साम्प्रदायिक विप्लव के कारण हैं तो इसका समाधान और सबसे सशक्त उपाय भी धर्म और भारतीय दर्शन के मूल सन्देश एकेश्वरवाद के सन्देशों में छिपे हैं।

साम्प्रदायिक सद्भाव के उपाय के रूप में जिस धर्म की चर्चा करना चाहता हूँ वह "धर्म" किसी एक देवता या सम्प्रदाय विशेष के प्रति आस्था या अनुकरण मात्र नहीं है। यह धर्म वह है जिसे हमारे मानवतावादी ऋषि याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार परिभाषित किया है–

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दया दमः शान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्।।[1]

अर्थात् धर्म होता है–प्राणिमात्र की अहिंसा से, सत्य से, अचौर्य से, शरीर और मन की पवित्रता से, इन्द्रिय निग्रह से, दान से, दया से, संयम से और क्षमा से। मानव-जीवन के लिए कितना मङ्गलमय है और धर्म का यह संदेश। लेकिन हमारे देश में कितने नागरिक हैं, जो इस "धर्म" द्वारा सुझाये मार्ग पर चलकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं? सच तो यह है कि इस पर चलना तो क्या हम, इसके अर्थ तक को भी पूरी तरह नहीं समझते। वरना आज हम धर्म का नाम लेकर इन्सानी खून की होलियां नहीं खेल रहे होते। कोई भी सच्चा धर्म मानव की हिंसा का समर्थन नहीं करता। जब-जब भी देश में धर्म के नाम पर दंगों का समाचार मिलता है मैं अपने से ही प्रश्न कर बैठता हूं क्या–हम सचमुच धर्म के लिए लड़ते हैं? धर्म तो धारण करने की वस्तु है–"धारणात् धर्मः"। जो वस्तु हमें, हमारे समाज को, हमारे देश को और समूची मानव जाति को धारण करती है वही धर्म है। यह धर्म समस्त संसार को धारण करता है। जो धारक है वह भला विनाशक कैसे हो सकता है। सभी धर्मों के मूल में मानव-हित की भावना होती है। भिन्न-भिन्न धर्मों के सिद्धान्तों में अन्तर होते हुए भी सबका

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति – अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। एतं सामासिकं धर्म चार्तुवर्ण्येऽब्रवीन्मनुः। - मनुस्मृति, 10.63

प्रयोजन एक ही हैं। जिनका मुकाम एक हो, रास्ते अनेक होने से क्या फर्क पड़ता है?

भारतीय धर्म/दर्शन में धार्मिक सहिष्णुता का संदेश

धार्मिक उन्माद, साम्प्रदायिक-विद्वेष एवं तज्जन्य संघर्षों का प्रमुख कारण परस्पर एक-दूसरे के पंथों/सम्प्रदायों, धर्मो के विचारों को सम्मान न देने, उसका द्वेष करने से होता है। धर्म चाहे इस्लाम का हो, ईसाईयों का हो, हिन्दुओं का हो, या बौद्धों और सिक्खों का। सभी का लक्ष्य या उद्देश्य मानवमात्र का ही नहीं अपितु प्राणीमात्र को सुख देना है, उनकी कल्याण-कामना है। हमारे ऋषियों, दार्शनिकों और फकीरों का यह सन्देश कि कोई भी मानव दूसरे मानव से छोटा या बड़ा नहीं। यहां तक कि प्रकृति या ईश्वर द्वारा रचित सृष्टि के समस्त प्राणी एक-दूसरे के सहवासी हैं। तब, मिलकर, हंसकर रहने में और रहने देने में ही जीवन का यथार्थ है। न कि दूसरों के विचारों, आस्थाओं या जीवन-शैली से असहिष्णु बनकर उनका प्रतिवाद करने, उनसे युद्ध करने या उनकी हिंसा करने में है।

इसका असली निदान भी भारतीय दर्शन में सुझाया गया "सर्व-धर्म समभाव" ही है। भारतीय दर्शन में **'एको वै ब्रह्म', "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या",** कहकर परमसत्ता को ब्रह्म या **ईश्वर का नाम** भले ही दिया गया हो, लेकिन उसे अन्य धर्मोंखऔर उनकी जीवन-पद्धति से कोई विरोध नहीं। सर्वशक्तिमान् परमसत्ता को कोई चाहे 'अल्लाह' कहे, कोई God कहे या एक 'ओंकार' कहे, उससे उसकी सत्ता, स्वरूप और उसके महत्त्व पर कोई फर्क उसी प्रकार नहीं पड़ता जिस प्रकार आम के फल को अंग्रेज़ों के Mango कहने से, हिन्दी भाषियों के आम कहने से, पंजाबियों के 'अंब' और नेपाली भाषियों के 'आँप' कहने से उसके अस्तित्व, उसके स्वाद और उसके महत्त्व पर कोई फर्क नहीं पड़ता। इसी आशय को हमारे ऋषियों ने **"एकंसद् विप्राः बहुधा वदन्ति"**[1] कहकर व्यक्त किया है। भारतीय संस्कृति के इस सर्वधर्मसमभाव के सन्देश को समझकर देश या वैश्विक स्तर पर धर्म की आड़ में होने वाले खून-खराबे, असंतोष और भय को दूर करने आवश्यकता है, अन्यथा जो लोग धर्म की राजनीति और उसका व्यवसाय करते हैं, वे निरन्तर धर्म को विषमय बनाते रहेंगे और एक धर्मावलम्बियों को अन्य धर्मावलम्बियों से लड़ाते रहेंगे।

किसी धर्म विशेष को मानना खतरनाक नहीं होता, खतरनाक होता है दूसरे धर्म को बर्दाश्त नहीं करना। किसी एक धर्म के सभी विचार किसी दूसरे धर्मावलम्बी को अच्छा नहीं लग सकता है। लेकिन उसमें से अच्छी बातों को लेने में कोई परहेज़ नहीं होना चाहिए। औपनिषदिक ऋषि ने इसी भाव को इन शब्दों में कहा–**आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः**[2]

---

1. ऋग्वेद 10.164.46, - मिलाइए - "एकं रूपं बहुधा यः करोति। - कठ. 2.5.12
2. यजुर्वेद, 25.14

(*Let noble thoughts come everywhere*) जैसा कि इस्लाम के पवित्र ग्रन्थ 'कुरान' में लिखा गया है–**"लुकुम दीनुकुम वलिय दीन"**[1] (*To you, your religion, to me, my religion*)– तुम अपने दीन पर, हम अपने दीन पर, न किसी से कोई घृणा, न किसी के प्रति कोई द्वेष, न कोई आग्रह, न कोई बड़ा, न कोई छोटा, सभी के प्रति सद्‌भाव, सभी की भलाई की कामना। तब न द्वेष होगा, न परस्पर द्वन्द।

भारतीय दर्शन की विश्वबन्धुत्व भावना

उपनिषद् का ऋषि न तो किसी एक मत या सम्प्रदाय का पक्ष लेता है और न दूसरे के मत या विचार का खण्डन ही करता है। वह तो पूरे विश्व के मानवों को एक ही परिवार का सदस्य मानता है। उसकी दृष्टि में विश्व का हर मानव एक ही 'ईश्वर', एक ही 'अल्लाह' एक ही '*God*' और एक ही 'ओंकार' की सन्तानें हैं। उस सबका एक ही चिन्तन या एक ही दृष्टि हो यह न केवल अनावश्यक है, अपितु मानव-प्रकृति के विरुद्ध भी। जैसा वेद या उपनिषद् का चिन्तन है वैसा ही इस्लाम या क्रिश्चन भी मानें तथा जैसा कुरान और हदीस में है, वैसा ही चिन्तन विश्व के सारे मानवों का हो जाए यह असम्भव है। समान चिन्तन की बात ही सिद्धान्ततः बड़ी भूल है। किसी एक विषय पर दो व्यक्तियों का भी कभी एक ही विचार या चिन्तन सम्भव नहीं तो करोड़ों लोगों के विचार और चिंतन कैसे एक हो सकते हैं? धार्मिक या साम्प्रदायिक विद्वेष बढ़ाने में लगे लोगों को यह बात भली-भांति समझ लेनी चाहिए कि दूसरों की आस्थाओं या मतों के प्रति असहिष्णु होना और अपने विचार या सम्प्रदाय को श्रेष्ठ समझ या बताकर दूसरों पर थोपन का किसी भी प्रकार का प्रयत्न करना अन्ततः अन्याय और आक्रमकता में ज़ोर-जबरदस्ती में, साम्प्रदायिक खून-खराबे में ही परिवर्तित होगा। भारतीय दर्शन और विचारशास्त्र का ध्येय एक समाज, देश या किसी विशिष्ट विचारधाराओं के कल्याण के लिए न होकर सृष्टि के समस्त चराचर जगत् के सह-अस्तित्व और समान महत्त्व पर बल देता है। उसके चिन्तन का निष्कर्ष सृष्टि के सब पदार्थों में चाहे जड़ हो या चाहे चेतन हो, चाहे मानव हो, या पशु, या कीट-पतंग या लोष्ठ (मिट्टी का ढेला) हो सब के सब एक ही परमसत्ता के अंश हैं। इस दृष्टि से चाहे कोई शास्त्र-ज्ञाता पण्डित हो या चाण्डाल, गौ हो या कुत्ता इन सबमें अन्त कैसा?[2] इतना ही नहीं भारतीय दार्शनिक चिन्तन की पराकाष्ठा तो महाभारतकार 'व्यास' के इस कथन में प्रकटित होती है–जिसमें मृग, ऊँट, गधा, चूहा, साँप, कीड़े, पक्षी और मक्खी को अपने पुत्र के समान समझने की बात कही गई है।[3] भारतीय दर्शन की चिन्तनसार से अनुस्यूत जो धर्म कीट-पतंगों, पशुओं में भी आत्मदर्शन

---

1. कुरान
2. विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
   शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। - गीता 5.18 एवं द्रष्टव्य 6.9, 30
3. भृगोष्ट्रखरमाखुसरीसृपरवगमक्षिकाः। आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामान्तरं क्रियत्। - श्रीमदभागवत, 7.14.1

करता हो वह भला मानव-मानव के बीच उनकी आस्थओं के आधार पर कलह का कारण कैसे बन सकता है? ऐसे धर्म और दर्शन में साम्प्रदायिक सद्भाव का उपाय ढूंढ़ने वाला गीता के समत्व बुद्धि का यह सुझाव आज भले ही हास्यास्पद एवं व्यर्थ प्रतीत हो लेकिन **"सर्वे भवन्तु सुखिनः"** का भाव जीवन में उतारे बिना साम्प्रदायिक विद्वेष, आतंकवाद, हत्या, अत्याचार, बाल/नारीशोषण, प्रकृति का विनाश जैसे संकटों से धरा को मुक्त कर पाना दिवास्वप्न ही हो सकता है। प्रकृति के हर तत्त्व के प्रति समुचित आदर, मानव में परस्पर भ्रातृ-भाव, सहिष्णुता, सब पदार्थो, व्यक्तियों में परमात्मा के अंश-दर्शन से ही मानवीय हिंसाओं, युद्धों, अत्याचारों एवं प्राकृतिक विक्षोभों से सुरक्षित रहा जा सकता है। कीट-पतंगों, पशु-पक्षियों एवं मानवमात्र में परमसत्ता का दर्शन करने वाले भारतीय दर्शन के इस दृष्टिकोण को आज के मानवाधिकारवादियों, पर्यावरणवादियों, भूपारिस्थिकी के पक्षधरों वन्यजन्तु संरक्षणतावादियों की चिन्ताओं में देखा जा सकता है।

अन्त में मैं इस सभागार में उपस्थित इतिहास के विद्वानों से निवेदन करना चाहता हूँ कि यदि यह सच है कि **'इतिहास अपने आप को दोहराता है'**–तो आज जो मारने वाले हैं कल वे भी मर जाएगें। कल जो मारने वाले होंगे परसों उनको भी कोई मारने वाला उत्पन्न होगा। इस प्रकार हत्यायों-प्रतिहत्याओं के चक्र से मानव जाति को कभी न मुक्ति मिल सकेगी। अतः मानव जाति को ऐसे मानवीय धर्म और दर्शन से परिचित कराना ही साम्प्रदायिक विप्लव जैसे मानवता-विरोधी कृत्यों से मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय होगा, जिसमें न कोई ज़ोर-जबरदस्ती होगी, न आक्रामकता होगी, न युद्ध होगा, न हिंसा होगी और न असहिष्णुता होगी। होगा तो केवल मानवीय भाईचारा, कल्याण और सिर्फ कल्याण। एक वाक्य में कहूँ तो असहिष्णुता, द्वेष और हिंसा ने जो विकृतियां मानव को दी हैं उनका प्रतिकार सहिष्णुता, करुणा और मैत्री तथा अहिंसा से ही किया जा सकता है। यह उपाय दुःसाध्य तो है परन्तु एकमात्र उपाय भी–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे भवन्तु निरामयः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिदद्दुखभाव भवेत्॥



शैवी अद्वैत भावना और आत्मोपलब्धि

प्रो॰ जागीर सिंह

लोक एवं लौकिक साहित्य में 'भावना' अथवा 'भाव' शब्द प्राय: श्रद्धा, गुरु-सच्छास्त्र अथवा ईश्वर के लिये सहज भक्तिभाव-आदरभाव के लिये प्रयुक्त होता आया है।[1] जैसे कहा भी जाता है-'मन्त्र, तीर्थ, द्विज (ब्राह्मण, विद्वान्), वैद्य, गुरु, औषधि एवं देवता के प्रति जैसी भावना रखी जाती है, वैसा ही फल मिलता है[2]।' गीता[3], रामायण[4], पुराण, श्रुति[5] एवं सन्त साहित्य आदि में यत्र-तत्र इसके उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन विषयक साहित्य में भावना अथवा भाव शब्द का प्रयोग अन्तर्मुख (Introvert) उद्यन्तृता पद विमर्शन (Emergence, revelation, opening out of the real nature of the true self or ultimate Reality) के अर्थ में किया गया है। इसी का पर्यायवाची 'उन्मेष' अथवा 'उद्यम' शब्द मिलता है। जैसे श्रीस्वच्छन्द तन्त्र में कहा गया है कि जो पुरुष स्वात्मा में भैरवरूप की भावना करता है, वह नित्य युक्त (योगस्थ, समाधिस्थ आत्मा-परमात्मा की एकाकार अनुभूति की दशा वाला) होता है। श्रीस्वच्छन्द तन्त्र के अनुसार भगवान् शिव पार्वती से कहते हैं कि इसीलिये उस पुरुष द्वारा उच्चरित मन्त्र अथवा कथन सदैव सिद्ध होता है अर्थात् निर्धारित लक्ष्य अथवा अभीष्ट साधन में सदा सफल होता है।[6] माहेश्वराचार्य क्षेमराज ने शिवसूत्र विमर्शिनी में 'भावन' का अर्थ अन्तर्मुखीभाव से आत्मस्वरूप के उच्छलन (emergence of the Real-self) का विमर्शन (awareness) करना बतलाया है।[7] सिद्ध वसुगुप्त स्पन्दशास्त्र

1. (क) ''देवानुस्मरणं भाव: सहजं तं विजानत'' - स्वच्छ.तं., 8/2
   (ख) ''भाव: सहजस्तत्तद्भक्तियुक्त आशय:'' - स्वच्छ.तं.उ., 8/1
2. 'मन्त्रे तीर्थे द्विजे भेषजे, देवे च गुरौ।
   यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।।' - पं.तं.
3. 'यो यच्छ्रद्धा स एव स:' - भ.गी., 17/3
4. 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूर्ति देखी तिन तैसी।।' - रा.च.मा., बा.का.
5. (क) 'यथाकाम: तथाचारी' - श्रुति
   (ख) श्वेत.उप., 6/23
6. 'आत्मनो भैरवं रूपं भावयेद्यस्तु पूरुष:।
   तस्य मन्त्रा: प्रसिद्धयन्ति नित्ययुक्तस्य सुन्दरि।।' - स्वच्छ.तं.
7. 'भावनं हि अत्र अन्तर्मुखोद्यन्तृतापदविमर्शनमेव' - शि.सू.वि., 1/5

में कहते हैं कि आत्मा के 'उन्मेष' (Revelation) का अनुभव प्रत्येक जीव (साधक) को करना चाहिये।[1] शिवसूत्र विमर्शिनी इसे स्पष्ट करते हुये कहती हैं कि प्रसरद्रूपा विमर्शमयी संवित (I-Consciousness) के एकदम उच्छलनरूप पर प्रतिभा के उन्मज्जनरूप को 'उद्यम' कहते हैं।[2] भगवान् शिव इस उद्यम की दशा को भैरव की दशा अभिव्यक्त करते हैं।[3] इसीलिये श्री विज्ञान भैरव में कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु को तन्मय (शिवमय, आत्मरूप) भावित करने वाला संसार-सागर से पार हो जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है।[4] यही नहीं, श्री विज्ञान भैरव में परिपूर्ण अवस्था अर्थात् स्वात्मा की सर्वथा पूर्णता को भावित करने से महानन्द का अनुभव होना बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि दुनियावी विषयों के अनित्य भोगों के सुख की अपेक्षा स्वात्म महेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता एवं सर्वथा परिपूर्णता की भावना शाश्वत् अगाध आनन्द को अभिव्यक्त कर देती है, जो नित्य आनन्द का असीम अनुभव प्रदान करती है।[5]

माहेश्वराचार्य उत्पलदेव ईश्वर प्रत्भिज्ञा में अद्वैत 'भावना' अथवा 'भाव' के पर्याय अर्थ में ही आगमसम्मत **'समावेश'** शब्द का प्रयोग करते हैं। **सम्** से तात्पर्य है–**सम्यक्**, भलीप्रकार, पूर्णरूप से और **आवेश** से अभिप्राय है--**'आ'**–समन्ततः, सभी ओर से, पूरी तरह, **विश्**--प्रवेश करना, एकाकार होना अर्थात् पूर्णरूप से परमार्थ आत्मस्वरूप की अनुभूति। इस अवस्था में चिदात्मा में ज्ञान और क्रिया का प्राधान्य होता है तथा शून्यादि शरीर गौण हो जाता है अर्थात् स्वात्ममहेश्वर का यथार्थ रूप अभिव्यक्त हो जाता है और स्थूल शरीरादि में अभिमान नहीं रहता।[6] तन्त्रालोक में अभिनवगुप्त इसके लिये **''आवेश''** शब्द का प्रयोग करते हुये कहते हैं कि यह ऐसी अनुभूति है जिसमें परतन्त्र जीव 'मेरा-तेरा' (अपना-पराया) का भेद भूलकर शक्ति से अभिन्न और स्वतन्त्र परमार्थ शिवरूपता में निमग्न हो जाता है।[7] सिद्ध सोमानन्द शिवदृष्टि में अभिव्यक्त करते हैं कि यह अद्वैत भावना प्रमाण, शास्त्र अथवा गुरु (सिद्ध महापुरुष) के उपदेश से प्राप्त कर जब उसमें दृढ़ता (पूर्ण विश्वास) आ जाती है, तो

---

1. 'उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत्' - स्प.का., 3/9
2. 'योऽयं प्रसरद्रूपाया विमर्शमय्याः संविदो झगिति
   उच्छलनात्मकपरप्रतिभोन्मज्जनरूप उद्यमः स एव।' - शि.सू., 1/5
3. 'उद्यमो भैरवः' - शि.सू., 1/5
4. 'अतश्च तन्मयं सर्वं भावयन् भवजिज्जनः' - वि.भै., 100
5. ''भावयेद् भरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत्'' - वि.भै., 72
6. ''मुख्यत्वं कर्तृतायास्तु बोधस्य च चिदात्मनः।
   शून्यादौ तद्गुणो ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम्।।'' - ई.प्र., 3/23
7. ''आवेशश्चास्वतन्त्रस्य स्वतद्रूपनिमज्जनात्।
   परतद्रूपता शम्भोराद्याच्छक्त्यविभागिनः।।'' - तं.आ., 1/205

पुनः किसी साधन (उपाय) अथवा भावना की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि तब शुद्धाहं की चेतना शाश्वत् अनुभूत होने लगती है और सब शिव-शक्तिमय परिलक्षित होता है।[1] इसीलिये भगवान् शिव सिद्ध वसुगुप्त के माध्यम से शिवसूत्रों के उपदेश से सभी जीवों के कल्याण हेतु बतलाते हैं कि ऐसी बात नहीं है कि आत्मा का साक्षात्कार केवल समाधि की ही अवस्था में अनुभूत किया जा सकता हो, अपितु यह जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति आदि की अवस्थाओं में भी अनुभव किया जा सकता है।[2] इसीलिये साधक को भी निर्देशित किया गया है कि शुद्ध शिवचेतना का अनुभव तीनों (सृष्टि-स्थिति-लय अथवा जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति) दशाओं में अनुभूत करते रहना चाहिये अर्थात् यद्यपि माया प्रभावित जीव शरीरादि में अभिमान के कारण तत्-तद् विषय अभिष्वङ्ग (Touch or experience of various objects) के प्रसङ्ग में होने वाले अकस्मात् आत्माच्छुरित आनन्द (Sudden flash of the bliss of the self) को पहचानता नहीं है, परन्तु यदि वह उस सुख के मूलस्रोत आत्मा के आनन्द का ही उन-उन दशाओं में विमर्शन करे, तो वह शिवरूप ही हो जाता है।[3]

श्रीविज्ञान भैरव में भगवती भैरवी से भगवान् भैरव ने बतलाया है कि बार-बार परमभाव (परमकारण, पराशक्ति, परमशिव, आत्ममहेश्वर) में जो भावना भावित होती है, वास्तव में वही यथार्थ **'जप'** है, यही मन्त्र की आत्मा (सार, वीर्य, शक्ति) है और अनाहत नाद (शब्द) है।[4] जिज्ञासा हो सकती है कि इस प्रकार की अद्वय भावना होने पर तो जप, तप, व्रत, होम, स्नान, दान, यज्ञ, तीर्थाटन आदि की कोई उपयोगिता नहीं रहेगी, क्योंकि जब सब कुछ देवीमय अथवा शिवमय ही है, तो मन्त्र और मन्त्र देवता एवं मन्त्री सभी अभेदरूप ही होंगे? इस पर भगवान् शिव कहते हैं कि ये सभी बाह्य प्रक्रियायें (External means) स्थूल (भेद) दृष्टि (Low mental status) वालों के लिये कही गई हैं[5] और अन्ततो गत्वा इन का पर्यवसान अथवा विश्रान्ति अद्वैत दृष्टि (अभेद भावना) में ही निहित है। इसीलिये श्रीकालिकाक्रम अनुसार भगवान् भैरव कहते हैं कि योग्य ब्रह्मवित् योगी गुरु से सदैव भलीप्रकार जीव और शिव के ऐक्य (योग) को समझकर निर्विकल्प भाव से तन्मयत्व (शिवत्व) की भावना दृढ़ता

---

1. ''सकृज्ज्ञाते सुवर्णे किं भावना करणं व्रजेत्।
एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः।।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना।
करणेन नास्ति कृत्यं नापि भावनयापि वा।।'' - शि.दृ.,
2. ''जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तभेदे तुर्याभोगसम्भवः'' - शि.सू., 1/7
3. ''त्रिपदाद्यनुप्राणनम्'' - शि.सू., 3/38
4. ''भूयोभूय परे भावे भावना भाव्यते हि या।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः।।'' - वि.भै., 142
5. ''श्री भैरव उवाच - एषाऽत्र प्रक्रिया बाह्या स्थूलेष्वेव मृगेक्षणे।।'' - वि.भै., 141

से करनी चाहिये जिससे वह शिवरूप ही हो जाता है।[1] ऐसा ही शिवसूत्रों में कहा गया है।[2] ज्ञानगर्भ स्तोत्र में भी कहा गया है कि जब साधक (जीव) सभी प्रकार की मानसिक क्रियायें (इच्छायें, संकल्प-विकल्प) त्याग देता है अर्थात् अविकल्प संवित्स्पर्श की स्थिति (touch of awareness of the Real self freed of all thought-construct) में होता है और सभी अन्तः वाह्य इन्द्रियों की क्रियाओं की परवशता (परतन्त्रता) से विमुक्त हो जाता है, तब आपके अनुग्रह से अद्वैतमयी भावना से ओतप्रोत होकर एकदम उस परादशा को प्राप्त हो जाता है, जो असीमित एवं अद्वितीय अमृतानन्द को निष्यन्दित करने वाली है।[3] श्रीकण्ठीसंहिता अनुसार कहा गया है कि यदि जीव इस प्रपञ्चसहित त्याज्य-ग्राह्य, तृणादि, पर्ण (Leaf), पत्थर, स्थावर-जङ्गम, शिव प्रभृति पृथिवी पर्यन्त भाव-अभावरूप में विस्तृत विश्व (द्वैतभाव प्रसरण) को छोड़कर सब को शिवमय भावित करता है, तो उस का पुनः संसरण (जन्म-मरणरूप आवागमन) नहीं होता है।[4] शिव भावना (विश्वात्मक परमशिव ऐक्य, शिवाभिन्न स्वात्म ऐक्य विमर्श) से सभी तत्त्व, भूत, वर्ण, मन्त्र जो भी ज्ञात हैं, वे सभी साधक के अधीन हो जाते हैं।[5] महर्षि पतञ्जलि योगसूत्रों में बतलाते हैं कि ईश्वर के स्वरूप की भावना (स्वात्मैक्य अनुभूति) ही वास्तविक जप होता है।[6] यही सत्य शैवागमों में बहुशः कहा गया है और जब साधक इस अद्वैत विमर्श की भावना के प्रकर्ष से तन्मयत्व को प्राप्त हो जाता है, तब वह योगियों का भी स्वामी हो जाता है।[7] राजानक क्षेमराज इस अद्वैत भावना के रहस्य को

---

1. ''तस्मान्नित्यमसंदिग्धं बुद्ध्वा योगं गुरोर्मुखात्।
अविकल्पेन भावेन भावयेत्तन्मयत्वतः।।
यावत्तत्समतां याति भगवान्भैरवोऽब्रवीत्।'' - तथा च श्रीकालिकाक्रमे

2. ''शिवतुल्यो जायते।।'' - शि.सू., 3/25

3. एतदेव ज्ञानगर्भ स्तोत्रे–
''विहाय सकलाः क्रिया जननि मानसीः सर्वतो,
विमुक्तकरणक्रियानुसृतिपारतन्त्र्योज्ज्वलम्।
स्थितैस्त्वदनुभावनः सपदि वेद्यते सा परा,
दशा नृभिरतन्द्रितासमसुखामृतस्यन्दिनी।।''

4. यदुक्तं श्रीकण्ठ्याम्–
''सप्रपञ्चं परित्यज्य हेयोपादेयलक्षणम्।
तृणादिकं तथा पर्णं पाषाणं सचराचरम्।।
शिवाद्यवनिपर्यन्तं भावाभावोपबृंहितम्।
सर्वं शिवमयं ध्यात्वा भूयो जन्म न प्राप्नुयात्।।''

5. ''सर्वतत्त्वानि भूतानि वर्णा मन्त्राश्च ये स्मृताः।
नित्यं तस्य वशास्ते वै शिवभावनयानया।।'' - स्वच्छ.तं., 7/245

6. ''तज्जपस्तदर्थभावना'' - यो.सू., 1/28

7. ''तन्मयत्वं यदाप्नोति योगिनामधिपो भवेत्।'' - स्वच्छ.तं., 4/274

उद्घाटित करते हुये कहते हैं कि शिव भावना से तात्पर्य है शिव के चिदानन्दघन विश्वात्मक स्वरूप के साथ स्वात्मा की एकाकारता का अनुभव, न कि किसी रूप, रंग आकृति विशेष का चिन्तन[1], क्योंकि उस दशा में पूर्णाभेद सम्भव नहीं होता, जबकि तन्मयता में ही पूर्णैक्य सम्भव है।[2] जिज्ञासा हो सकती है कि इस अद्वैत भावना का पर्याय आत्मोपलब्धि में पर्यवसित होता है, तब इस प्रकार की दशा में मन की स्वाभाविक चञ्चलता का प्रभाव रहता है अथवा नहीं? इसके प्रत्युत्तर में स्वच्छन्दतन्त्र बतलाता है कि यद्यपि मन योगियों को भी बलपूर्वक भोगाभिलाष में फंसाने की सामर्थ्य रखता है[3], तथापि जो साधक सभी प्रकार से निश्चल, निराकाङ्क्ष होकर परतत्त्वरूप भाव में अवस्थित रहता है, उसका मन चलित (चञ्चल) नहीं होता, क्योंकि वह सर्वावस्था को अर्थात् विश्वमयता (Universality) को प्राप्त हो जाता है।[4] जहाँ-जहाँ भी मन जाता है, वहाँ-वहाँ ज्ञेय परमतत्त्वरूप स्वात्ममहेश्वर को ही भावित करता है, इसलिये मन की चञ्चलता कहाँ जाये अर्थात् प्रभावित करे, जबकि सब कुछ शिवमय ही भावित होती है।[5] सिद्ध सोमानन्द भी शिवदृष्टि महाशास्त्र में इस तथ्य का समर्थन करते हुये कहते हैं कि शिवभावना रूपी औषधि से मन को सन्तृप्त कर लेने पर संसार में काष्ठ-कुड्यादि में रस की तरह सर्वत्र शिवरस ही अनुभूत होता है।[6] श्री विज्ञान भैरव भी यही कहता है कि अद्वैत भावना के प्रभाव से प्रभावित मन बाह्य सांसारिक विषयों अथवा सुख-दुःख क्लेशरूप आन्तर अनुभूतियों को प्राप्त होने पर भी व्यापकत्व के कारण सर्वत्र आत्मोपलब्धि होने से कुछ नहीं कर पाता अर्थात् अद्वैत भावना के संस्कार से संस्कृत मन हर वस्तु में आत्मा का ही रूप, प्रसरण, प्रकाश देखता है, अतएव वह चलायमान नहीं होता।[7] ऐसा साधक न दिन में जागता (भेद व्यवहार करता) है, न रात्रि (माया, अज्ञान) में सोता है, अतएव दिन-रात्रि के व्यवहार से रहित स्वभाव में अवस्थित रहता है।[8] स्पन्दशास्त्र अनुसार भी उसे तीनों अवस्थाओं

---

1. ''शिवस्य च चिदानन्दघनतयैव ध्यानं, न त्वाकारेण'' - स्वच्छ.तं.उ., 4/271
2. ''शिवं ध्यात्वा तु तन्मयः'' - स्वच्छ.तं., 4/271
3. ''प्रसह्य चञ्चलीत्येव योगिनामपि यन्मनः।'' - 4/311
4. ''यस्य ज्ञेयमयो भावः स्थिरः पूर्णः समन्ततः।
   मनो न चलते तस्य सर्वावस्थागतस्य तु।।'' - स्वच्छ.तं., 4/312
5. ''यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत्।
   चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः'' - स्वच्छ.तं., 4/313
6. ''शिवभावनयौषध्या बद्धे मनसि संसृतेः।
   काष्ठकुड्यादिषु क्षिप्ते रसवच्छिवहेमता।।'' - शि.दृ., 7/48
7. ''यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाभ्यन्तरे प्रिये।
   तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात्क्व यास्यति।।'' - वि.भै., 116
8. ''न दिवा जागरं कुर्यान्न रात्रौ स्वपेत्क्वचित्।
   स्वभावेनैव संतिष्ठेद्दिनरात्रिविवर्जितः।।'' - स्वच्छ.तं., 7/257

में प्रबुद्ध रहने के कारण नित्य आत्मोलब्धि बनी रहती है।[1] अतएव भगवान् शिव कहते हैं कि हे पार्वती अद्वैत शैवी भावना से सदा भावित रहने के कारण वह जीवन्मुक्त ही होता है और काल का ग्रास नहीं बनता।[2] अभिनवगुप्त अनुसार यह भावना कल्पतरु की भाँति सभी अभीष्ट प्रदान करने वाली है।



---

1. ''तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदाव्यभिचारिणी।
   नित्य स्यात्सुप्रबुद्धस्य'' - स्प.की., 2/1
2. ''जीवन्नेव विमुक्तोऽसौ यस्यैषा भावना सदा।
   शिवो हि भावितो नित्यं न कालः कलयेच्छिवम्।।'' - स्वच्छ.तं., 7/259
3. ''तामेनां भावनामाहुः सर्वकामदुघां बुधाः।
   स्फुटयेद्वस्तु यापेतं मनोरथपदादपि।।'' - तं.आ., 4/14

ऋग्वैदिक दार्शनिक चिन्तन

डा० पुरुषोत्तम शर्मा

ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसमें आत्मा, परमात्मा सृष्टि-उत्पत्ति, मृत्यु, पुनर्जन्म मोक्ष आदि दार्शनिक विषयों पर गम्भीर चिन्तन किया गया है।

(क) ईश्वर-जीव-प्रकृति

वैदिक धर्म में सृष्टि की रचना एवं विश्व के सञ्चालन के लिए ईश्वर जीव एंव प्रकृति इन तीनों तत्त्वों की सत्ता स्वीकार की गयी है। जीव और प्रकृति के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है तथा ईश्वर इसका नियामक और सञ्चालक है। प्रकृति के द्वारा जीव बधा रहता है तथा जन्म मरण के चक्र में पड़ा रहता है तत्त्वज्ञान होन पर जीव इन बन्धनों से छूट जाता है और मोक्ष के परमानन्द को प्राप्त करता है।

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में त्रैतवाद को पुष्ट किया गया है। यथा-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं विश्वं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचारुशीति।।[1]

अर्थात् सुन्दर पंखों वाले समान आयु के दो पक्षी मित्ररूप से विश्व का आलिङ्गन कर रहे हैं उनमें से एक स्वादिष्ट पिप्पल का आस्वादन कर रहा है दूसरा भोग न करता हुआ भी आनन्द प्राप्त करता है।

इस मन्त्र में विश्व प्रकृति है तथा पिप्पल उसके भोग्य पदार्थ हैं आस्वादन करने वाला पक्षी जीव है तथा भोगन करने वाला दूसरा पक्षी ईश्वर है। इसी प्रकार एक और मन्त्र भी उद्धत कर रहे हैं। यथा-

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्।।[2]

---

1. ऋग्वेद- 1-164-20
2. ऋग्वेद- 1-22-20

यहाँ ''श्रीविष्णु'' परमात्मा के लिए ''सूरयः'' जीवों के लिए और ''दिवीव चक्षुः'' प्रकृतिरूप सूर्य के लिए प्रयुक्त हुआ है।

ईश्वर की सत्ता

वेदों में ईश्वर की सत्ता के विषय में प्रश्न है कि यदि ईश्वर है तो किसने देखा है? इसका उत्तर है- मैं यहीं हूँ, मुझे यहीं देखो।

ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के एक मन्त्र के अनुसार--

''इस संसार में जो भी पदार्थ प्रादुर्भूत हुए हैं, हो रहें हैं या होंगे उन सभी पदार्थों का शासनसूत्र किसी महान् शक्ति के अधीन होता है। वह शक्ति सर्वातिशायी एवं बलवती होती है जिसकी रेखा का उल्लंघन सूर्य चन्द्रादि भी नहीं कर पाते इसी सत्ता से ही ऋतुएँ होती है और प्रलय होता है इसको ही ईश्वरीय शक्ति कहते हैं।[1]

एकेश्वरवाद

ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में लिखा गया है कि तत्त्ववेत्ता लोग सुकार्य करने वाले ईश्वर को अनेक नामों से पुकारते हैं। ऋग्वेद में कहा गया है कि बुद्धिमान् ज्ञानी लोग उस ईश्वर को यम, मातरिश्वा, इन्द्र, वरुण, मित्र, सुपर्ण गरुत्मान् आदि नामों से पुकारते हैं। यथा--

इन्द्रं मित्रं वरुणग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।[2]

अन्यच्च

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।।[3]

आत्मा

आत्मा शब्द आत्मन् शब्द से प्रादुर्भूत होता है। शब्दकोषों के अनुसार इसके अनेक अर्थ हैं जैसे-- आत्मा, जीव, परमात्मा, ब्रह्म, प्रकृति, बुद्धि आदि।[4]

---

1. अयमस्मि जरितः पश्य मा इह, विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्तयादर्दिरो भुवना दर्दरीमि।। ऋग्वेद॰ 8.100.4
2. ऋग्वेद- 7-164-46
3. ऋग्वेद- 10-114-5
4. संस्कृत हिन्दी शब्दकोष पृ. 144

अमरकोषानुसार आत्मा शब्द के अर्थ-यत्न, धैर्य, बुद्धि, स्वभाव, ब्रह्म, शरीरज्ञानी पुरुष आदि।[1]

आत्मा शब्द का धातुगत अर्थ तो जीव, आत्मा, मन और बुद्धि है पर धीरे-धीरे यह शब्द विकास को प्राप्त होता हुआ अनेक अर्थों में प्रचलित हुआ।

ऋग्वेद के आङ्गल विद्वान् मैक्समूलर के मत में ब्रह्म तो बाह्य जगत का चरम स्रोत है जबकि आत्मा मनुष्य के आभ्यन्तरस्थ चेतना है। शङ्कराचार्य जी के मतानुसार आत्मा की सत्ताजगत के सभी पदार्थों में विद्यमान है क्योंकि वह सभी को आत्मस्वरूप में विलीन करती है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार आत्मा सभी प्राणियों का जीवनाधार और जीवनतत्त्व का आधार है। यह मानव के रथरूप में विद्यमान है इसकी वास्तविकता शरीर से भिन्न है अर्थात् शरीर ही आत्मा नहीं है। वस्तुतः आत्मा चेतनता की भी चेतनता है क्योंकि यह ईश्वर का अंश है। आत्मा का शरीरनाश होने पर भी क्षय नहीं होता।[2]

शरीर और आत्मा का विशिष्ट सम्बन्ध होता है आत्मा तो शरीर में रहती है। आत्मा अमर है और शरीर विनाशी है। आत्मा इस भौतिकशरीर में कदाचित् अन्नमय शरीर प्राप्त करके कभी निम्नभाग में और कभी ऊर्ध्वभाग में रहती है। शरीर तो सभी को दृष्टिगोचर होता है परन्तु जीवात्मा कभी दिखाई नहीं देती।[3]

ऋग्वेद में कहा गया है कि जीवात्मा शरीर में अनेकमार्गों से आता है और शरीर से पृथक् भी होता है। वह अविनाशी और इन्द्रियों का संरक्षक भी होता है। आत्मा शरीर के साथ भी रहता है और शरीर त्याग के बाद भी उसकी सत्ता होती है वह इस संसार में बार-बार आता है।[4]

ऋग्वेद में जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में अनेकों मन्त्र मिलते है।

सृष्टि-उत्पत्ति

सृष्टि रचना के विषय में सभी विद्वान्, बुद्धिजीवी एवं वैज्ञानिक प्रायः सोचते है कि इस सृष्टि का रचनाकार कौन है? इस प्रश्न का उत्तर और समाधान प्रायः असम्भव सा प्रतीत होता है। वर्तमान काल में ही नही अपितु वैदिककाल में भी इस विषय पर विचार किया जाता रहा है। ऋग्वेद के एक मन्त्रानुसार कुछ प्रश्न किए गए हैं। जैसे-कौन पुरुष वास्तविक रूप

---

1. अमरकोषः पृ. स. 461
2. उपनिषदों की भूमिका पृ. 75
3. ऋग्वेद 1-164-38
4. ऋग्वेद 1-177-3

से जानता है? कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कैसे बनी? देवता भी सृष्टि रचना के बाद ही उत्पन्न हुए अतः वे भी अपने जन्म के पूर्व की बाँते नही बता सकते। अतः कौन जानता है कि क्यों इस संसार की रचना हुई?[1] इस मन्त्र द्वारा स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि भी इस सृष्टिकर्त्ता को जानने के इच्छुक थे। इसीलिये ऋषियों ने सृष्टिरचना के विषय में ऐसे प्रश्न किए। आधुनिक वैज्ञानिक भी इसी प्रकार के प्रश्नों में उलझे है समाधान उनके ज्ञान से कोसों दूर है।

ऋग्वेद में सृष्टि–उत्पत्ति के सम्बन्ध में नासदीयसूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त और पुरुषसूक्त प्रसिद्ध हैं। नासदीयसूक्त (10-129) में सृष्टि उत्पत्ति से पहले की अवस्था का वर्णन करके उसकी रचना का क्रम बताया गया है। उस समय न सत् था, न असत् था। न लोक थे, न आकाश या, न गति थी न स्थान था, न जन्म था, न मृत्यु थी और न ही अमृत था। न दिन था न रात थी। वही एकमात्र परमेष्ठी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अन्तश्चेतना के साथ निर्वात अवस्था में शान्त रूप में वर्तमान था।[2] उसमें इच्छा का प्रादुर्भाव हुआ और सृष्टि का बीज उत्पन्न हुआ। सृष्टिकर्त्ता स्वयं कहाँ से उत्पन्न हुआ यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई, देवता सृष्टि से पहले हुए या बाद में यह कौन जानता है? यह सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही उस सृष्टि के अध्यक्ष हैं उन्हीं को जानना चाहिए। नासदीयसूक्त में सृष्टिरचना के विषय में संकेत तो प्राप्त होते है पर बाद में इसमें कहा गया है कि सृष्टि प्रक्रिया को वास्तविकरूप से कोई नहीं जानता क्योंकि सभी प्राणी तो सृष्टि निर्माण के बाद ही उत्पन्न हुए हैं। इस रहस्य को क्षुद्र प्राणी कैसे जान सकते हैं। सृष्टि निर्माण प्रक्रिया को देखने वाला तो कोई प्राणी नहीं है, परन्तु इस विषय में विचारक केवल अनुमान कर सकते हैं। सृष्टि निर्माण प्रक्रिया को तो केवल वही जान सकते हैं जो सृष्टि रचना से पूर्व विद्यमान थे। यद्यपि नासदीय सूक्त में सृष्टिरचना के विषय में अस्पष्ट ही संकेत है फिर भी हमें उन्हें स्पष्ट ही कहना चाहिए क्योंकि ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है।

नासदीयसूक्त में सारतत्त्व यह है कि आरम्भ में सर्वत्र अन्धकार था तब यह सृष्टि स्वकारण रूप में सत्त्व रज और तमरूपी परमाणुओं में लीन थी। असत् कुछ नहीं था कुछ चेतनता अपने सामर्थ्य से उस समय भी विद्यमान थी उसी की कामना (इच्छा) से यह सृष्टि बनी। अर्थात् चेतन तत्त्व से ही यह सृष्टि उत्पन्न हुई।[3]

हिरण्यगर्भ सूक्त (10-121) में भी सृष्टिरचना का वर्णन है। इसके अनुसार सबसे पहले यह हिरण्यगर्भ परमात्मा ही थे। यह उत्पन्न होते ही सभी प्राणियों के स्वामी थे। उन्होने

---

1. ऋग्वेद 10-129-6
2. ऋग्वेद 10-129-1-3
3. पोस्ट फिलासफरस ऑफ दी ऋग्वेदा पृ. सं. 230

पृथ्वी लोक और द्युलोक को धारण किया हुआ है।[1] वही आत्मा का आविर्भाव करने वाले तथा मृत्यु को देने वाले है। सभी देवता उसी की उपासना करते है। सर्वत्र उन्हीं का शासन है उन्हीं की छत्रछाया में दिव्यलोक और मृत्युलोक विद्यमान है।[2]

एक मन्त्र में हिरण्यगर्भ राजा के रूप में प्राणियों का अधिष्ठाता है। वही अपनी महिमा से इस संसरणशील संसार को गतिशील बनाते हैं। इस दृश्यमान् जगत में द्विपाद चतुष्पाद गो अश्वादि प्राणियों का स्वामी भी हिरण्यगर्भ ही है।[3]

इस सूक्त की सृष्टि प्रक्रिया विवरण से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम हिरण्यगर्भनामक परमात्मा ही थे। यही सभी लोकों के स्वामी है सभी देवता इन्हीं की उपासना करते है।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (10-90) में पुरुषरूप परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करने के साथ-साथ सृष्टि-उत्पत्ति के रूप को भी बताया गया है। जो कुछ वर्तमान में है, भूत में था और भविष्य में होगा वह पुरुष ही है। उस पुरुष से विराट् और उससे अथिपुरुष की उत्पत्ति हुई। उसी से सम्पूर्ण सृष्टि की रचना हुई।

वही पुरुष प्राणियों के लिए भोग्य पदार्थों का आयोजन करता है इसी कारण वह पुरुष इस दृश्यमान संसाररूपी अवस्था को प्राप्त होता है और विराट् होता है। ब्रह्माण्ड देह के सहारे जीवात्मारूप में उत्पन्न हुआ। इसी विकास से वह जीवात्मा मनुष्य, पशु-पक्षी हुए और चेतनता का प्रादुर्भाव हुआ और सृष्टि हुई।

इसी पुरुष के मन से चन्द्रमा, चक्षुओं से सूर्य मुख से अग्नि और प्राणों से वायु की उत्पत्ति हुई नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से स्वर्ग, पैरों से पृथ्वी, कानों से दिशाएँ उत्पन्न हुई।[4]

ऋग्वेद में वर्णित सृष्टि के विकास क्रम की विस्तृत तथा विशद व्याख्या भारतीय दर्शनों में की गयी है।

मृत्यु और पुनर्जनम

ऋग्वेद में मृत्य के बाद जीव की गति तथा पुनर्जन्म के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। मृत्यु के बाद जीव के मार्ग का निदर्शन यमराज करते हैं। यमजीव को उसी मार्ग से ले जाते है जहाँ से उनके पूर्वज गए थे। यह स्थान आनन्दों से परिपूर्ण है।

---

1. ऋग्वेद 10-121-1
2. ऋग्वेद 10-121-2
3. ऋग्वेद 10-121-3, 8, 9, 10
4. ऋग्वेद 10-90-1, 2, 5, 13, 16

यथा–

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा न पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यसि वरुणं च देवम्।।[1]

अर्थात् - जिस स्थान पर हमारे प्राचीन पितामह आदि गए हैं पूर्वकाल में बने हुए मार्गों से शीघ्र जाओ और जाकर अन्न से तृप्त होने वाले दीप्तिमान् शरीर वाले दोनों यम की और वरुण देवों को देखो।

ऋग्वेद के इन्हीं मन्त्रों के आधार पर पुराणों में पितृलोक की कल्पना की गयी जो चन्द्रमा के उत्तरी ध्रुव स्थान पर स्थित है। यम को मृत्यु को देवता कहा गया है।

मृत्यु के बाद पुनर्जन्म होता है ऋग्वेद में इसकी पुष्टि भी की गयी है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्पष्ट करने हेतु यह ऋग्वेदीय मन्त्र उद्धृत कर रहे हैं–

असु नीते पुनस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृलया न स्वस्ति।।[2]

अर्थात् वह परमेश्वर पुनः प्राणों की प्रतिष्ठा करते हैं पुनः चक्षु आदि इन्द्रियों को, प्राणों को और भोगों को धारण कराता है। हे परमेश्वर हम आपकी कृपा से उदय होते हुए सूर्य को देखते रहें। सब को मान देने वाले हे परमेश्वर आप हमें सुखी रखिए और हमारा कल्याण कीजिए।

ऋग्वेद के परवर्ती साहित्य में अन्य वेदों में और वैदिक साहित्य में पुनर्जन्म का विवेचन विस्तार से किया गया है।

मोक्ष

ऋग्वेद में मोक्ष को सर्वाधिक आनन्द का हेतु कहा गया है। यह सत्य, तप और आध्यात्मिक ज्ञान (तत्त्वज्ञान) से प्राप्त होता है। ज्ञानरूपी ज्योति से मोक्ष के मार्ग के सभी विघ्न दूर होते हैं। ऋग्वेद में भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! मुझे उस परम मोक्ष लोक में स्थान दो जहाँ दो जहाँ निरन्तर ज्योति और परमानन्द होता है।[3]

ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में मोक्ष की कामना की गयी है–

1. ऋग्वेद - 10-14-7
2. ऋग्वेद - 8-126-6
3. ऋग्वेद - 9-113-7

ये यज्ञेन दक्षिणया समस्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।।[1]

अर्थात् जिन्होंने यज्ञों द्वारा और दान के द्वारा मुक्ति प्राप्त की है वे इन्द्र की मित्रता को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त हुए है उनका कल्याण हो गया है। उनके प्राण उनकी बुद्धियों को बढ़ाने वाले होते हैं। उस मोक्ष को प्राप्त मनुष्य को पूर्वमुक्त जीव अपने पास रख लेते हैं।

इससे स्पष्ट है कि परलोक और पुनर्जन्म का माध्यम मृत्यु है। शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार क्रमशः स्वर्ग और नरक की प्राप्ति होती है। अतः सद्गति प्राप्ति के लिए कर्मसिद्धान्त भी आवश्यक है।



---

1. ऋग्वेद - 8-2-1-1

पुरन्ध्रीपञ्चकम् में नारी-मेनकावात्सल्यम् के आलोक में

डॉ. सुषमा देवी गुप्ता

20वीं शती में संस्कृत साहित्य अनेक मनीषियों के कृतित्व से मण्डित रहा है। संस्कृत साहित्य की धारा वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है। भारतीय समाज में अति प्राचीन काल से नारी का गौरवपूर्ण स्थान रहा है। आधुनिक भारतीय नारी का जागृत स्वरूप हमें संस्कृत के आधुनिक नाटकों में मिलता है। इस सत्य को प्रमाणित करने के लिए आधुनिक युग की विद्वान नाटककर्ता प्रो. वेद कुमारी घई विरचित "पुरन्ध्रीपञ्चकम" नामक रूपक संग्रह में नारी का विशिष्ट चरित्र प्रस्तुत किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त संस्कृत की प्रख्यात विदूषी सुप्रसिद्ध लेखिका एवं समाज सेवी प्रो. डॉ. वेद कुमारी घई बिरचित "पुरन्ध्रीपञ्चकम्" संस्कृत भाषा में लिखे पांच रूपकों का संग्रह है। इस रूपक संग्रह में जो रूपक संगृहीत हैं वह हैं– "मेनका वात्सल्यम्", "अपूर्व प्रतिशोध:", "मदालसा", "सुगन्धा" एवं "द्राक्षामत: शकुन्तला" जो नारी के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत करते हैं। जैसा कि भवभूति ने उत्तररामचरित में कहा है:– "पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति" अर्थात् नारियों का हृदय फूलों की भांति सुकोमल होता है परन्तु प्रस्तुत रूपक संग्रह का सूक्ष्म अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि नारी में केवल हृदय की कोमलता ही नहीं, वरन बुद्धि की तीक्ष्णता, भावना से ऊपर उठकर कर्त्तव्यपालन की दक्षता एवं संकल्प की दृढ़ता भी होती है। बेटी, बहन, मां, नानी, दादी, पत्नी, बहू, सखी इत्यादि अनेक रूपों में नारी का समाज निर्माण में अभूतपूर्व योगदान रहा है परन्तु फिर भी समाज में उसे समुचित स्थान नहीं मिल पाया है।

"पुरन्ध्रीपञ्चकम्" नामक रूपक संग्रह के नारी पात्र प्राचीन भारतीय नारी के इन्हीं कुछ गुणों को अभिव्यक्त करते हैं तो प्राचीन प्रसंगों को आधुनिक सन्दर्भ में रखकर कुछ समसामयिक समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयास भी इनमें किया गया है। भारतीय नारी ने अपने जीवन की कठोरतम् परिस्थितियों में भी अपने जिस साहस एवं शौर्य का परिचय समय-समय पर दिया है उसे भारत का इतिहास कभी नहीं भुला सकता। ऐसे ही सब प्रसंगों को आधुनिक संदर्भ में रखकर कुछ समसामयिक समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयास प्रस्तुत रूपक में किया गया है।

नाटक मूलतः सामाजिक जीवन का व्यापक एवं गहराई से चित्रण करने वाली विधा है। नाट्य में मानव जीवन की सफल सम्पूर्ण अभिव्यक्ति तभी संभव हो सकती है, जब पुरूष पात्रों के साथ ही नारी पात्रों का भी समुचित समावेश किया जाये। वैदिक युग से लेकर आधुनिक काल तक के भारतीय संस्कृति साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालने से ऐसा प्रतीत होता है कि नारी वर्ग के प्रति समाज का सदा से दो प्रकार का दृष्टिकोण रहा है। एक दृष्टिकोण उन लोगों का है जो नारी को समाज की विभूति मानते हैं तथा दूसरे नारी जाति के प्रति हीन भावना से ग्रसित हैं। संघर्ष एवं तनाव की अनेक स्थितियां हमारे दैनिक जीवन में आती हैं तथा हमें झकझोर देती हैं। उन परिस्थितियों का नारी किस प्रकार से सामना करती है-इसका चित्रण एक नवीन रूपक 'पुरन्ध्रीपञ्चकम्' रूपक संग्रह में उपलब्ध होता है।

प्रस्तुत रूपक संग्रह में उस नारी की कहानी कही गई है जो सत्ययुग में नारायणी थी, उसे उसका नारायण अकेला छोड़ गया था, त्रेतायुग में वह सीता थी जिसे राम ने वनवास दे दिया। द्वापर में वह गोपी थी जिसे कृष्ण छोड़कर दूर चले गये। आज कलयुग में वह साधारण स्त्री है जिसे असाधारण बनना है, एक अबला है जिसे सबला बनना है। पुरानी उक्तियों को सत्य सिद्ध करने के लिये कि नारी शक्ति है। इस ग्रन्थ रत्न में नारी के प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही रूपों को देखा जा सकता है।

"पुरन्ध्रीपञ्चकम्" रूपक संग्रह का प्रथम रूपक 'मेनका वात्सल्यम्' नायिका प्रधान रूपक है। इसमें निर्मम प्रेमी द्वारा छोड़ दी गई नारी के दृढ़ संकल्प का चित्रण है। इस रूपक की नायिका 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की नायिका शकुन्तला की मां मेनका है। उसी उपेक्षित पात्र मेनका के व्यक्तित्व की झलक इस रूपक में दी गई है। मेनका इन्द्रसभा की गणिका है जिसकी आजीविका का साधन है नृत्य एवं गायन। इसी कारण रूपक के प्रथम दृश्य में इन्द्र मेनका को ऋषि विश्वामित्र का तप भंग करने का आदेश देते हैं। स्वामी के अधीन होने के कारण अनुचित होते हुए भी इन्द्र का आदेश उसे स्वीकार करना ही पड़ता है।

रूपक के प्रथम दृश्य में इन्द्र को पता चलता है कि पृथ्वी पर महाप्रभावशाली विश्वामित्र नामक कोई ऋषि कठोर तप कर रहे हैं तो अपने पद से च्युत हो जाने के भय से उनका मन अशान्त हो जाता है। उसी दशा में इन्द्र मेनका को बुलवाकर कहते हैं कि "हे मेनका इस सभा की नृत्य, संगीत एवं नाट्य की शिरोमणि तुम्हें आज विशेष कार्य हेतु बुलवाया गया है। इस पर मेनका कहती है कि देवराज आदेश पालन हेतु उपस्थित हूँ। मेरे लिये क्या आज्ञा है?[1] तब इन्द्र मेनका को विश्वामित्र की तपस्या भंग करने का आदेश देते हुए कहते हैं कि

---

1. इन्द्रः - मेनके अस्मत्सभायां सङ्गीत नृत्य नाट्य शिरोमणि स्त्वं विशेष कार्याय अद्य अहूता।
मेनका - देवराज! उपस्थिताऽस्मि आदेशपालनाय। का आज्ञा वर्तते मत्कृते? पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-1, पृष्ठ-4

" कौशिक गोत्रधारी महातेजस्वी विश्वामित्र नाम का ऋषि महान तप कर रहा है। उसकी तपस्या को भंग करके मेरे अशान्त मन को आनन्दित करो।[1] मेनका द्वारा यह पूछने पर कि किसी के धर्म कर्म में विघ्न उपस्थित करना जैसी अनुचित आज्ञा वह क्यों दे रहे हैं तो इन्द्र उसे यह कह कर क्षमा मांगने पर विवश कर देते हैं कि स्वामी की आज्ञा पालन में कारण नहीं पूछा जाता।[2]

न चाहते हुए भी मेनका मर्त्यलोक को चली जाती है तथा जैसे-कैसे उस वन में प्रवेश करती है जहां। राजर्षि विश्वामित्र तप कर रहे हैं। वन के सुरम्य वातावरण से वह अतीव प्रभावित होती है। वहां के प्राकृतिक दृश्य उसके मन में अजीव सा उल्लास भर देते हैं। खोज करते-करते एक स्थल पर ध्यानस्थ विश्वामित्र पर ज्यों ही उसकी दृष्टि पड़ती है तो देखते ही उन्हें मोहित करने हेतु वह नर्तन एवं गायन आरम्भ कर देती है:-

अधुना स दिवस आयातः
पुरो मदीयः प्रिय आयातः॥
पवनो मन्दं मन्दं वाति।
मेघोऽयं स्वच्छन्दं याति॥
सुखे निमग्नः सर्वोजातः॥
अधुना स दिवस आयातः।
पुरो मदीयः प्रिय आयातः॥[3]

मेनका का गायन ऋषि विश्वामित्र के मन को इतना विचलित कर देता है कि तत्काल मेनका से परिचय प्राप्ति के साथ ही उसके अतिथि सत्कार के अनन्तर वह मेनका से पुनः उस गीत को सुनाने का अनुरोध करते हैं। मेनका पुनः वह गीत उन्हें सुनाती है:-

अधुना स दिवस आयातः।
पुरो मदीयः प्रिय आयातः॥
प्रथम दर्शने चाक्षुष प्रीतिः।

---

1. कौशिक इति गोत्रनागधेयो महाप्रभावो विश्वामित्रो नाम ऋषिः पृथिव्यां महत्तपस्तपते। तस्य तपसा मम हृदये काचित शङ्का समुत्पादिता अतस्त्वया तस्य तपोभङ्गकृत्वा अस्मद अशान्त मनो रञ्जनीयम्, पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृष्य-1, पृष्ठ-4.

2. भगवन् केनचित् कस्यचिदपि धर्मकर्मणि विघ्नः न कार्यः इत्येव सदाचारः श्रूयते। भवान् तु पृथिव्यां सर्वेभ्यः सुखानि वितरति। तत्र तपस्यतः कस्यापि ऋषेः तपः दृष्टवा भवता मनसि शङ्का किमर्थं जाता इति ज्ञातुं न शक्नोमि। इन्द्रः - मेनके अस्माभिः त्वं सर्वासामसरसामधिकतरम् आद्रियसे परं भर्तुरादेश पालने कारणं नहि प्राप्टव्यम्। मेनका - क्षम्यताम्। विस्मृता मया स्वस्थितिः। अनुल्लङ्घनीयः खलु स्वामिनाः आदेशः। गमिष्यामि मर्त्यलोकम्। पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-1, पृष्ठ-4/5।

3. पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-2, पृष्ठ-6

पङ्गुपर्वतलङ्घन रीतिः।
कथमपि पुण्यैर्योगो जातः।।
अधुना स दिवस आयातः।
पुरो मदीयः प्रिय आयातः।।[1]

गीत सुनते ही विश्वामित्र कह उठते हैं कि : देवी गीत मधुर है। स्वर मधुर है। आपका दर्शन भी मधुर है। यह सब मेरे हृदय में प्रविष्ट हो गया है तथा आप भी मेरे चित्त में प्रविष्ट हो गई हैं। क्या मैं भी आप के हृदय में स्थान प्राप्त कर सकता हूँ? इस पर मेनका भी कह उठती हैं कि यह गीत तो मेरा आत्म निवेदन है। मेरे हाथ में स्थित यह पुष्प माला यदि आपको स्वीकार हो तो इस जीवन को भी आप के श्री चरणों में समर्पित कर दूं।[2]

प्रेम के प्रकाशित हो जाने पर पुष्प माला से क्या प्रयोजन। तुम्हारे लिए मेरी यह भुजाएं ही पुष्पमाला बन जायेंगी विश्वामित्र यह कह कर मेनका के साथ गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर जाते हैं।[3] परन्तु यह गृहस्थ जीवन स्थायी नहीं हो पाता क्योंकि जहां विश्वामित्र तपस्वी हैं वही मेनका इन्द्रसभा की नर्तकी एवं गायिका हैं। दो विपरीत प्रकृतियों (स्वभाव) वाले लोगों का चिरकाल तक एक साथ रह पाना अधिकतर सम्भव नहीं हो पाता है तथा यह विपरीत प्रकृतियां ही उनके सम्बन्ध-विच्छेद का कारण बन जाती है जिसकी सूचना तृतीय दृश्य में गौतमी के माध्यम से मिलती है।

गौतमी कण्व ऋषि को बताती हैं कि "भगवन् गोदी में एक बच्चे को लिये गुरूकुल के द्वार पर खड़ी एक युवती आपके दर्शनों की इच्छुक हैं। ऋषि कण्व गौतमी से पूछते हैं कि आपने उसका पूरा पता लगाया कि वह कौन है तथा किस प्रयोजन से यहां आई है। गौतमी बताती है हां, मुझे उसके विषय में पता चला है कि वह कौन है। "एक वर्ष पूर्व उसने गान्धर्व विधि से एक पुरुष को पति रूप में वरण किया था परन्तु कुछ ही मास पश्चात् वह उस गर्भवती को एकाकी छोड़कर कहीं चला गया। यह सुनकर ऋषि कण्व कह उठते

---

1. पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-2, पृष्ठ-7
2. विश्वामित्रः - देवि! मधुरं गीतम्। स्वरः मधुरः। भवत्याः दर्शनमपि मधुरम्। सर्वमेतत् मम हृदये प्रविष्टम्। भवति अपि मम चेतसि प्रविष्टा। किमहम् अपि भवत्याः चेतसि स्थानं लब्धुं शक्नोमि?
मेनका–इदं गीतं तु मम आत्मनिवेदनम्। मम करे स्थिता इयं पुष्पस्त्रग् यदि भवता स्वीक्रियते तदा तु जीवनमेव भवच्चरणाभ्यां समर्पयामि।
पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-2, पृष्ठ-8.
3. विश्वामित्रः - प्रकाशिते सति प्रणये किं पुष्पमालया? तव मम च भुजौ एव स्त्रजौ भविष्यतः।
पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-2, पृष्ठ-8,

हैं कि अहो क्या वह ठग अभी तक वापिस नहीं आया? तो गौतमी उन्हें बताती हैं कि नहीं, प्रथम तो उसके रूप यौवन पर मुग्ध होकर उसने स्वयं ही उसे पत्नी रूप में स्वीकार किया पर कुछ काल बाद ही गृहस्थ जीवन के उत्तरदायित्व को निभाने में स्वयं को असमर्थ बताया।[1]

इस पर कण्व ऋषि कह उठते हैं कि "उसका यह कृत्य अवश्य ही निन्दनीय है।" वह गौतमी से पूछते हैं कि 'तब बेचारी पत्नी ने क्या किया। गौतमी ने बताया कि तत्पश्चात् वन में पर्णकुटी में निवास करते हुए उसने पति की प्रतिक्षा करते हुएं दिन-मास किसी प्रकार विताये। वनदेवता की सहायता से पिछले ही माह उसने एक पुत्री को जन्म दिया है। पुत्री को लिये आई हुई वह आपकी सहायता चाहती है।[2] एकाकी नारी की इस दशा पर करुणमूर्ति ऋषि कण्व स्वयं से कह उठते हैं कि:- अहो कष्टकरी स्थितिरियं नारीणाम्। नारीपुरुषयोः समाने अपराधे सति प्रायशः नारी एवं कष्टं भजते" इति विचिन्त्य मानसं मे व्यथितं भवति। पत्नी विहीनः सन्तान-युक्तः अपि पुरुषः पुनर्विवाहं शीघ्रम् एव रचयति परं पतिविहीना पत्नी प्रायशः वैधव्य दुःखपीड़िता एव समस्तं जीवनं यापयति। चतुर्वर्षपूर्वं गौतमी वैधव्यं प्राप्य पुत्रीमनुसूयां नीत्वा इमम् आश्रमम् आगता। मया भगिनीरूपेण स्वीकृता सा अत्र निवसतां शिशूनां किशोराणां च पालने पोषणे स्वदुःखं विस्मरति इति इति सन्तोष वहं मे। अहो। आगते ते यज्ञभूमिम्।[3]

ऋषि कण्व गौतमी के हाथों मेनका को मिलने की स्वीकृती भिजवाते हैं। तत्पश्चात मेनका से मिलकर उससे समस्त वृत्तान्त ज्ञातकर मेनका के मन की थाह लेते हैं। मेनका उन्हें बताती है कि "वह इन्द्रलोक वापिस नहीं लौटना चाहती थी तथा गृहस्थ जीवन जीना चाहती थी पर अनेक वार की गई प्रार्थना भी विश्वामित्र जी ने नहीं सुनी तथा कहीं चले गये। मेनका

---

1. गौतमी - भगवन् उत्सङ्गेशिशुं धारयन्ती एका युवती गुरूकुल द्वारि स्थिता अत्र भवतां दर्शनम् इच्छति।
कण्वः - ज्ञातः किं भवत्या तस्याः पूर्व वृत्तान्तः? केन प्रयोजनेन सा अत्र आगता?
गौतमी - आम्। ज्ञातं मया किञ्चित्। वर्षपूर्व सा एक पुरुषं गान्धर्व विधिना पतित्वेन वृणवती। परं कतिपया मासानन्तरं सः तां गर्भवतीम् एकाकिनीं परित्यज्य कुत्राविगतः।
कण्वः - अहो वञ्चकः सः किम् अद्यावधि नहि प्रत्यागतः?
गौतमी - नहि । प्रथमं तु तस्या रूपलावण्यम् अवलोक्य मुग्धः स स्वयमेव ता पत्नीरूपेण स्वीकृतवान् परं कालान्तरे गृहस्थजीवनस्य उत्तरदायित्वं वोढुम् आत्मनः असमर्थता प्रकटीकृतवान्।
पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-2, पृष्ठ-8.
2. कण्वः - निन्दनीयं खलु कृत्यं तस्या किं कृतं तदा वराक्या पत्न्या?
गौतमी - तत्रैव वने पर्णकुटीरे सा तं प्रतीक्षमाणा दिवसान् मासान् यापितवती। वनदेवतानां साहाय्येन सा गत मासं पुत्रीं प्रसूतवती। पुत्रीमधिकृत्य एव सा भवत्साहाय्यं वाञ्छति।
पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-तृतीय, पृष्ठ-9
3. पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-3, पृष्ठ-9

ने ऋषिकण्व से आगे कहा कि जब मैंने विश्वामित्र को बताया कि मैं गर्भवती हूँ तो वह सुनते ही वह भड़क गये तथा मेरा तिरस्कार किया और कहा कि 'इन्द्रलोक में जाकर गणिका वृत्ति को अपना लो। मैंने रो-रोकर अनेकशः प्रार्थना करते हुए कहा कि मैं इन्द्रलोक का वैभव नहीं चाहती। मैं केवल जीवन पथ पर सहयात्रि, पत्नी के अधिकार एवं मातृत्व की कामना करती हूं। पर मेरे निवेदन का तिरस्कार कर वह कहीं चले गये।[1]

मैनें सुन लिया है आगे कहो। कण्व के पूछने पर मेनका ने बताया कि अब मैं नहीं चाहती कि मेरी बच्ची भी मेरे ही पथ की अनुगामिनी हो। उसे पति एवं गृहस्थ की प्राप्ति हो यही मैं चाहती हूँ। इसके साथ ही "ब्रह्मचर्य से ही कन्या को युवा पति की प्राप्ति होती है" इस श्रुति वाक्य को सोचकर ही मैं यहां आई हूँ। आपके इस सुप्रसिद्ध गुरूकुल में आपके आश्रय में शिक्षा प्राप्त कर यह विदूषी, सर्वगुणसम्पन्न हो जाये यही मेरी इच्छा है।[2]

इस बालिका को जो कि अत्यल्प आयु की है को गौतमी पुत्री रूप में स्वीकार कर लेती है और उसका शकुन्तला नाम रखती है। मेनका शकुन्तला को कण्व ऋषि के आश्रम में गौतमी द्वारा रखी इस शर्त पर छोड़ देती है कि "उसके शिक्षा काल में न तो वह गुरूकुल में आए और न ही मां रूप में अपना परिचय शकुन्तला को दे।"[3]

---

1. कण्वः - कथयस्व पुत्रि निश्शङ्कम्। भाग्य विपर्यय सति अपि धैर्य नहि त्याज्यम्।
मेनका - भगवन् अहं इन्द्रस्य सभायां नर्तकी आसम्। तस्य सङ्केत मात्रेण गायन्ती नृत्यन्ती उचित मनुचितं च कुर्वन्ती जीवनं यापितवती। एकदा तेन ----- परं कतिपय मासपूर्वं यदहं तं कथितवती यत् अहं अन्तर्वत्नी जाता तथा आवयोः प्रेम प्रतीकं शिशुम् उत्सङ्गे लालयितुमुत्सु का अस्मि इति तदैव क्रोधितो भूत्वा सोऽकथयत्-त्वया दुष्टया मम तपोभङ्गः कृतः। नाहं गृहस्थो भवितुमिच्छामि। न च त्वं पत्नी रूपेण स्वीकरोमि । गच्छ इन्द्रलोकं। भजस्व स्वगणिकावृत्तिम् इति। मया रूदत्या स बहुशः प्रार्थितः यत् अहं इन्द्रलोक वैभवं नहि कामये अहं केवलं जीवनपथे सहयात्रिणं पतिं, पत्न्यधिकारं, मातृत्वं च कामये इति। परं मम निवेदनं तिरस्कृत्य सः कुत्रापिगतः।
पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-3, पृष्ठ-10
2. मेनका - भगिनी। मयेव अनयापि जयन्तस्याधिपत्ये केवलं गायन्त्या नृत्यन्त्या जीवनं नहि यापनीयम्। मम दुहिता मतपथानुगामिनी नहि भवेत्। तया प्राप्तव्यं गृहमेकं, पतिरेकः।
कण्वः - अथ किम् शोभनः विचारः।
मेनका - ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् इति श्रुतिवाक्यं विचिन्त्य आगता अस्मि गुरूकुलद्वारि। सुप्रसिद्धे अस्मिन् गुरूकुले भवदाश्रये शिक्षां प्राप्य इयं विदुषी सर्वगुण सम्पन्ना च भूयादिति मे स्पृहा।
पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-3, पृष्ठ-10
3. गौतमी - भगिनी मेनके। एकः प्रतिबन्धः त्वया अपि स्वीकरणीयः। बालिकाया ब्रह्मचर्य काले त्वया कदापि गुरूकुलमिदं नहि प्रवेष्टव्यम्
मेनका - स्वीकृतं प्रतिबन्धः।
पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-3, पृष्ठ-11.

मेनका स्वयं तो गुरूकुल में नहीं जाती पर अपनी सखी सानुमती को कभी कभार भेजकर शकुन्तला का समाचार प्राप्त करती रहती है। पुत्री का वियोग सहन कर रही मेनका को सानुमती बताती है कि 'शकुन्तला बाल्यावस्था से युवावस्था को प्राप्त हो चुकी है। रूप सौन्दर्य में तो तुम्हारी ही प्रतिकृति है। वही देहयष्टि, वही दृष्टि, वैसी ही मुस्कान एवं हास्य तथा वैसा ही रूपलावण्य। आकाश से उतरी हुई गङ्गा की भांति वह निर्मल लगती है। इस पर मेनका कहती है कि "मैं उसके व्यवहार, ज्ञान एवं अध्ययन तथा प्रगति के विषय में जानना चाहती हूँ। मैं तो यह जानना चाहती हूँ कि शास्त्र चिन्तन एवं कला शिक्षण में उसकी कैसी अभिरूचि है"?[1]

इस प्रश्न के उत्तर में सानुमती कहती है कि वहां गुरूकुल में तो अध्ययन हेतु अनेक ब्रह्मचारी निवास करते हैं। नियमानुसार सभी यज्ञ करते हैं और व्याकरण साहित्य दर्शनादि शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। सभी आपस में सौहार्दपूर्ण भाव से वहां रहते हैं। शकुन्लता की सखियां अनसूया प्रियंवदा उसके स्नेह पाश में बंधी हुई सदा उसी के साथ विचरती रहती हैं। उन्हीं से मुझे ज्ञात हुआ कि "कुलगुरु ने व्यवहार कुशल शकुन्तला को अतिथि सत्कार का कार्य भार सौंप रखा हुआ है। साथ ही पौधों वृक्षों एवं लताओं की देखभाल करने का कार्य उसे अति रूचिकर लगता है।[2]

मेनका यह सब सुनकर आश्वस्त हो जाती है। शकुन्तला के रूप सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए जब सानुमती मेनका को बताती है कि उसका सौन्दर्य तो इन्द्रलोक की अप्सराओं

---

1. मेनका - सानुमति। स्वागतम्। वीक्षितं महर्षि कण्वस्य गुरुकुलम्, शकुन्तलाम् अधिकृत्य प्राप्ता काचित् सूचना त्वया? मया तु स्वहृदयं पाषाणीकृत्य बहूनि वर्षाणि यापितानि तस्यां वियोगे।
सानुमती - आम्। न केवलं वीक्षितम् अपितु सम्यग् निरीक्षितम्। दुहिता ते बाल्यमवतीर्य कैशोर्यमाप्ता। रूप सौन्दर्यं तु सा तव प्रतिकृति: एव। सैव देहयष्टि:, सैवदृष्टि:, तदेव स्मितं, तदेव च हास्यं तदेव रूपलावण्यंञ्च। नभस: अवतीर्णागङ्गेव सा निर्मला भाति।
मेनका - अहं तु तस्या व्यवहार ज्ञानविषयं विद्याध्ययनविषये च प्रगति ज्ञातुमिच्छामि। शास्त्र चिन्तने कलाशिक्षणे तस्या: कीदृशी अभिरूचि वर्तते?
पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-4, पृष्ठ-11।

2. सानुमती - गुरूकुले तु अनेके ब्रह्मचारिण: अध्ययनार्थं निवसन्ति। यथानियम सर्वे यज्ञं कुर्वन्ति व्याकरण साहित्य दर्शनादि शास्त्राणामध्ययनं च कुर्वन्ति। सर्वे सौहार्देन परस्परं भावयन्त: तत्र तिष्ठन्ति। शकुन्तलाया: सख्यौ अनसूया प्रियंवदे तस्या: स्नेहपाशबद्धे सदैव तया सह विचरत:। ताभ्यां मया ज्ञातं यत् कुलगुरुभि: अतिथिसत्काराय व्यवहारनिपुणा शकुन्तला एवं नियुक्ता। पादपलता वृक्षाणां संरक्षणकार्यं तु तस्यै अतीव रोचते इति।
मेनका - आश्वस्ता अस्मि वृत्तान्तम् इदं श्रुत्वा।
पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-4, पृष्ठ-12

को भी मात करता है तो इस पर मेनका सहसा कह उठती है कि "यह उपमा निम्नस्तरीय है। इन्द्रलोक की अप्सराएं तो धन से ख़रीदी पराधीनता की जंजीरों में आबद्ध दासियों की भांति हैं। मेरी बेटी तो स्वतन्त्र वातावरण में अपने व्यक्तित्व का विकास प्राप्त करे इसी हेतु मैंने उसे स्वयं से दूर रखा है। सखी जानती हो कि माता के लिए अपने बच्चे का त्याग कितना कष्ट कर होता है। अपने जीवन से अपने प्राणों से भी प्रिय (शिशु) को छोड़कर किस प्रकार का कठिन पत्थर जैसा बोझ उसके हृदय पर गिरता है।[1]

सानुमती उत्तर में कहती है कि "भली प्रकार से जानती हूँ। तुम्हारे मातृ हृदय की पीड़ा को जानती हूँ' पर बेटी के लिए जो चाहिए वह प्राप्त हो रहा हैं यही सन्तोष की बात है। शकुन्तला को लेकर तुम्हें किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। गुरुकुल में उसे ऋषि कण्व के पितृस्नेह के साथ ही साथ गौतमी का वात्सल्य भी प्राप्त हो रहा है। सखियों के साथ ज्ञान अर्जन करती हुई वह यथासमय कुलगुरु के प्रताप से अनुरूप वर को भी प्राप्त करेगी। मेनका कहती है सत्य कह रही हो तो भी कभी-कभी चिंतामग्न हो जाती हूँ। **अतिस्नेह आशंका उत्पन्न करता है।**" सखी अगले वर्ष भी तुम्हें वहां जाकर मेरी पुत्री का समाचार लाकर मुझे सुनाना होगा। इस दृश्य से पता चलता है कि शकुन्तला ने बाल्यावस्था पार कर युवावस्था को प्राप्त कर लिया है।[2]

शकुन्तला का समाचार लाने गई सानुमती की प्रतीक्षा करती हुई मेनका को अकस्मात कण्व ऋषि के एक शिष्य शारद्वत से शकुन्तला के सम्राट दुष्यन्त के साथ गान्धर्व विवाह तथा उसके गर्भवती होने का समाचार मिलता है जिसे कण्व ऋषि के आश्रम में गई सानुमती ने भेजा है जो शकुन्तला को लेकर मारीच ऋषि के आश्रम में गई हैं और किसी विशेष कार्य

---

1. मेनका - हीनोपमानम् इदम्। इन्द्रलोकस्य अप्सरसः तु वैभतक्रीताः पराधीनता श्रृङ्खलाबद्धा दास्य एव। दुहिता में स्वतन्त्रे वातावरणे स्वव्यक्तित्वस्य विकासम् आप्नुयात् एतदर्थमेव मया सा निजवक्षः स्थलात् दूरे निहिता। सखि जानासि किं यत् जनन्याः कृते स्वशिशोः त्यागः कियान् कष्टकरः भवति? स्वजीवनात् स्वश्वसिताद अपि प्रियतरं विहाय कियान् कठिन प्रस्तरभारः तस्याः हृदि आपतति।

   पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-4, पृष्ठ-12.

2. सानुमती - सम्यग् अवैमि। तव मातृ हृदयस्य पीड़ामपि जाने परं दुहित्रे यद् अभिलषितं तद् एव सम्पत्स्यते इति सन्तोषावहम्। शकुन्तलामधिकृत्य कापि चिन्ता न कर्तव्या। गुरुकुले तथा कण्वस्य पितृस्नेहः अपि प्राप्तः गौतम्याः मातृवत्सलता अपि लब्धा। सरवीभिः सह ज्ञानमर्जयन्ती सा यथाकाले कुलगुरू प्रतापेन अनुरूपं वरमपि प्राप्स्यति एव।

   मेनका - सत्यं वदसि। तथापि काले-काले चिन्तामग्ना भवामि। **पापशङ्की अति स्नेहः**। सखि आगामिनि वर्षे त्वया तत्र गत्वा दुहितुः मे वृत्तान्तः ज्ञातव्यः मह्यं च श्रावयितव्यः।

   पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-4, पृष्ठ-12.

हेतु मेनका को भी शारद्वत के हाथों वहां बुलवा भेजा है।[1]

शारद्वत मेनका को यह भी बताता है कि सम्राट दुष्यन्त ने शकुन्तला को पहचानने से इन्कार कर दिया है। मेनका को अपना ही इतिहास दुहराया जाता दिखाई देता है। वह कहती है–'अहो, फूलों के लिए फैलाए हुए हाथ कान्टों से विद्ध हो गये। मेरे भाग्य के विपर्यय से सब कुछ प्रतिकूल हो गया।[2] इसके साथ ही मेनका मारीच ऋषि के आश्रम को चली जाती है जहां सानुमती शकुन्तला को लेकर गई हुई है।

"मेनका वात्सल्यम्" रूपक के अन्तिम दृश्य में सर्वप्रथम मेनका और सर्वदमन का वार्तालाप दिखाया गया है। जहां सर्वदमन मेनका से खिलौने लेने का आग्रह कर रहा है। इसी वार्तालाप से मेनका को पता चलता है कि पश्चाताप पीड़ित दुष्यन्त की पत्नी शकुन्तला एवं पुत्र सर्वदमन से मिलन हो गया है जिसे सुनकर मेनका स्वयं को धन्य मानती है।

मेनका के उद्देश्य की पूर्ति तभी होती है जब उसकी बेटी शकुन्तला गृहिणी एवं मां के रूप में प्रतिष्ठित होती है। वह कहती है "हे ईश्वर! अब मेरा जीवन कृतार्थ हो गया। जीवन के प्रथम चरण में मेरी बेटी ने जिसकी अभिलाषा की, जीवन के सन्ध्या काल में मेरी पुत्री ने उसे प्राप्त कर लिया, पतिका प्रेम, गृहिणीपद, सफल मातृत्व। उसकी सन्तुष्टि से मेरा मातृत्व एवं वात्सल्य दोनों सफल हो गये।[3]

इस प्रकार समग्र रूप से दृष्टिपात करने पर स्वत: स्पष्ट हो जाता है कि रूपक की नायिका मेनका जहां दो पुरूषों के हाथों की कठपुतली बनी संघर्षमय जीवन जीने पर विवश हो जाती है वहीं एक तीसरे पुरूष एवं एक महिला की सहायता से उन संघर्षों से छुटकारा पाने में सक्षम भी हो जाती है। मेनका के जीवन में उपजीं संघर्षमय परिस्थितियों का मूल कारण है उसकी पराधीनता।

वास्तव में 'मेनकावात्सल्यम्' नामक रूपक में वात्सल्यमयी मां की अवतारणा की गई है क्योंकि वात्सल्यमयी वह अपनी पुत्री के कल्याण की चिन्ता से युक्त है। इस रूपक के

---

1. शारद्वत - मात:। अहं तु भवत्या सख्या सानुमत्या भवत्सकाशं प्रेपित: अस्मि। सा तु शाकुन्तलां नीत्वा मारीचाश्रमं गता। भवती अपि तत्र आहूता विशेपकार्याय।
पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-5, पृष्ठ-13
2. मेनका - अहो। कुसुमेभ्य: पुसारितौ करौ कण्टकौविद्धा। मद्भाग्यविपर्ययादेव सर्वं प्रतिकूलं जातम्।
पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-5, पृष्ठ-14
3. मेनका - वत्स नहि विस्मरिप्यामि। अद्य तु विधात्रा मम मनोरथ: अभिनन्दित:। हे ईश! कृतार्थं जातं मम जीवनं अद्य। जीवनस्य प्रत्यूपे मया दुहित्रे यद् अभिलपितं जीवनस्य सन्ध्यायां मम दुहित्ता तत्प्राप्तम् पत्यु: प्रेम, गृहिणीपदं सफलं मातृत्वम्। सन्तुप्टायां तस्यां सफलं मम मातृत्वं सफलं च मम वात्सल्यम्।
पुरन्ध्रीपञ्चकम्, दृश्य-6, पृष्ठ-16

माध्यम से यह सन्देश भी दिया गया है कि नारी किसी भी दशा में पुरुष से कम शक्तिशाली नहीं है अपितु पुरूष से भी बढ़कर कठिन से कठिन कार्य को एकाकी पूर्ण करने में सक्षम हैं। विशेषकर तब जब वह एक माता के रूप में उठ खड़ी होती है तो वह एक ममतामयी माता के साथ-साथ कर्त्तव्यनिष्ठ पिता का भी धर्म अकेली निभा सकती है।

वर्तमान समय में भी हम देखते हैं कि अधिकांश नारियां पति के न रहने पर, पति द्वारा त्याग देने पर, पति द्वारा दूसरा विवाह कर लेने पर, पति या प्रेमी द्वारा धोखा देने या अन्य कई कारणों से अकेली अपने बच्चों का लालन पालन करने को बाध्य हैं तथा वह इस कार्य को परिश्रम, निष्ठा एवं कर्त्तव्य भावना से निरन्तर किये भी जा रही हैं।

वैसे प्रस्तुत रूपक की नायिका मेनका के रूप में हमें आधुनिक युग की अविवाहिता मां की छाया दिखाई देती है जो अपनी बच्ची को समाज में पनपी कुप्रथाओं का शिकार नहीं होने देना चाहती, अपितु उसे सुशिक्षित कर अच्छी गृहिणी बनाना चाहती है जो विवाह से पूर्व ही मां बन जाती है। परिस्थितियां चाहे कैसी भी रही हों यथा-बलात्कार, भटकन, छल-कपट इत्यादि कई कारणों से वर्तमान काल में कई कन्यायें अविवाहिता मां बनने पर विवश हो जाती हैं। कई तो आधुनिक तकनीक के सहारे समय रहते बदनामी के भय से गर्भपात जैसा घृणित कार्य भी करवा लेती हैं और जो ऐसा नहीं कर पाती वह बच्चे को या तो मार कर फैंक देती हैं या कहीं भी छोड़ आती हैं।

मेरा तो यह मानना है कि सर्वप्रथम मानव एवं सामाजिक प्राणी होने के नाते स्वेच्छा से तो किसी भी कन्या/नारी को ऐसा निन्दनीय कार्य करना ही नहीं चाहिए और यदि किन्हीं परिस्थितियों वश किसी भी नारी के साथ कोई दुर्घटना घट भी जाती है तो समाज को चाहिए कि उसे हतोत्साहित करने की अपेक्षा प्रोत्साहित करे, ताकि ऐसी घटनाओं की शिकार नारियां समाज में मान-सम्मान के साथ जी सकें।

वर्तमान काल में मेनका जैसी असंख्य नारियां हैं जिनकी गणना कर पाना भी असंभव है। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए जैसे मेनका इन्द्रलोक की अप्सरा थी, विश्वामित्र जैसे ऋषि की तपस्या भङ्ग करने गई परन्तु विश्वामित्र को देखकर उसके हृदय में गृहस्थ जीवन जीने का विचार उत्पन्न हुआ तो मन ही मन उन्हें पति मान लिया। विश्वामित्र ने भी उसके रूप गुणों पर मोहित होकर विवाह का प्रस्ताव रखा जिसे मेनका ने भी सहर्ष स्वीकार कर लिया तथा वह गृहस्थ जीवन जीने लग पड़े। परन्तु जब मेनका गर्भवती हुई तो एक दिन अकस्मात विश्वामित्र उसे छोड़कर कहीं चले गये और वापिस नहीं आये। तो पति के द्वारा त्यागी हुई मेनका ने बड़े धैर्य एवं साहस के साथ आत्महत्या न करके वन में ही बच्ची को जन्म दिया तथा उसके उज्ज्वल भविष्य के निर्माण हेतु हृदय पर पत्थर रखकर उसे कण्व ऋषि के आश्रम में विधवा गौतमी के संरक्षण में छोड़ा जहां उसके लालन-पालन के साथ

ही उसकी शिक्षा-दीक्षा भी हुई।

मेनका के जीवन में घटित दुर्घटना में कुछ तो उसके स्वामी के आदेश का, कुछ स्वेच्छा का तथा कुछ पति के विश्वासघात का योगदान है। परन्तु वह इस सब से घबराई नहीं और हिम्मत करके अपनी बच्ची को कण्व ऋषि के आश्रम में रखा जहां उसे पाला-पोसा तो गया ही साथ ही सुशिक्षित भी किया गया। दुष्यन्त जैसे राजा के साथ उसका गान्धर्व विवाह हुआ। परन्तु जब शकुन्तला के विवाहित जीवन में भी मेनका की ही भान्ति कठिन परिस्थितियां उत्पन्न हुई तो बेटी शकुन्तला की उन कठिन परिस्थितियों में मेनका ने सानुमती के माध्यम से उसे पूर्ण सहयोग दिया जिससे उसका गृहस्थ जीवन पुनः स्थापति हो पाया।

वर्तमान काल में मानव मूल्यों में अत्यधिक परिवर्तन हो चुका है। साथ ही इस समय न तो ऋषि आश्रमों जैसी कोई सुव्यवस्थित जगह है जहां पर माताएं अपने बच्चों को छोड़कर उनके लालन-पालन एवं शिक्षा सम्वन्धी चिन्ता से मुक्त हो सकें तथा न ही इन्द्रलोक जैसा कोई स्वर्ण है जहां यह स्वयं आजीविका कमा कर मान-सम्मान का जीवन जी सकें। इसके विपरीत आधुनिक युग में हमारे समाज में वहुत से बाल आश्रम खोले गये हैं जहां पर कई प्रकार से अनाथ हुए बच्चों को आश्रय दिया जाता है। उनके लालन-पालन के साथ ही उनकी शिक्षा इत्यादि की ओर भी ध्यान दिया जाता है। ऐसी माताओं को चाहिए कि गर्भपात जैसे दुष्कर्म न करके अपने बच्चे को हिम्मत करके स्वयं पाले-पोसे। यदि ऐसा संभव न हो तो वह बच्चे को बाल या अनाथ आश्रम में रख सकती है। जहां उसका लालन-पालन भी हो सके तथा उसकी शिक्षा-दीक्षा भी ताकि निकट भविष्य में वह एक अच्छा नागरिक बन कर मान-सम्मान का जीवन जी सके जिसका वह अधिकारी है न कि चोर, उचक्का, गुंडा इत्यादि बन कर धरती माता पर एक और बोझ बन जाये।



आगम परम्परा में काश्मीर शैवदर्शन का सीमाङ्कन

डॉ॰ रामबहादुर[1]

भारतीय दर्शन के मूल आधार वेद एवं उपनिषद् ही माने जाते हैं। दर्शन के समान धर्म का मूल भी वेद[2] ही है : जैसा कि **''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्''** जैसी व्युत्पत्ति से स्पष्ट भी है। धर्म एवं दर्शन से ओतप्रोत षडास्तिक दर्शन एवं षड् नास्तिक दर्शनों के लिए अतिरिक्त शैव, शाक्त, एवं वैष्णव विचारविधाएँ भी किसी न किसी प्रकार वेदों से उपकृत दिखती हैं। वैसे तो वेद के लिए अनेक पर्यायवाची शब्द यथा - श्रुति, आम्नाय, त्रयी, छन्द, स्वाध्याय, आगम तथा निगम वर्णित मिलते हैं[3], क्योंकि वेद शब्द किसी ग्रन्थ का वाचक न होकर सम्पूर्ण ज्ञान का वाचक है, एवं इन्हीं के अलौकिक ज्ञान से इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट का परिहार भी संभव हो पाता है।[4] शैव दर्शन का क्षेत्र भी चिन्तन जगत में सहादृत एवं विस्तृत है, जिसके मूलस्रोत आगम ग्रन्थ माने जाते हैं, जो तन्त्र रूप में भी प्रसिद्ध हैं। अतएव तन्त्र, आगम, निगम एवं वेद शब्द को प्रसङ्गतः व्याख्यायित करना समीचीन लगता है।

---

1. समवाप्त, अभिनव अभिनवगुप्त अलङ्करण, वरिष्ठ प्रवक्ता संस्कृत विभाग, जम्मूविश्वविद्यालय, जम्मू, 180004, दूरभाष - 0191-2438099 (R), 9419233034 (M)

2. विदन्त्यनेन धर्मः। - अमरकोष-1/5/3, विद् + घञ् + अच्, सं.हि.को.-आप्टे, पृ. 975 - गुरुमुखादनुश्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः। वाचस्पति मिश्र - सां.त., कौ. - पृ. 2

3. Ved, Meaning literally knowledge--------ग्रिफिथ - ऋग्वेद, पृ. 5

श्रुतिः त्रयी वेद आम्नायस्त्रयी। - अमरकोष - 1/6/3

त्रीन् वेदान् विदन्तीति त्रिविधं----ते च मन्त्रभागं ऋगादि स्वपेण त्रिविधमाहुः। निरुक्त - 3।16।20

यो वै वेदांश्च प्रहिणोत तस्मै। श्वे.उप. 6/8

विद् ज्ञाने, सत्तायाम्, लाभे, विचारणे वा। एतेभ्यो हलश्च इति सूत्रेणकरणाधिकरणकारकयोर्घञ् प्रत्यये कृते वेद शब्दः साध्यते।-----विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विदन्ति - विन्दते, लभन्ते विचारयन्ति सर्वेमनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।

- दयानन्द, ऋ.भा.भू., सम्पा. - युधिष्ठिर मीमांसक, पृ. 22

4. अलौकिकं पुरुषार्थोपायं वेत्ति अनेन इति वेदशब्दनिर्वचनम्-----

इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।

- तै.भा. भूमिका - सं. बलदेव उपाध्याय, पृ. 2

तन्यते विस्तार्यते ज्ञानम् अनेन इति तन्त्रम् [तन् (विस्तारे) + त्रै (रक्षणार्थं) = तन्त्र, तन् + ष्ट्रन् प्रत्यय = तन्त्र, तन्त्र + अच् = तन्त्रम्[1]] जैसी व्युत्पत्ति के अनुसार तन्त्र वह शास्त्र है, जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है, परन्तु लोकव्यवहार में तन्त्र का अभिप्राय उस शास्त्रविशेष से माना जाता है, जो मन्त्र, कील, कवच आदि से सम्बन्धित, एक विशिष्ट विधा का उपदेश देता है। कामिक आगम, जैसे शैवसिद्धान्तीय ग्रन्थ में तन्त्र के विषय में वर्णित मिलता है कि–

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥

इस रूप में 'तन्त्र' शब्द का अर्थ शास्त्र सिद्धान्त, अनुष्ठान, विज्ञान, एवं मन्त्र रूप में स्वीकृत हुआ, एवं शङ्कराचार्य ने तो "स्मृतिश्चतन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता" रूप में सांख्य दर्शन को स्मृति एवं तन्त्र के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है।[2] यथा–

न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः।
यतयो योगतन्त्रेषु यान् स्तुवन्ति द्विजातयः॥

यदि 'आगम' शब्द की व्याख्या की जाये, तो कुछ विद्वान् "परम्परया आगतोऽयम् आगमः, इस व्युत्पत्ति के आधार पर इन्हें अतिप्राचीन मानते हैं, तो कुछ विद्वान् गत्यर्थक गम्लृ धातु से निष्पन्न आगम शब्द को आगमनार्थक स्वीकार करते हैं[3], तो कुछ गत्यर्थक होने से यह ज्ञानार्थक हैं, इस युक्ति से आङ् पूर्वक गम्लृ धातु से निष्पन्न आगम् शब्द को पूर्ण ज्ञान का बोधक स्वीकार करते हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में आगम की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "आगच्छन्तिबुद्धिमारोहयन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः सः आगमः[4]" अर्थात् आगम वह शास्त्र हैं, जिससे बुद्धि में अभ्युदय तथा निःश्रेयस के उपाय आते हैं। तात्पर्यार्थ रूप में तंत्र के अपर नाम के रूप मे आगम को माना जा सकता है, जैसा कि सूक्ष्मतंत्र में वर्णन भी मिलता है "श्रुतितन्त्रम् इति।" निगम भी वेद का अपर नाम है।[5] आप्तोक्तिरागमः सोऽपि "इस पुष्कर ऋषि के साथ-साथ कुल्लूकभट्ट के कथन = वैदिकी तान्त्रिकी चैव द्विविधा श्रुतिकीर्तिता" एवं श्रीकण्ठशिवाचार्य के कथन "वेदागमयोर्भेदं न पश्यामः"

---

1. सं.हि.कोष - आप्टे - पृ. 420
2. शाङ्करभाष्य - (ब्रह्मसूत्र पर) - 2/1/1
3. आगम = आ + गम् + घञ् = आना, पहुँचना, दर्शन देना, सं.हि.को. - आप्टे, पृ. 129 आगमवन्त्यलोपः स्यात् ;- मी.सू. 10/5/1
4. विशिष्ट व्याख्या हेतु द्रष्टव्य - तत्त्ववैशारदी 1/7 की व्याख्या
5. नि + गम् + घञ् - सं.हि.को. - आप्टे, पृ. 523

से आगमों की वेदवद् आप्तवाक्यता स्पष्ट हो जाती है। श्रीकरभाष्य[1] तथा सिद्धान्तागम में वर्णित तथ्यों से भी आगमों की वेदवाक्यता स्पष्ट है।[2] आगमों के लक्षणों को ध्यान में रखकर तन्त्र एवं आगम के विषय में यह कहा जा सकता है कि आगम व्यवहार पक्ष की प्रधानता पर बल देता है जब कि तन्त्र साधना या क्रिया पर अधिक जोर डालता है, जैसा कि महानिर्वाणतंत्र में वर्णन मिलता है "विना ह्यागमार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये।" एवं कुलार्णवतन्त्र का कथन है कि–

कृते श्रुत्योक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्मतः।।

यदि आगमो के काल या समय की बात की जाये, तो इनकी पूर्व सीमा का निर्धारण करना अत्यन्त दुरूह है, क्योंकि आगमों में वर्णित उपास्य देव, शिव या रुद्र की अर्चना एवं पूजन का प्रमाण, वेदों के साथ-साथ मोहनजोदड़ो की सभ्यता में शिवलिङ्ग मिलने से, इतना तो स्पष्ट है कि रुद्रार्चना तो वेदकालीन है।[3] तैत्तरीय संहिता (4/5/1) एवं वाजसनेयि संहिता के सोलहवें अध्याय (रुद्राष्टध्यायी नाम से प्रसिद्ध) में वर्णित शिवोपासना आज भी भारतीय समाज में प्रचलित दिखती है। पाञ्चरात्रागम में वर्णित पूजाविधि महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णित मिलने से आगमों का काल ईसा से 200 वर्ष पूर्व माना जा सकता है। भगवद्गीता में भी पाञ्चरात्रागम में वर्णित वासुदेव का महत्त्व तो स्थित है ही। ऐतरेय एवं शतपथ ब्राह्मण में पाञ्चरात्रों को "सात्त्वत" संज्ञा से संज्ञापित किया गया है। दक्षिण के एक विद्वान् ने भगवद्गीता में शैवागम से सम्बन्धित अनेक तथ्यों एवं कार्यों का विवरण मिलने से इनका काल 1400 ई.पू. स्वीकार करते हैं।[4] डॉ. एस.सि. नन्दीमठ महोदय तो यहाँ तक मानते हैं कि पाञ्चरात्रागम में शैवागमों की विषयवस्तु वर्णित मिलती है, परन्तु वहाँ वैष्णवागमों का उल्लेख नहीं मिलता,

---

1. अष्टादशानामेतासां विद्यानां ब्रह्मवर्त्मनाम्।
आदिकर्ता शिवः साक्षात् शूलपाणिरिति स्थितिः।।
विमर्शरूपिणी शक्तिः शिवस्य परमात्मनः।
निगमागमरूपा स्यात् सर्वतत्त्वप्रकाशिनी।। श्रीकर भाष्य 1/3
2. वेदः प्रधानं सर्वेषां सांख्यादीनां महामुने।
वेदानुसरणादेषां प्रामाण्यमिति निश्चितम्।।
पाञ्चरात्रस्य सांख्यस्य योगस्य च तथा मुने।
वेदैकदेशवर्तित्वं शैवं वेदमयं मतम्।।
वेदैकदेशवर्तिभ्यः सांख्यादिभ्यो महामुने।
सर्ववेदानुसारित्वात् प्रमाणं वेदवत् सदा।। – सिद्धान्तागम ।
3. द्रष्टव्य – Vaishnavism, shaivism and Miner Religious system - Dr. R.G. Bhandarkar, पृ. – 145
4. द्रष्टव्य – मल्लादिसूर्यनारायणशास्त्रिविरचितम् – संस्कृतवाङ्मयचरितम्, पृ. 71

अतएव शैवागम वैष्णवागमों से अत्यन्तप्राचीन हैं।[1] श्रीरं. दिवाकर महोदय का मानना है कि शैवागम 2000 ई.पू. रचित हुए।[2] ईसा की पाँचवीं शताब्दी में प्राप्त कांची शिलालेख में 28 शैवागमों का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है।[3] आज उपलब्ध आगम ग्रन्थों की बात की जाये, तो उनका समय पाँचवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य रखा जा सकता है। इन आगमों में क्रिया, चर्या, योग एवं ज्ञान (विद्या) इन चारों की विधिवत् विवेचन वर्णित मिलता है।

पाँचवीं से नवीं शताब्दी तक दक्षिणभारत तमिलप्रदेश में अवतरित कई महान् सन्त हुए हैं जिनमें अप्पर, सम्बन्धर (शिवज्ञानसम्बन्ध) और सुन्दरर (सुन्दरमूर्ति) प्रसिद्ध हैं। इनका भक्तिरसपूर्ण ग्रंथ तिरुमुरै, माणिक्यवासक (7वीं शती) रचित तिरुवासगम्, मइकण्डर (13वीं शती) रचित शिवज्ञान वोधम्, मइकण्डर के शिष्य अरुलन्दीशिवाचार्य रचित शिवज्ञानसिद्धियर, श्रीकण्ठशिवाचार्य (14वीं शती) कृत ब्रह्मसूत्रभाष्य, एवं उस पर अप्पयदीक्षित की–शिवार्कमणि-दीपिका प्रमुख हैं। काश्मीर शैवागम का मूल शिवसूत्र माने जाते हैं, जो आचार्य वसुगुप्त को स्वप्न में भगवान शिव से प्राप्त हुए थे। इस आगम के प्रमुख ग्रंथों में, शिवसूत्र, मालिनीविजयोत्तर-तंत्र स्वच्छंद तंत्र, रुद्रयामलतंत्र, नेत्रतंत्र, मृगेन्द्र तंत्र, विज्ञान भैरव, वसुगुप्त (8वीं शती) रचित स्पन्दकारिका, सोमानन्द (9वीं शती) की शिवदृष्टि एवं परात्रिंशिकाविवरण, परात्रिंशिकावृत्ति उत्पलदेव (10वीं शती) रचित प्रत्यभिज्ञाकारिका कल्लट रचित स्पन्द सर्वस्व (10वीं शती उत्तरार्द्ध) रचित प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, परमार्थसार, तन्त्रालोक, क्षेमराज (11वीं शती) रचित शिवसूत्रविमर्शिनी, एवं स्पन्दसन्दोह श्रीमन्निजगुणशिवयोगिविरचित विवेकचिन्तामणि (11वीं शती), तिरुमूलर रचित तिरुमंदिर (6वीं शती) राजानकरामकण्ठ (900-925) मतंगवृत्त, उमापतिशिवाचार्य का पौष्कर भाष्य, अघोरशिव की रचनाएँ (11वीं शती), ईशानशिव (11वीं शती) की ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, तथा माधवाचार्य (14वीं शती) कृत सर्वदर्शन संग्रह प्रमुख हैं। स्मरणीय है कि शैवसिद्धान्त का केन्द्र तमिल प्रदेश, प्रत्यभिज्ञादर्शन का कश्मीर एवं वीरशैवमत का केन्द्र कर्नाटक था। वीरशैवमत के प्रचारक वसव (12वीं शती) माने जाते हैं। श्रीपति (11वीं शती) का ब्रह्मसूत्र पर श्रीकरभाष्य, एवं श्रीशिवयोगीशिवाचार्य का सिद्धान्त शिखामणि प्रसिद्ध ग्रंथ हैं, जब कि शाक्तागमों के प्रमुख ग्रंथ उपनिषद् एवं पुराण तथा स्वच्छन्द तंत्र आदि ही प्रमुख माने जाते हैं।

अब यदि आगमों के विभाजन पर दृष्टिपात की जाये, तो आगमों को वैदिक एवं अवैदिक दो भागों में विभक्त किया जा सकता है जैसा कि अप्पयदीक्षित ने शिवार्कमणिदीपिका में स्वीकार किया है। उनका यह अभिमत है कि वैदिक शैवागम वेदाधिकारियों के लिए है और अवैदिक शैवागम वेद के अनधिकारियों के लिए, परन्तु आज अवैदिक शैवागम लुप्तप्राय

---

1. द्रष्टव्य - शिवानुभवः - पृ. 06
2. द्रष्टव्य - वचनशास्त्ररहस्यम्, पृ. 289-299
3. भारतीय दर्शन - एस.एन. दास गुप्ता, भाग - 2, पृ.

हैं। एक अनुश्रुति के अनुसार कैलाशपति भगवान श्रीकण्ठ ने अपने भक्त दुर्वासा को आदेश दिया कि वे लुप्त आगमशास्त्र का उद्धार करें। तदनुसार दुर्वासा ने आगमशास्त्र के तीन भेद किये, द्वैत, द्वैताद्वैत एवं अद्वैत, और इन्हें त्रयम्बक, आमर्दक तथा श्रीनाथ नामक अपने तीन मानस पुत्रों को पढ़ाया। इन्हीं शिष्यों से क्रमशः अद्वैत, द्वैत तथा द्वैताद्वैत आगमों का प्रचार प्रसार हुआ, इन्हें क्रमशः भैरवतंत्र, शिवतंत्र, तथा रुद्र तंत्र कहते हैं। इनके अतिरिक्त एक चौथी विचारधारा त्रयम्बक के कन्यापक्ष से प्रचारित की गयी, जो शाक्तागम कहलाई। सिद्धान्तशिखामणि में आगमों को आस्तिक एवं नास्तिक में विभाजित किया गया है।[1] साथ ही उसके चार प्रमुख भेदों यथा – शैव, पाशुपत, सोम एवं लाकुल माने गये हैं। कुल आगमों में 108 पाञ्चरात्रागम, 64 शाक्तागम, 327 उपतन्त्र, 28 शैवतन्त्र, 127 उपतन्त्र, 75 वैष्णवतन्त्र, एवं 205 अन्य उपतन्त्रों का नाम शैवागमों में सुना जाता है, लेकिन आज उपलब्ध आगमों की संख्या विद्वानों द्वारा 92 ही स्वीकृत है, जिसमें 64 भैरव आगम, 10 शैवागम, तथा 18 रौद्रआगम परिगणित हैं।

भैरव आगमों को आठ अष्टकों में विभाजित कर, 64 भैरवागमों को निम्नलिखित रूप में विभाजित कर रखा जा सकता है–

1. **भैरवाष्टक** – स्वच्छन्द, भैरव, चण्ड, क्रोध, उन्मत्तभैरव, असितांग भैरव, महोच्छूष्म एवं कंकालीश
2. **यामलाष्टक** – आदि, ब्रह्म, विष्णु, रुद्र, आथर्वण, रुरु, वेताल एवं सिद्धि।
3. **मताख्याष्टक** – रक्ताख्य, लम्पटाख्य, लक्ष्मी, मत, चालिका, पिंगल, उत्फुल्लक एवं विश्वाद्य।
4. **मंगलाष्टक** – भैरवी, पिचुतन्त्र, समुद्भव (के दो प्रकार), ब्राह्मी कला, विजया, चन्द्राख्या, मंगला तथा सर्वमंगला।
5. **चक्राष्टक** – मंत्रचक्र, वर्णचक्र, शक्तिचक्र, कलाचक्र, विन्दुचक्र, नादचक्र एवं गुह्यचक्र।
6. **शिखाष्टक** – भैरवी, वीणा, वीणामणि, सम्मोह, डामर, आष्थर्वक, कबन्ध, एवं शिरश्छेद।

---

1. आगमा बहुधा प्रोक्ता शिवेन परमात्मना। शैवं पाशुपतं सोमं लाकुलं चेति भेदतः।।
तेषु शैवं चतुर्भेदं तन्त्रं सर्वविनिश्चतम्। वामं च दक्षिणं चैव मिश्रं सिद्धान्तसंज्ञकम्।।
शक्तिप्रधानं वामाख्यं दक्षिणं भैरवात्मकम्। सप्तमातृपरं मिश्रं सिद्धान्तं वेदसम्मतम्।।
वेदधर्माभिधायित्वात् सिद्धान्ताख्यः शिवागमः। वेदबाह्यनिरोधित्वात् वेदसंभत उच्यते।।
–सि॰ शिखामणि. प. प.–9–12

7. **बहुरूपाष्टक** - अन्धक, रुरुभेद, अजाख्य, मलसंज्ञक, वर्णकण्ठ, विडंग, ज्वालिन एवं मातृरोदन।

8. **वागीशाष्टक** - भैरवी, चित्रिका, हंसाख्य, कादम्बिका, हृल्लेखा, चन्द्रलेखा, विद्युल्लेखा तथा विद्युन्मान्।

उपलब्ध भैरवागमों में स्वच्छन्द आगम ही आज दार्शनिक जगत में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। शैवमत के विद्वान् शैव आगमों की संख्या 10 तथा रौद्र आगमों की संख्या 18 मानते हैं। वास्तव में शैव आगमों एवं रौद्र आगमों में शैवमत को प्रधानता मिली है एवं भैरव आगमों को केवल शाक्त मत में ही विशेष महत्त्व दिया गया है, इसलिए भैरव आगमों को शाक्तागम भी कह लिया जाता है। लेकिन आगमों में केवल कामिक आगमों का महत्त्व सर्वोपरि माना गया है। दस शैव आगम हैं–(1) कामिक (2) योगज (3) चिन्त्य (4) मुकुट (5) अंशुमत (6) दीप्त (7) अजित (8) सूक्ष्म (9) सहस्र तथा (10) सुप्रभेद। अठारह रौद्र आगमों को निम्नलिखित रूप में रखा जा सकता है–(1) विजय (2) निःश्वास (3) मद्गीत (4) पारमेश्वर (5) मुखविम्ब (6) सिद्ध (7) सन्तान (8) नारसिंह (9) चन्द्रांशु (10) वीरभद्र (11) आग्नेय (12) स्वायम्भू (13) विसर (14) रौरव (15) विमल (16) किरण (17) ललित एवं (18) सौमेय। किन्तु शैवसिद्धान्त में उपर्युक्त दस आगमों एवं अठारह रौद्र आगमों के नाम दूसरे अन्य नामों के साथ वर्णित मिलते हैं।[1] भैरव आगम, शैव आगम, तथा रौद्र आगमों के अतिरिक्त आगम परम्परा में शाक्त आगम भी परिगणित मिलते हैं, जिनकी संख्या 64 मिलती है, साथ ही इन आगमों के उपभेद भी हैं, जिनकी संख्या अत्यधिक है। यदि इनकी भाषा की बात की जाये, तो दाक्षिणात्य विद्वान् इनकी मूल भाषा तमिल मानते हैं, जब कि उत्तर भारत के विद्वान् इनकी मूल भाषा संस्कृत मानते हैं। संभव है आवश्यकतानुसार इनका अनुवाद तमिल से संस्कृत एवं संस्कृत से तमिल में कर लिया गया हो, परन्तु इनकी मूल भाषा संस्कृत ही रही होगी, क्योंकि उपलब्ध आगमों की बहुलता संस्कृत माध्यम में ही प्राप्त मिलती है। वायवीय संहिता, शिवपुराण तथा सूत संहिता में आगमों का उल्लेख वर्णित मिलता हैं। स्वायम्भुव आगम में यह भी वर्णित मिलता है कि आगमों के अनुवाद, प्राकृत तथा अन्य आञ्चलिक भाषाओं में भी हुए है, जिससे इन्हें सामान्य मनुष्य की परिधि तक भी पहुँचाया जा सके, जो कि वास्तव में ऋषियों की वाणी से ओतप्रोत थे, क्योंकि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में लिखा है "ऋषीणामपि यद् ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम्।।"

---

1. दस शैव आगमों एवं अठारह रौद्र आगमों के कुल नाम क्रमश निम्नवत् हैं–(1) कामिक (2) योगज (3) चिन्त्य (4) कारण (5) अजित (6) मद्गीत (7) सूक्ष्म (8) सहस्र (9) अंशुमान् (10) सुप्रभेद (11) विजय (12) निःश्वास (13) स्वायम्भुव (14) अनल (15) नीर (16) रौरव (17) मुकुट (18) विमल (19) चन्द्रज्ञान (20) बिम्ब, (21) प्रोद्गीत (22) ललित (23) सिद्ध (24) सन्तान (25) सर्वोत्तर (26) परमेश्वर (27) किरण (28) वातुल। द्रष्टव्य-सूतसंहिता-की तात्पर्य दीपिका, पृ. 514

आगमों का सीमाङ्कन करने के अनन्तर अब इनके आधार पर भारत में प्रचलित मतों या सम्प्रदायों को सीमाङ्कन या उल्लेख का विवरण यदि लोकजीवन के समक्ष प्रस्तुत किया जाय, तो आगमों के परम तत्त्व शिव या रुद्र या भैरव का सन्दर्भ रखना समीचीन प्रतीत होता है। एक ही शिव विविध रूपों में यथा–महेश्वर, कपर्दी, शिव, पति, पशुपति, शम्भु, भव, गिरीश, रुद्र, पशुनां पति, सर्व, शिवातनु, सम्भव, शंकर तथा त्रयम्बक आदि रूपों में वर्णित मिलते हैं। ''मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्'' रूप में श्वेताश्वतर उपनिषद्, शिव को महेश्वर एवं मायी रूप में वर्णित करता है। केनोपनिषद् में उमा हैमवती का उल्लेख मिलता है, परन्तु वह यहाँ पति पत्नी रूप में वर्णित नहीं मिलते। वामनपुराण में शिव के उल्लेख के साथ-साथ शैवों के चार मत भी वर्णित मिलते हैं, जो हैं शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक।[1] कालदमन को वाचस्पति मिश्र ने कारुणिक सिद्धान्ती कहा है,[2] जब की यामुनाचार्य उन्हें कालामुख मानते हैं[3]। वर्तमान में कालामुख नाम ही अधिक प्रचलित है। इस प्रकार शैव या महेश्वर–सम्प्रदाय, शैव, पाशुपत, कालामुख एवं कापालिक रूप में दार्शनिक जगत में प्रसिद्ध हुआ, परन्तु अनन्तर में पाशुपत सम्प्रदाय की जगह शाक्त सम्प्रदाय ने ले ली। कालामुख एवं कापालिक सम्प्रदायों को भी समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिला। केवल शैव सम्प्रदाय ही अपनी विशिष्टताओं के कारण दार्शनिकों के आकर्षण का केन्द्र बना रहा, जिसमें आज इसके चार रूपों की अवस्थिति भारतीय चिन्तकों के मध्य अवस्थित है। वह हैं–(1) काश्मीर शैव सम्प्रदाय (2) वीर शैवमत (3) शैव सिद्धान्त तथा (4) शाक्त-सम्प्रदाय। और यदि मध्वाचार्यकृत सर्वदर्शनसंग्रह में प्राप्त शैवमतों का नामाङ्कन किया जाये, तो वे हैं– नकुलीश-पाशुपत, शैव, शैव, प्रत्यभिसा एवं रसेश्वर, साथ ही यामुनाचार्य के यदि कापालिक एवं कालामुख नामक दो शैव मतों को इनमें जोड़ा जाये, तथा दक्षिण में प्रचलित शैव मतों वीर शैव या लिङ्गायत सम्प्रदाय एवं शैव सम्प्रदाय को रखा जाये, तो कुल शैवागम में आठ मत या सम्प्रदाय माने जा सकते हैं, लेकिन शैवागमों के आधार पर आज दार्शनिक जगत में काश्मीर शैव मत को ही भारत को ही विश्व में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है। जिसका प्रचार पहले कश्मीर में हुआ था अनन्तर में इसके अनुयायी भारत ही नहीं विश्व के अनेक स्थानों में आज भी दृष्टिगोचर मिलते हैं। वीर शैवमत का प्रचार प्रसार मैसूर या कर्नाटक तक तथा शैव सिद्धान्त का प्रचार प्रसार तमिलनाडु में था, एवं वहीं तक सीमित रह गया।

इस प्रकार विविध शैवमतों का उल्लेख करने के अनन्तर यह कहा जा सकता है कि काश्मीरी शैव मत अपनी विशिष्ट विशेषताओं के कारण ही आज लगभग 1500 वर्षों तक अपनी विशिष्ट विशेषताओं के कारण ही आज लगभग 1500 वर्षों तक अपनी प्रासङ्गिता को

---

1. विशिष्ट विवरण हेतु द्रष्टव्य-वामन पुराण-26वाँ एवं 44वाँ अध्याय
2. भामती - 2.2.36
3. द्रष्टव्य- आगम प्रामाण्य- पृ. 48-49

लोकजीवन के मध्य जीवित किये हुए है। जो अपने अन्य अपर नामों यथा-प्रत्यभिज्ञा, दर्शन, त्रिक् दर्शन, ईश्वराद्वय, शैवपराद्वैत, शिवशास्त्र, शिवासन, षडर्थशास्त्र, षडर्धक्रमविज्ञान, स्वातन्त्र्यवाद एवं स्पन्दशास्त्र आदि द्वारा भी लोकजीवन में व्यवहरित नरनारियों द्वारा जाना जाता है। इस मत के प्रमुख आचार्यो में वसुगुप्त, कल्लट, सोमानन्द, उत्पलदेव, अभिनवगुप्त, क्षेमराज, योगराज, वरदराज, जैरथ, रामकण्ठ, आदि प्राचीन आचार्य हैं, जब कि आधुनिक विद्वानों में प्रमुख हैं–''प्रो. बैटिना बामर (आस्ट्रिया), पं. कमलाकर मिश्र, बलजिन्नाथ पण्डित पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती प्रो. नवजीवनरस्तोगी स्वामी लक्ष्मणज् महराज, पं. गोपीनाथ कविराज, प्रो. डी. बी. सेन, प्रो. गौरीनाथ चट्टोपाध्याय, डॉ. जी. जी. गोस्वामी, पो. रामचन्द्र द्विवेदी, पं. ब्रजवल्लभ द्विवेदी, प्रो. कौशिल्या वल्ली एवं प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी आदि।

काश्मीर शैवदर्शन में 36 तत्त्व स्वीकृत हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने तत्त्व की परिभाषा देते हुए कहा कि ''जो अपने कार्य में एवं गुणों के समूह में, या अपने समान गुण वाली वस्तु में सामान्य रूप से व्यापक हो, वह तत्त्व कहलाता है।[1] यहाँ तत्त्व के प्रमुखतः तीन विभाग हैं–शिवतत्त्व[2], विद्या तत्त्व तथा आत्मतत्त्व। शिवतत्त्व दो रूपों में ''शिव तथा शक्ति'' में, विद्या तत्त्व त्रिविध रूपों = सदाशिव, ईश्वर तथा शुद्ध विद्या में परिणत मिलते हैं, जब कि आत्म तत्त्व 31 रूपों वाला हैं–माया, कला, शिवद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ एवं पंच-महाभूत। शिव ही परमतत्त्व हैं, जो अद्वय रूप होने के साथ-साथ परमात्मा, परमेश्वर, परमशिव, तथा अनुत्तर आदि नामों से अभिहित मिलते है, लेकिन शक्ति के विना शिव को अपने चैतन्य का अनुभव नहीं हो पाता, क्योंकि शक्ति के बिना शिव में स्पन्दन नहीं हो पाता, शायद इसीलिए शक्ति के विना शिव शवरूप ही मान्य हैं जैसा कि वर्णन भी मिलता है–

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेदेवं न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।।

आचार्य कल्लट[3] ने स्पन्दसिद्धान्त को इतने प्रभावशाली ढंग से व्याख्यापित किया है कि उस नाम पर ही काश्मीर शैवदर्शन स्पन्दशास्त्र कहा जाने लगा। स्पन्दशास्त्रानुसार मोक्ष के तीन

---

1. स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे।
आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद् व्याप्तृभावतः।।
तत् तत्त्वं क्रमशः पृथिवीशुथानं पुंशिवादयः।। तंत्रालोक 6.4-5
2. 'शिव' पद की व्याख्या करते हुए शिवपुराण में कहा गया है–
शं सुखनित्यमानन्दविकारः पुरुषः स्मृतः।
वकार शक्तिरमृतं मेलनं शिव उच्यते।। शि. पु. 1.12.76
3. अनुग्रहाय लोकानां भट्टश्रीकल्लटादयः।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्।। राजतरंगिणी-5.66

उपाय स्वीकृत मिलते हैं–सांभव, शाक्त, तथा आणव। इन तीनों उपायों में योगाभ्यास को आवश्यक अंग के रूप में स्वीकारा गया है। इन तीनों उपायों के अतिरिक्त मोक्ष के चौथे उपाय के रूप में प्रत्यभिज्ञा स्वीकृत हैं, जिसमें योगाभ्यास की आवश्यकता स्वीकृत नहीं है। आचार्य सोमानन्द[1] ने प्रत्यभिज्ञा (स्वयं की आत्मा को पहचानना) को इतने प्रभावशाली ढंग से मोक्ष के उपाय के रूप में लोकजीवन के समक्ष रखा, कि यह सर्वजनो द्वारा ग्रहीत भी हुआ, एवं यह दर्शन प्रत्यभिज्ञा दर्शन रूप में भी अपनी प्रसिद्धि दार्शनिक जगत में बना पाने में समर्थ हुआ।

काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि शिव की लीला का विलास मात्र है। जगत और जीव शिवस्वरूप ही हैं। शिव अपने विलासों से स्वयं को विविध रूपों में अभिव्यक्त करते रहते हैं। सृष्टि व्यापार के लिए उन्हें किसी अन्य उपादान की आवश्यकता नहीं होती है। स्वयं वसुगुप्त लिखते हैं–

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने॥

परन्तु यहाँ यह भी कहना प्रासङ्गिक प्रतीत होता है कि शिव सदा अपनी पंचशक्ति-समन्विता शक्ति से ओतप्रोत रहते हैं-वे हैं चित्शक्ति, आनन्दशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं क्रिया शक्ति। और अपनी शक्ति के माध्यम से ही शिव सृष्टि, स्थिति, संहार विलय तथा अनुग्रह की क्रियाएँ निरन्तर करते रहते है।[2] शक्ति से अद्वैत रूप में रहने के शिव की इस क्रिया के कारण ही काश्मीर शैव दर्शन को ईश्वराद्वयवाद भी कहा जाता है, जिसका परम उद्देश्य मोक्ष या शिव का अनुग्रह या शक्तिपात की प्राप्ति है। जो शिव की अनुग्रह दृष्टि से ही जीव को मिलती है। वास्तव में पुरुष माया के कारण अपूर्ण ज्ञान से स्वयं को अपुर्ण शक्तिसम्पन्न एवं ससीम मान कर स्वयं के शिवरूप होने की विस्मृति कर बैठता है, एवं गुरु-जब उसे ''तत्त्वमसि'', अर्थात् तुम ही शिव हो बताते हैं, तब पुरुष का श्रवण, अध्ययन, मननादि से उत्पन्न बौद्धिक ज्ञान, शिव के अनुग्रह, गुरु की दीक्षा एवं स्वयं की साधना से अपरोक्ष अनुभूति या प्रत्यभिज्ञा या पौरुष ज्ञान में परिणत हो जाता है, तव वह अपने वास्तविक शिव-स्वरूप को, पूर्णाहन्ता के चिदानन्द को, चित्-शक्ति के पूर्ण स्वातन्त्र्य एवं आनन्द को प्राप्त कर लेता है, यही काश्मीर शैवदर्शन में मोक्ष या मुक्ति है,[3] जो शिव की अनुग्रह क्रिया से ही सम्भव हो पाती है क्योंकि अनुग्रह क्रिया के कारण ही पुरुष विषयों के चित्प्रकाश के

---

1. सोमनन्द की पूर्वज परम्परा हेतु द्रष्टव्य-शिवदृष्टि-7.114-120, जो निम्नवत है-संगमादित्य → वर्षादित्य → अरूणादित्य → आनन्द → तव सोमानन्द।
2. द्रष्टव्य-भोजराज-तत्त्वप्रकाशिका-कारिका-07
3. पौरुषं पुनर्ज्ञानमुदितं सत् अन्यनिरपेक्षमेव मोक्षकारणम्। तंत्रालोक 1/24 की वृत्ति

ऐक्य से प्रकाशित हो पाता है[1], तभी वह गुरु शास्त्र या स्वयं द्वारा अनुग्रह करके अपने स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कर शिवस्वरूप में स्थित हो जाता है, यही क्रिया काश्मीर शैव दर्शन में "शक्तिपात" कहलाती है। काश्मीर शैवदर्शन जीवनमुक्ति को भी स्वीकार करता है। सिद्धान्तशिखामणि में वर्णन मिलता है कि पौरुष ज्ञान द्वारा अज्ञान रूपी आजवमल के दूर हो जाने पर सदेह अवस्था में मुक्ति सम्भव है, तदनन्तर जीवनमुक्ति की अवाप्ति होती है। क्योंकि जीवनमुक्ति प्राप्त जीवनमुक्त सब आभासों को शिवरूप ही देखता है। यथा–

अखिलमभेदेनैव स्फुरति।
तस्मादनेकभावाभिः शक्तिभिस्तदभेदतः।
एक एव स्थितः शक्तः शिव एव तथा तथा।।[2]

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचनोपरान्त यह कहा जा सकता है कि आगम परम्परा जहाँ अत्यन्त समृद्ध है, वहीं आगम परम्परा के आधार पर विकसित अनेक सम्प्रदाय, मत या दर्शन अपनी विशिष्ट विशेपताओं के कारण दार्शनिकों के चिन्तन का विषय बने, जिसमें काश्मीर शैव दर्शन का उत्तरभारत में सर्वाधिक प्रचार एवं प्रसार प्राचीन काल एवं मध्यकाल में था, जो आज आधुनिक काल में भारत के अनेक अंचलों में जहाँ अपनी विशिष्टताओं के कारण अनुयायी बनाने में सफल रहा, वहीं विश्व में आज इस दर्शन के असंख्य अध्येता प्राप्त मिलते है, जो अपने विशिष्ट अनुसन्धान से इस दर्शन के प्रचार प्रसार में महनीय भूमिका निभाते देखे जा सकते हैं। काश्मीर शैवदर्शन एक ऐसा दर्शन है, जिसमें वैदिक धर्म को स्वीकार करने के साथ ही आगमिक प्रभाव भी अङ्गीकृत हुआ है। इस दर्शन में शिव की शक्ति के स्त्रीरूप के रूप में 'नाद' को मान्यता दी जाती है, जो सोमानन्द के "सृष्टिविज्ञान" के अध्ययन से परिपुष्ट भी है। साधक गर्भाधान से लेकर विवाह पर्यन्त के समस्त संस्कारों को वैदिक विधि विधान के अनुकूल निभाएं इसकी मान्यता इस दर्शन में है। वेदोक्त वर्ण, आश्रम धर्म, एवं कार्य कलाप सभी मनुष्यों के लिए श्रेयस्कर है, ऐसा इस दर्शन का अभिमत है, लेकिन यह भी सच है कि जब बात मोक्ष की आती है, तो यह दर्शन वैदिक मार्ग को अधिक प्रश्रय न देकर कौल, त्रिक् आदि आगमिक उपायों को अधिक अपनाता दिखता है। जो कुछ भी हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा, कि तंत्र, आगम, निगम, एवं वेद के मध्य सामंजस्य का निरूपण इसी दर्शन की देन है, जिसने अपनी आगम परम्परा से अद्वयवाद, शिवाद्वयवाद या अद्वैतवाद का विकास उसी क्रम में किया है, जिस क्रम में अद्वैत वेदान्त की परम्परा हमारे सम्मुख अवस्थित दिखती है।



1. प्रकाशैक्येन प्रकाशने अनुग्रहीतता-1 प्रत्यभिज्ञासाहृदयम्, पृ.52 से उद्धृत
2. शिवदृष्टि – 4.5

धर्म दर्शन

प्रो० सतीश चन्द्र झा

यहाँ धर्म का दर्शन प्रस्तुत करना अभिप्रेत है। दृश्यते अनेन इस व्युत्पत्ति से दृश् धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर दर्शन शब्द व्याकरण-सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है- नयन, स्वप्न, बुद्धि, धर्म उपलब्धि निध्यान, आलोकन, चाक्षुषज्ञान, ईक्षण, निमालन, तत्त्वज्ञान, इज्या, शास्त्र आदि। दर्शन शब्द के इन पर्यायों से ज्ञात होता है कि दर्शन मूलतः धर्म का दर्पण है। दर्शन मानवीय मूल्यों का व्याख्यान करता है और धर्म उन मानवीय मूल्यों का अधिष्ठाता है। इस विचारणा से स्पष्ट है कि दर्शन हमारा जीवन है, इसके कारण धर्म, अर्थ एवं काम, इस पुरुषार्थत्रयी का सन्तुलन होता है। दर्शन का विस्पष्ट प्रतिपादन है कि–

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः
यो ह्येकसक्तः स नरो जघन्यः।

इस आलेख में यह विचारित करना है कि धर्म का दर्शन क्या है, धर्म का दर्शन अर्थात् तात्पर्य, उसका तात्त्विक ज्ञान; क्योंकि धर्म ही अर्थ का मूल है, अर्थ का वृक्ष धर्म के बीज से ही उत्पन्न होता है और वही काम-फल को निष्पन्न करता है, ये तीनों पुरुषार्थ चतुर्थ पुरुषार्थ-मोक्ष की सिद्धि करने हैं। मोक्ष भी वस्तुतः धर्ममूलक ही है। यह धर्म क्या है, क्या यह किसी साम्प्रदायिक धर्म का पर्याय है, या यह कर्म-कर्तव्य का ही दूसरा नाम है? शब्दकोषों के चिन्तन से स्पष्ट होता है कि धर्म के अर्थ हैं, पुण्य, श्रेय, सुकृत, स्वभाव, आचार, अहिंसा, उपनिषत्, यम, सत्सङ्ग और कर्मसामान्य इत्यादि। 'ध्रियते लोकः अनेन' अथवा 'धरति लोकम्' इति धर्मः'। 'धृ धारणें-धातु से मन्-प्रत्यय करके व्याकरण-व्युत्पन्न यह धर्म शब्द नैतिक शुभ कर्म से नियन्त्रित जीवन का संकेतक है। दर्शन या तत्त्वज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि किसी वस्तु की विधायिका आन्तरवृत्ति ही उसका धर्म है– उसका स्वभाव है – उसकी अवश्यकर्तव्यता है। प्रत्येक पदार्थ का व्यक्तित्व या उसकी सत्ता जिस वृत्ति का आश्रयण कर विद्यमान है, वही उसका धर्म है। धर्म के विषय में विश्व के सर्वप्राचीन अभिलेख ऋग्वेद में बहुशः चर्चाएँ मिलती हैं। ऋग्वेद में यह धर्मशब्द कहीं पुंलिङ्ग में व्यवहृत है तो कहीं नपुंसक लिङ्ग में। पाणिनि के 'अर्धर्चाः पुंसि' इस सूत्र से इसका दोनों लिङ्गों में प्रयोग व्याकरण-सिद्ध है। ऋग्वेद में यह शब्द 'अग्निहोत्र'-अर्थ में या 'कर्म'- अर्थ में प्रयुक्त है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में एक मन्त्र है–

त्रीणि पदा विचक्रमिरे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्॥[1]

आचार्य सायण यहाँ धर्म को अग्निहोत्र कापर्याय मानते हैं। ऋग्वेद में एक और स्थल पर धर्म 'अनुष्ठान'–अर्थ का बोधक है–

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥[2]

यहाँ सायण धर्माणि की व्याख्या करते हैं–'तत्साधनानि अनुष्ठानानि'। इसी तरह एक और मन्त्र में ऋग्वेद 'धर्म' को अग्निसाधन कर्म मानता है–

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'[3] सायण-व्याख्यान-धर्माणि- 'अग्निसाधनानि कर्माणि'। यहाँ प्रथमानि का अर्थ सायण करते हैं- फलप्रसव-समर्थानि कर्माणि-फल को उत्पन्न करने में समर्थ कर्म। इसी तरह- 'समिध्यमान प्रथमानु धर्मा समक्तुममिरज्यते विश्ववारः' - यहाँ सायण व्याख्यान करते हैं धारणाद्धर्मः, यज्ञनिर्वाहकतया तद्द्वारकत्वात् धर्माग्निः।

इसी प्रकार- 'इमानि तुभ्यं स्वसराणि येमिरे व्रता देवानां मनुषश्च धर्मभिः'- यहाँ सायण कहते हैं- धर्मभिः कर्मभिः। इसी तरह- 'समिधानः सहस्रजिदग्ने धर्माणि पुष्यसि', इस मन्त्र में धर्माणि का अर्थ सायण 'कर्माणि' करते हैं।

ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल में–

धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता
व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।[4]

इस मन्त्र में 'धर्मणा' का सायण-विचारित अर्थ है–'जगद्द्वारकेण वृष्ट्यादिलक्षणेन कर्मणा'।

अथर्ववेद में 'धर्म'[5] का अर्थ क्रिया या संस्कारजन्य अर्जित गुण है। ऐतरेय ब्राह्मण में यह शब्द समग्र धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ में है।[6] छान्दोग्योपनिषद् में यह शब्द यज्ञाध्ययनदान, तपस्या, तापसधर्म, ब्रह्मचारी के रूप में सम्पूर्ण जीवन आचार्य के गृह में ही निवास-इन अर्थों

---

1. ऋग्वेद, 1.22.18
2. ऋग्वेद, 1.22.18
3. वही, 10.3.17
4. ऋग्वेद, 5.63.7
5. ऋतुं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च। भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले। अथर्ववेद, 9.9.17
6. ऐतरेय ब्राह्मण, 1.7.17

में व्यवहृत है।[1]

वाल्मीकिरामायण में धर्म का प्रयोग परम्परागत आचार, वेद-निर्दिष्ट कर्तव्यों के निर्वहण-अर्थ में तथा नैतिक गुण आदि अर्थ में होता है। देवल स्मृति के अनुसार अपनी आत्मा के अनुरूप आचरण करना ही धर्मलक्षण है-

'आत्मनः अनुकूलाचरणं धर्मः'। वैशेषिकदर्शन में धर्म की इस प्रकार मीमांसा की गई है-'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' तात्पर्य यह है कि जिससे सर्वविध अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि हो, वही धर्म है।

महाभारत में धर्म के स्वरूप का विशेषतः चिन्तन किया गया है। भगवान् वेदव्यास की दृष्टि में जो मनुष्य को अपेक्षित स्थान में स्थापित करता है और उसे अधःपतन से निवारित करता है, वही धर्म है। कर्णपर्व में प्रतिपादित है कि धर्म ही समाज का धारण करता है या जो धारण करने में समर्थ है, वही धर्म है-

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चयः।[2]

शान्तिपर्व में भी यही तथ्य विचारित है।[3] यक्ष और युधिष्ठिर के प्रख्यात प्रश्नोत्तर प्रसंग में धर्म के स्वरूप का विशिष्ट रूप में विश्लेषण किया गया है। यक्ष युधिष्ठिर से पूछता है- सबसे श्रेष्ठ धर्म कौन है, कौन धर्म नित्य फल देने वाला है-

कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्मः सदाफलः। युधिष्ठिर उत्तर देते हैं कि नृशंसता से रहित रहना सर्वोत्कृष्ट धर्म है और यही सदा फलप्रदाता है-

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयी धर्मः सदाफलः।

पाणिनि समयाचार के अर्थ में धर्म का प्रयोग मानते हैं।[4] पतञ्जलि शास्त्रोपदेश, ऋषिसम्प्रदायनिर्दिष्ट आचार-अर्थ में धर्म पद के व्यवहार को मान्यता देते हैं।[5] पद्मोत्तरखण्ड में कहा गया है कि-

---

1. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति, प्रथमस्तप एवेति द्वितीयो ब्रह्मचर्यायाचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्वम् एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति। छान्दोग्योपनिषद्, 2.23
2. महाभारत, कर्णपर्व, अध्याय, 69, श्लोक, 58
3. वही, शान्तिपर्व, अध्याय, 109, श्लोक, 21
4. आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्जनः। मनुस्मृति,1.108
5. आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च। वहीं, 2.6

पात्रे दानं मतिः कृष्णे मातापित्रोश्च पुजनं।
श्रद्धाबलिर्गवां ग्रासः षड्विधं धर्मलक्षणम्॥

वामनपुराण में स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, दान, यज्ञ, कृपणता-राहित्य, अनायास दया-अहिंसा-क्षमा का पालन, जितेन्द्रियत्व, सर्वथा पवित्रता, भक्ति आदि को धर्म कहा गया है। मत्स्यपुराण का भी एतद्विषयक यही मूलस्वर है–

अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदयादयः।
ब्रह्मचर्यं ततः सत्यमनुक्रोशः क्षमा धृतिः॥

सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद् दुरासदम्।

स्मृतियों की दृष्टि में कर्मों की विवेचना के लिए देवताओं ने धर्म और अधर्म को पृथक्-पृथक् बतलाया है। मनुस्मृति के मत में आचार ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, जो वेद-स्मृति-विचारित है, आत्महिताभिलाषी को सदैव इसके लिए प्रयत्नवान् होना चाहिए। विशिष्ट जनों का आचरण ही धर्म का मूल है। मनु की दृष्टि में वेद, स्मृति, आचार और मन की प्रसन्नता, ये चार, धर्म के साक्षात् लक्षण हैं–

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥[1]

इन सब तथ्यों से धर्म का कर्म अर्थ ही स्पष्ट होता है। मनु कहते हैं- सत्य बोलना चाहिए किन्तु वह अप्रिय न हो, प्रिय हो किन्तु असत्य हो, यह भी नहीं कहना चाहिए, यही सनातन धर्म है। एक स्थल पर उनकी स्पष्ट मान्यता है कि असत्य भाषण अधर्म का उपपादक है; अतः उसका कभी अवलम्बन नहीं करना चाहिए।[2] इस संसार में एक धर्म ही मित्र है, जो मरने पर भी साथ जाता है और सब तो शरीर के नष्ट होते ही नष्ट हो जाते हैं।[3] महर्षि याज्ञवल्क्य भी धर्म को कर्म का अपर पर्याय मानते हैं–

---

1. वही, 2.12
2. यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
   हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥
   धर्म एवं हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
   तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्म हतोऽवधीत्॥ मनुस्मृति, 8. 14-15
3. एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
   शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति॥
   वही, 8.17

इज्याचारदमाहिंसा दानं स्वाध्यायकर्म च।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।।[1]

यहाँ उन्होंने आत्मदर्शन रूप कर्म को भी धर्म ज्ञापित किया है, वस्तुतः यह महाभारत के स्वर में ही उन्होंने अपना स्वर मिलाया है। महाभारत के अनुसार-'आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप।'

समस्त स्मृतियाँ इस तथ्य का स्पष्ट निर्देश करती हैं कि परम्परा-प्राप्त ज्ञान, शिष्टजनों का आचार-व्यवहार, जो अपने को अच्छा लगे तथा उचित संकल्प से उत्पन्न इच्छा, ये ही विशिष्ट तत्त्व धर्म के उपादान हैं। स्मृतियों में इस सम्बन्ध में सर्वथा एकवाक्यता है कि वही करना चाहिए जो अन्तरात्मा को शान्ति दे। माता-पिता, पत्नी-पुत्र-पुत्री प्रभृति सन्तति, इनमें कोई भी परलोक में साथ नहीं देता, वहाँ केवल सदाचार ही साथ देता है। यह आचार-आचरणरूप धर्म निश्चयेन कर्म का ही दूसरा अभिधान है।

आज अपने देश में धर्म का अर्थ संप्रदायगत संकीर्णता का वोधक हो गया है, जिसके कारण सर्वत्र दुरवस्था है। प्राचीन काल से ही धर्म को कर्म ही माना गया है। गीता में धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे--' में धर्मक्षेत्र का अर्थ कर्मक्षेत्र ही है। सम्पूर्ण गीता कर्मोपदेश को ही धर्मोपदेश मानती है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्रपस्यसिक कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

भगवान् श्रीकृष्ण 'अकर्मण्यता' का विरोध करते हैं और वे निर्देश देते हैं कि तुमको जो कार्य मिला है, वही तुम्हारा धर्म है, उसी के पालन में तुम्हारा निधन भी हो जाय तो श्रेयस्कर है- 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'।



---

1. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.8

वेद और उपनिषद के विचार उसके मूल्य एक समीक्षा

डॉ॰ आर. आर. घोष

भारतीय दर्शन में वेद का मुख्य लक्ष्य यह स्पष्ट करना है -- एक सत् विप्राबहुधा वदन्ति एक में सबकुछ समाया हुआ है। एक से ही सर्व का विकास हुआ है और जब सृष्टि का संकोचकाल आता है तो सब कुछ एक ही में लीन हो जाता है। दर्शन कहता है :-

य एकं जानातिस सर्व जानाति।
यः सर्व जानाति स एकं जानाति।''

इस बात का रहस्य मात्र भारतीय भाषाविद् समझ सकता है। वह जानता है जो एक को जान लेता वो जान सबको लेता है, जो सबको जान लेता वही एक को अद्वैत तत्व को जान सकता है।

वैदिक भाषा में इस एक वर्ण का अकार है। आकार ही समंग्र वाणी है। **''अकारो वै सर्क वाक् ''ऐसा श्रुति''** कहती है। माण्डूक्य का ऋपि कहता है कि जो इस आकार को सर्वात्मना जान लेता है, वह समस्त कामनाओं को पूर्ण करता है। उसका अग्रणी हो जाता है।

उद्‌भट मर्मज्ञ महावैच्याकरण पंतजालि ने वर्णो की सार्थक्ता आंकी है। वैदिक भाषा का एक-एक वर्ण अर्थवान है। समस्त वर्ण अर्थवान है। धातु प्रातिपादिक प्रत्यम और निपात एक-एक वर्ण के होते हैं। उनका अर्थ देखा गया है।

एक वर्ण की धातुएं अर्थकाली हैं– पा दा मा आदि।

प्रातिपादिक भी एक वर्ण में होते हैं और उनका भी अर्थ देखा गया है -- जैसा के एक प्रतिपादक है उसका अर्थ है जल है। निपात भी एक वर्ण होता है जैसे नु ह वै च न हि आदि। इनका भी अर्थ होता है। सु औ टा हि एक वर्णीय प्रत्यय में अर्थ वाले हैं।

पतंजलि ने तो एक वर्ण की सार्थकता और महत्व का प्रतिवादन बहुत बाद में किया। इससे बहुत पहले ऋग्वेद अक्षरों की सार्थकता को कह चुका है।

वेद का कहना है कि ऋचाएं अक्षर में ही निवास करती हैं। देवता अक्षर में ही रहते हैं। जो अक्षर में नहीं जानता उसके लिए ऋचा की भला क्या उपयोगिता। ऋचा के मर्म को समझना है तो अक्षर के मर्म को समझना पड़ेगा।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
य स्तन्न वेद किमृचा करिष्यति
य इतद्विदुस्त इमें समासते॥ ऋग्वेद 1/164/39

इस बात को पतंजलि कह रहे हैं।

वर्णों का ज्ञान वाणी का विषय है जहां ब्रह्म अर्थात् वेद विद्यमान है। उसी वर्ण ज्ञान के लिए, इष्ट बुद्धि के लिए तथा संक्षिप्त अर्थ के लिए व्याकरणशास्त्र का उपदेश दिया जाता है। अक्षर का अर्थ जाने बिना वेद का ज्ञान नहीं हो सकता 'क' का अर्थ है **कमनीय सुख और क्रमणीय परमात्मा** का नाम भी **क** है। इसलिये 'कः' कमनीयों भवति सुखी।

भवति क्रमणीय वा। तद्यथा कः कमनो वा क्रमणों वा सुखों वा इति। कं ब्रक्ष खं ब्रह्म'' ऐसे उपनिषद के वचन प्राप्त होते हैं।

शब्द अर्थ और प्रत्ययों में इतरे तराध्यास के कारण संकर हो जाया करता है। संयम किया जाय जो पृथक पृथक भोगियों को प्रत्येक प्राणी के भाषा के शब्दों का ज्ञान हो सकता है।

जिसको धातु और प्रत्यय का ज्ञान है वह प्रत्येक अक्षर का अर्थ जान सकता है।

इसी विधि से ऋषि वैदिक मंत्रों का रहस्य जान सकते हैं। ऐसे विद्वज्जन विप्र कहलाते हैं। विप्र शब्द का अर्थ वही जान सकता है जिसे अक्षरों का अर्थ ज्ञात हो विप्र शब्द वि॰ और प्र इन दो उपसर्गों से मिलाकर बनता है। वि का अर्थ विषिष्ट और प्र का और प्रकृष्ट।

मनुष्यों में जो विशिष्ट और प्रकृष्ट ज्ञान वाला हो वही तो विप्र कहलता है। अक्षर विधान को प्राप्त किये बिना भाषा के रहस्य को नहीं समझा जा सकता है। भाषा दर्शन का ज्ञान अक्षर विज्ञान के बिना अपूर्ण है।

पुरुष एवेंद सर्व यद् भूतं यच्च भाव्यम्
उतामृत त्वस्मेशानो यदन्नेना तिरोहति। ऋग्वेद 10/90/2

उक्त मंत्र में भूत एवं भाष्य शब्दों से काल की सत्ता को स्वीकार कर उसे परब्रह्म रूप पुरुष कहा गया है जो अमृत्व का अधिपति है।

1. संम तु तत्र दर्शनम्- 1/1-12

जैमिनी कहते हैं कि पूर्वपक्षी का यह जो हेतु है कि उच्चारण करने प्रयत्न के उत्तरकाल में उपलब्ध होने शब्द अनित्य है तो यह हेतु तो शब्द के अभिव्यक्तिवाद पक्ष में भी समान है। नित्य की अभिव्यक्ति होती है उत्पति नहीं।,

2. सतः परमदर्शन विषयानागमत् 1/1/13

उत्तर यह है कि शब्द का संयोग श्रोत से नहीं होता, इसलिए उसकी उपलब्धि नहीं होती

है। अर्थात् उच्चारण के अन्त में शब्द इसलिए उपलब्ध नहीं होता कि वह नष्ट हो गया अपितु इसलिए उपलब्ध नहीं होता है क्योंकि श्रोत से संयोग नहीं हो रहा है। शब्द की अभिव्यक्ति दो वस्तुओं के संयोग से होती है। जैसे दोनों हथेलियों के संयोग से होता है या दो विभाग वस्तुओं विभाग से भी शब्द होता है, जैसे बाँस को काटने पर चट-चट की आवाज होती है। संयोग विभाग के उपरान्त हो जाने से शब्द उपस्थित होते हुए भी अभिव्यक्त नहीं होता। अभिव्यक न होने पर वेद उपलब्ध भी नहीं होता है।

यदि कहूं श्रोत्र आकाश है और आकाश एक है। एक होने से श्त्रुध्न देश में अभिव्यक्त हुए शब्द की उपलब्धि पाटलिपुत्र में भी नहीं होनी चाहिए। शब्द जहां उत्पन्न होता है उसी स्थान पर उपलब्ध होता है?

इसका प्रतिउत्तर है कि संयोग और विभाग शब्द को अतिव्यक्त करते हैं। यह श्रोत्र की सुनने की शक्ति पर निर्भर करता है कि वह कितनी दूर से शब्द सुन सकता है- यदि श्रोत और आकाश के संबंध मं संयम किया जाये तो श्रोत दिव्य हो जाता है। सर्वत्र स्थित शब्द को सुन सकता है। अतः शब्द नित्य ही है।

3. प्रयोगस्य परम् 7/7/14

''शब्दं–कुरू'' – इस प्रकार शब्द के विषय में कृ धातु का प्रयोग किया गया अतः शब्द अनित्य, तो चढ़ हेतु ठीक नहीं है। कृ धातु का प्रयोग उच्चारण विषयक है।

''शब्दं कुरू'' का अर्थ शब्द का उच्चारण करो। शब्द को उत्पन्न करो, अतः यह दोष ठीक नहीं।

4. आदित्यवद–यौगपद्यम्– 1/1/15

एक नित्य शब्द के अनेक स्थानों पर युगपत् उपलब्धि नहीं होती है परन्तु यह हेतु उचित नहीं। सूर्य अनेक नहीं। सूर्य एक है। प्रत्येक व्यक्ति यही समझता है कि सूर्य मेरे ही सम्मुख है। सूर्य को अनेक मानना व्यामोह है शब्द भी अवयवरहित है और एक है उसको अनेक मानना–व्यामोह मूलक है।

5. वर्णान्तमविचार :- 1/1/17

'दध्यत्र' में य को इ का विकार कहा गया है यह भी ठीक नहीं। य इ कार का विकार नहीं है। य पृथक वर्ण है। इ के स्थान य का आदेश हुआ है। इ को हटाकर य बैठ गया है। शब्द में विकृति नहीं आती वह अविकार है।

6. नादवृद्धिः परा :- 1/1/17

यह कहा गया है कि शब्द में वृद्धि होती अतः यह अनित्य है। आक्षेप भ्रममूलक है। वृद्धि शब्द की नहीं होती अपितु नाद भी वृद्धि होती है। निरन्तरता से किए जाने वाले संयोग और विभाग

शब्द का अभिव्यक्त करते हुए नाद कहलाते हैं। एक व्यक्ति के उच्चारण से शब्द मृदु होता है। बहुतों के उच्चारण होने से वही अक्षर कर्णशष्कुलि की नेमि को व्याप्त करते हुए संयोग विभागों से और निरन्तरता से अनेक व्यक्तियों से गृहीत होने के कारण महान के समान तथा सावयव के समान उपलब्ध होते हैं। अतः वृद्धि नाद की होती है। शब्द की नहीं।

अनित्यवादियों को आक्षेपों उत्तर देने के पश्चात् जैमिनी ने शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिए अन्य हेतु किये हैं।

1. **नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य पयार्यत्वात् – 1/1/18 :-**

शब्द नित्य है, उसका उच्चारण दूसरे के लिए होता है।

2. **सर्वग यौगपद्यात् – 1/1/19 :-**

जब कोई गो का उच्चारण करता है तो समस्त गायों की आकृति के साथ उसका संबंध हो जाता अतः सन गायों का ज्ञान एक समान हो जाता है। आकृति के साथ अनित्य का संबंध नहीं हो सकता। शब्दः नित्य है।

3. **संख्याभावात् 1/1/20 :-**

शब्द में संरचना की प्राप्ति नहीं होती परन्तु उच्चारणों में संख्या होती है। आठ बार गौ का उच्चारण हुआ है सेसा लोक में व्यवहार किया जाता है।

4. **अनपेक्ष त्वात् – 1/1/21 :-**

जिन द्रष्यों का कारण कहीं जाना जाता है वह केवल सत्ता मात्र ज्ञात होती, किंतु शब्द की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं जाना जाता जिसके नष्ट होने पर शब्द नष्ट हो जायेगा।

अतः शब्द नित्य सिद्ध होता है।

5. **प्रख्याभावाच्च योस्य – 1/1/22 :-**

शब्द की उत्पत्ति का कारण 'वायु' है। यह कहना उचित नहीं शब्द की उत्पत्ति का कारण ज्ञात नहीं है? यदि वायु का समूह विशेष होता तो इसका ज्ञान स्पर्श से हम उपलब्ध कर लेते, किन्तु स्पर्श से शब्द ज्ञान नहीं होता।

महर्षि जैमिनि ने उक्त हेतु से सिद्ध किया कि शब्द नित्य है। वाचा विरूप नित्यता–ऋग्वेद के इस वाक्य शब्द की नित्यता सिद्ध होती है।

शब्द ही ब्रह्म है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है। 'वाग्' वै ब्रह्म' (6–3) शब्द की ब्रह्म है।

ब्रह्म के उत्पत्ति – विनाश की कल्पना नहीं की जा सकती।



प्रामाण्यवाद की समस्या

डॉ॰ शङ्कर दयाल द्विवेदी

ज्ञानमीमांसा पर विमर्श करने वाले भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय प्रमाण-विषयक अवधारणा के साथ उसके प्रामाण्य के स्वतस्त्व अथवा परतस्त्व पर अवश्य विचार करते हैं। उपयुक्त कारणसामग्रीसन्निधान होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार का होता है। प्रकृष्टज्ञान ही प्रमा है और उसकी कारण सामग्री प्रमाण कही जाती है। प्रमाप्रमात्मक इस ज्ञान की ज्ञानरूपता के अतिरिक्त इसका एक अन्य विशिष्ट असाधारण धर्म होता है। यही धर्म प्रामाण्य या अप्रामाण्य होता है। जिस शीर्षक के अन्तर्गत प्रामाण्य या अप्रामाण्य के स्वरूप, इसकी ग्राहकसामग्री तथा ज्ञानग्राहकसामग्री के सापेक्ष इसका स्वतस्त्व या परतस्त्व पर विचार किया गया है, उसे प्रामाण्यवाद कहा जाता है।

प्रामाण्य का स्वरूप क्या है?

प्रमा और प्रामाण्य से सम्बद्ध प्रामाण्य तथा अप्रमा और अप्रामाण्य से सम्बद्ध अप्रामाण्य का स्वरूप क्या है? घट का चक्षुरिन्द्रियसन्निकर्ष होने पर हमें ज्ञान होता है–'यह घट है।' हमारा यह घटज्ञान प्रमा भी हो सकता है, और अप्रमा भी। ज्ञाता को ऐसी स्थिति में यह इच्छा होना स्वाभाविक है कि वह अपने ज्ञान के सम्बन्ध में यह जानकारी प्राप्त करे कि उसका घटज्ञान प्रमा है या नहीं। दूसरे शब्दों में प्रमा के याथार्थ्य और प्रमाण के सत्यत्व का परिनिश्चय करने की इच्छा होती है। ज्ञान का यही याथार्थ्य और तद्द्वारा प्रामाण्य का सत्यत्वनिश्चय ही प्रामाण्य है। याथार्थ्य का विरोधीपक्ष अप्रामाण्य का होता है। यदि ज्ञान यथार्थ नहीं है, तब वह अप्रमा होगा तथा उसका करण अप्रमाण कहा जायेगा। इस अप्रमा के अप्रमात्व तथा अप्रमाण के असत्यत्व अप्रामाण्य कहा जाता है। सामने किसी विषय को देखकर जलाशय ज्ञान होने पर यह जलाशय ज्ञान वस्तुतः सरोवर विषयक है या नहीं–यही निश्चय किया जाना प्रामाण्य कहा जाता है। प्रमा या प्रमाण की यथार्थता (प्रमात्व या प्रमाणत्व) का ज्ञान प्रामाण्य प्रक्रिया द्वारा किया जाता है।

प्रामाण्य का अर्थ

प्र उपसर्गसहित मा धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर प्रमाण शब्द बनता है। सामान्यतः प्रमाण के सन्दर्भ में ल्युट् प्रत्ययकरण अर्थ में स्वीकार किया जाता है। ऐसी स्थिति में

'प्रमीयते अनेन' व्युत्पत्ति द्वारा प्रमाण शब्द का तात्पर्य होता है–'प्रमा का सातिशय कारण।' भिन्न-भिन्न दर्शनों को अभिमत प्रमाण के स्वरूप के विषय में एकरूपता नहीं मिलती, फिर भी प्रमा के सहकारी कारण को प्रमाण कहते हैं–इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। प्रमा के साधनपरक अर्थ के अतिरिक्त प्रमाण का एक अर्थ और सम्भव है जिसका प्रयोग दर्शनग्रन्थों में बहुतायत से देखने को नहीं मिलता। ल्युट् प्रत्यय को यदि भाव अर्थ स्वीकार किया जाय[1] तो 'प्रमीयते इति प्रमाणम्' व्युत्पत्ति द्वारा प्रमाण शब्द का अर्थ प्रकृष्टज्ञान या यथार्थ ज्ञान होता है। ऐसी स्थिति में प्रमाण शब्द इस प्रसंग में बहुप्रचलित प्रमा शब्द का समानार्थक है। प्रमाण शब्द से ष्यञ् प्रत्यय लगकर प्रामाण्य शब्द की निष्पत्ति होती है। ष्यञ् प्रत्यय भी भाव तथा कर्म दो अर्थों में होता है।[2] अतः भाव अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न होने वाले प्रामाण्य शब्द का अर्थ होगा–'प्रमाण होना।' जैसे 'अनुमान का प्रामाण्य' जिसका तात्पर्य होगा–'अनुमान का प्रमाण होना।' इसके अन्तर्गत हम यह विवेचना करते हैं कि अनुमान भी प्रमाण होता है या नहीं या दूसरे शब्दों में अनुमान भी प्रमा उत्पन्न कर सकता है या नहीं। परन्तु प्रमाण शब्द से जब यह ष्यञ् प्रत्यय कर्म अर्थ लगता है, जब इससे निष्पन्न होने वाले प्रामाण्य शब्द का अर्थ होता है–'प्रामाणिकता' या 'यथार्थता'। प्रमा या प्रमाण का याथार्थ्य ही प्रामाण्य है। अभी हम देख चुके हैं प्रमाण शब्द के 'प्रकृष्ट ज्ञान' तथा 'प्रकृष्टज्ञान का साधन' दोनों ही अर्थ होते हैं अतः प्रामाण्य में प्रमा और प्रमाण दोनों ही के याथार्थ्य का ग्रहण हो जाता है। प्रमा की ही तरह प्रामाण्य भी ज्ञानरूप ही है। प्रमा के विषय की तरह प्रामाण्यज्ञान का भी विषय होता है। पूर्ववर्ती प्रमा इस प्रामाण्यज्ञान का विषय होती है।

प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमा से है या प्रमाण से

न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसाग्रन्थों में, जहां पर प्रामाण्यवाद पर विस्तार से विचार हुआ है, वहां पर स्पष्टतः प्रामाण्य शब्द को प्रमा तथा प्रमाण दोनों ही से सम्बद्ध स्वीकार किया गया है।

न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट[3], तर्कभाषाकार केशवमिश्र[4], कारिकावली तथा मुक्तावली

1. ल्युट् च। अष्टा. 3।3।115, करणाधिकरणयोश्च – वही 3।3।117 करणे अधिकरणे भावे च ल्युट् विहितः इति बालमनोरमा।
2. गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च। अष्टा. 5।1।124
अपि च – गुणोपसर्जनद्रव्यवाचिभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यो भावे कर्मणि च अर्थे ष्यञित्यर्थः। बालमनोरमा।
3. किं विज्ञानानां प्रामाण्यमप्रामाण्यं चेति द्वयमपि स्वतः उतपरतः। – न्या. म. भाग 1, पृ. 146
अपि च – यदि हि प्रामाण्यमितरद्वा स्वतः एव ज्ञानस्य गम्यते तर्हि शुक्तौ रजतज्ञानं प्रमाणतया वा प्रतिपन्नमन्यथा वा। – वही, पृ. 147
4. जलादिज्ञाने जाते तस्य प्रामाण्यमवधार्य कश्चिज्जलादौ प्रवर्तते। – तर्कभाषा, पृ. 53

के लेखक विश्वनाथ[1] तथा शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र[2] ने प्रामाण्य को स्पष्टतः प्रमा से सम्बद्ध स्वीकार किया है। दूसरी ओर 'न्यायमञ्जरी' में ही प्रामाण्य को प्रमाण से सम्बद्ध स्वीकार किया गया है।[3] वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थ न्यायकन्दली में प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमाण से स्थापित किया गया है।[4] अतः यह संशय होना स्वारसिक है कि प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमा से होगा या प्रमाण से या दोनों से? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वस्तुतः प्रामाण्य प्रमा तथा प्रामाण्य दोनों ही से सम्बद्ध होता है। जहां पर प्रमा की यथार्थता जाननी अभीष्ट होती है, वहां प्रमा ही प्रामाण्य का विषय होती है और तब प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमा से होता है। यहां पर प्रामाण्य की सिद्धि करने वाले प्रमाण शब्द का अर्थ प्रमा होगा। दूसरी ओर जब प्रामाण्य द्वारा प्रमाण की प्रामाणिकता का ज्ञान किया जाता है तो प्रामाण्य का सम्बन्ध प्रमाण से होता है क्योंकि तब प्रामाण्य की सिद्धि करने वाले प्रमाण शब्द का अर्थ प्रमा का साधन होगा और इस प्रामाण्यभूत ज्ञान का विषय भी प्रमाण ही होता है।

न्याय वैशेषिक के पुराने आचार्य प्रमा और प्रमाण की यथार्थता के लिये प्रामाण्य शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु नव्य-नैयायिक प्रामाण्य के स्थान पर प्रमात्व शब्द का प्रयोग करते हैं।[5] कुमारिल और उनके टीकाकार इसके लिये प्रामाण्य शब्द का ही प्रयोग करते हैं। प्रमा की यथार्थता के अर्थ में कहीं-कहीं इसके लिए प्रयाणत्व शब्द का भी प्रयोग हुआ है। प्रमा की योजना में सन्देह व्यक्त किया जा प्रमात्व शब्द की योजना तो ठीक है, प्रामाण्य शब्द की योजना में सन्देह व्यक्त किया जा

---

1. प्रमात्वं न स्वतोग्राह्यं संशयानुपपत्तितः। कारिकावली - 136
अपि च - यदि ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यम् - इत्यादि। - न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 485
2. तदर्थमिदं सर्वज्ञानान्यधिकृत्य चिन्त्यते। शास्त्रदीपिका, पृ. 20
अपि च - चोदनाप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमेव सर्वविज्ञानप्रामाण्यचिन्ता। - युक्तिस्नेहप्रपूरणीसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ. 20
3. (क) शब्दव्यापारचिन्तावसरे सकलप्रमाण प्रामाण्यविचारस्य कः प्रसङ्गः? - न्यायमञ्जरी, भाग 1, पृ. 146
(ख) तदेवं सर्वप्रमाणानां स्वतः प्रामाण्येसिद्धे शब्दस्यापि तथैव प्रामाण्यं भवति। - वही, पृ. 154
(ग) किं स्वतः एव प्रमाणस्यप्रामाण्यं भवति, उत स्वयमेव तत्प्रमाणमात्मनः गृह्णाति। - वही, पृ. 155
(घ) प्रत्यक्षादिक्षु दृष्टार्थेपुप्रमाणेपु प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेणैव व्यवहारसिद्धेः, तत्र किं स्वतः प्रामाण्ययुत परत इति विचारेण न नः प्रयोजनम् इत्यादि। - वही, पृ. 155
4. दृष्टं च लोके वचसः प्रामाण्यं वक्तृगुणावगतिपूर्वकम्,
तेन वेदेऽपि तथैव प्रामाण्यान्निर्विचिकित्समनुष्ठानं स्यात्। - न्यायकन्दली, पृ. 523
5. In the Nayaya system valid knowledge is called prama and validity is called pramatva. Later Mimansa writers adopt these terms. But Kumaril and his commentrators are not known to have used them. They have used the terms pramana and pramanya, x x x x x x the term pramana sometimes stands for a means of right knowledge whose result is termed pramiti or miti and pramanya then means the capacity of a means to generate a correct knowledge.
--Epistemology of Kumaril School of Purva-Mimamsa, Page 73.

सकता है। प्रमाण शब्द से सम्बन्ध रखने वाला प्रामाण्य शब्द क्या प्रमा के याथार्थ्य से सम्बद्ध हो सकता है? अवश्य, क्योंकि प्रमाण शब्द का अर्थ प्रमा और तत्साधन दोनों होता है। प्र पूर्वक मा धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर प्रमाण शब्द का अर्थ यथार्थज्ञान या प्रमा होगा। इस प्रमा अर्थ वाले प्रमाण शब्द से निष्पन्न प्रामाण्य का अर्थ होगा 'प्रमा का याथार्थ्य' तथा जब यह प्रमा के साधनभूत प्रमाण से निष्पन्न होता है, तब इसका अर्थ होता है - प्रमा के साधन की योग्यता - जिसके द्वारा वह प्रमा को उत्पन्न करने में सक्षम होता है।

प्रामाण्य की आवश्यकता क्या है?

प्रामाण्यवाद ज्ञानमीमांसा का एक आवश्यक उपसिद्धान्त है। ज्ञान की सत्यता और उसकी निश्चेयता को प्रामाण्य कहा जाता है। प्रमाण और प्रमा के सत्यत्व का मूल्याङ्कन प्रामाण्य द्वारा होता है। किसी ज्ञान से संशय, विपर्यय जैसी अनिश्चयात्मक शंकाओं का निरास प्रामाण्य द्वारा होता है। ज्ञान के प्रामाण्या-प्रामाण्य के निर्धारण के अभाव में ज्ञान में निश्चेयता नहीं होगी और अनिश्चित ज्ञान सम्पूर्ण मानवीय व्यवहार को असम्भव बना देगा। अतः विशेषतः प्रमाणों का अध्ययन करने वाले न्याय-वैशेषिक शास्त्र और ज्ञानमीमांसा पर विचार करने वाले सांख्य, बौद्ध और मीमांसा शास्त्रों के लिये प्रामाण्यवाद एक अहं प्रश्न है।

प्रामाण्यवाद की अवधारणा का विकास वेदों के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिये हुआ है।[1] प्रत्यक्षादि प्रमाण दृष्टफलक है, अतः प्रामाण्य के अभाव में भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से व्यवहार की सिद्धि हो सकती है। परन्तु वेद अदृष्टार्थक है। जिस वेदप्रमाण का अर्थ अदृष्ट होता है, उस पर प्रेक्षावान् का विश्वास प्रामाण्य निर्धारण के बिना कैसे होगा? अतएव वेदविहित विधानों (विधिवाक्यों) में प्रवृत्ति के लिये वेदप्रमाण (आगम या शब्द प्रमाण) का प्रामाण्य निर्धारण आवश्यक है।[2] वेदसंरक्षण के लिए प्रवृत्त न्यायादि शास्त्रों में प्रामाण्य पर स्वतंत्र चिन्तन इसीलिये आवश्यक हो जाता है।[3]

प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति

हम यह जानते हैं कि प्रामाण्य भी एक कार्य है, अतः इसकी किसी साधनविशेष से उत्पत्ति होती है और ज्ञान विषयत्व के कारण इसका ग्रहण भी होता है। प्रामाण्य चूंकि ज्ञान

1. तदर्थमिदं सर्वज्ञानान्यधिकृत्य चिन्त्यते। शास्त्रदीपिका, पृ. 20
2. अदृष्टे तु विषये वैदिकेष्वगणितद्रविणवितरणादिक्लेशसाध्येषु कर्मसु तत्प्रामाण्यावधारणमन्तरेण प्रेक्षावतां प्रवर्तनमनुचितमिति तस्यप्रामाण्यनिश्चयोऽवश्यकर्तव्यः। - न्यायमञ्जरी, भाग 1, पृ. 152
3. तस्मादशेषदुष्टतार्किकोपर्दद्वारकदृढतरवेदप्रामाण्यप्रत्ययाधायिन्यायोपदेशक्षममक्षपादोपदिष्टमिदं न्यायविस्तराख्यं शास्त्रं प्रतिष्ठाननिबन्धनमिति परंविद्यास्थानम्। - वही, पृ. 3

या प्रमाण-विषयक होता है, अतः जिस कारण सामग्री से ज्ञान उत्पन्न हुआ, उसी कारण सामग्री से अथवा उससे भिन्न कारण सामग्री से प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है। ज्ञान की ग्राहक सामग्री ज्ञानोत्पादक सामग्री से भिन्न होती है। यह प्रामाण्य ज्ञानग्राहक सामग्री द्वारा या ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री द्वारा गृहीत होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान के उत्पत्ति और ग्रहण की तरह प्रामाण्य की भी उत्पत्ति और ग्रहण होता है।

प्रामाण्य के प्रकार में वैचारिक भिन्नता

ज्ञप्ति और उत्पत्ति दोनों स्थितियों में प्रामाण्य किस रूप का होता है - इस विषय में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में मतभेद है। कुछ लोग उत्पत्ति और ज्ञप्ति में प्रामाण्य का स्वतस्त्व स्वीकार करते हैं तथा कुछ लोग परतस्त्व स्वीकार करते हैं। स्वतस्त्व एवं परतस्त्व का तात्पर्य यह है कि जिस कारण सामग्री से ज्ञान उत्पन्न हो, या जिस कारण सामग्री से ज्ञान गृहीत हो, उसी कारण सामग्री से जब ज्ञान का प्रामाण्य भी उत्पन्न या गृहीत हो, तब तो प्रामाण्य का स्वतस्त्व होता है और जब ज्ञानोत्पाद या ज्ञानग्राहक कारण सामग्री से भिन्न कारण सामग्री द्वारा प्रामाण्य उत्पन्न या गृहीत हो, तो इसे प्रामाण्य का परतस्त्व करेंगे।

विभिन्न ज्ञानमीमांसकों के मध्य प्रामाण्य के स्वरूप के विषय में कोई उल्लेखनीय मतभेद नहीं है। मतभेद केवल प्रामाण्य की स्वतः उत्पत्ति या ज्ञप्ति और परतः उत्पत्ति और ज्ञप्ति सम्बन्धी मान्यताओं में है। इनकी इस भिन्नता को इस सारणी से स्पष्ट समझा जा सकता है-

प्रामाण्य	स्थिति	मान्यता का स्वरूप
स्वतः	उत्पत्ति	ज्ञानोत्पादकसामग्रीमात्रजन्यत्वम्
	ज्ञप्ति	ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्वम्
परतः	उत्पत्ति	ज्ञानोत्पादकसामग्रीभिन्नसामग्रीजन्यत्वम्
	ज्ञप्ति	ज्ञानग्राहकसामग्रीभिन्नसामग्रीग्राह्यत्वम्

ज्ञान का अप्रामाण्य

यथार्थज्ञान के प्रामाण्य की तरह अयथार्थज्ञान संशय, विपर्यय, स्मृति आदि अप्रमाओं का असाधारण धर्म अप्रामाण्य होता है। प्रमाणाभास की अयथार्थता और अप्रमा के अप्रमात्व को अप्रामाण्य कहते हैं। प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति के भेद की तरह अप्रामाण्य की उत्पत्ति

और ज्ञप्ति के विषय में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में मतभेद है। मीमांसक और नैयायिक अप्रामाण्य परतः स्वीकार करते हैं, जबकि सांख्य और बौद्ध लोग अप्रामाण्य को स्वतः मानते हैं।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य विषयक विभिन्न मत

न्यायमञ्जरीकार-जयन्त भट्ट ने प्रामाण्य और अप्रामाण्य के स्वतस्त्व तथा परतस्त्व के विषय में चार मत उपन्यस्त किया है।[1] सर्वदर्शनसंग्रह में भी इन्हीं चार मतों का उल्लेख भिन्नता है।[2] सांख्य लोग प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को स्वतः तथा नैयायिक दोनों को परतः स्वीकार करते हैं। मीमांसकों के मत से प्रामाण्य का स्वतस्त्व होता है जबकि अप्रामाण्य का परतस्त्व होता है। इसके विपरीत बौद्ध मान्यता में प्रामाण्य परतः तथा अप्रामाण्य स्वतः स्वीकार किया गया है। प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य शान्तरक्षित तथा उनके अनुयायियों की इस विषय में भिन्न मान्यता है। ये प्राभाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः मानते हैं। जब ज्ञान की उत्पत्ति के बाद उसके प्रामाण्य का निर्धारण और उसके बाद प्रवृत्ति हो तो उसे अभ्यास दशा कहते हैं। तथा जब ज्ञानोत्पत्ति के बाद प्रवृत्ति हो, तदनन्तर प्रामाण्य निश्चय हो तो उसे अनभ्यास दशा कहते हैं। जैन मत में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही उत्पत्ति में परतः और ज्ञप्ति में स्वतः होते हैं। प्रामाण्य और अप्रामाण्य विषयक इन मतों को इस प्रकार तालिकाबद्ध किया जा सकता है–

क्रमसंख्या	मत	प्रामाण्य		अप्रामाण्य	
1	सांख्य	स्वतः		स्वतः	
2	बौद्ध	परतः		स्वतः	
3	मीमांसा	स्वतः		परतः	
4	न्यायवैशेषिक	परतः		परतः	
5	शान्तिरक्षित	अभ्यासदशा	स्वतः	अभ्यासदशा	स्वतः

---

1. किं विज्ञानानां प्रामाण्यमप्रामाण्यं चेति द्वयमपि स्वतः उत उभयमपि परतः आहो स्विदप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं तु परतः उत स्वित् प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यं तु परतः इति। - न्या. म. भाग 1, पृ. 146-47

2. प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः।।
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्।। - सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. 129

		अनभ्यासदशा	**परतः**	**अनभ्यासदशा परतः**	
6	जैन	उत्पत्ति	परतः	उत्पत्ति	परतः
		ज्ञप्ति	स्वतः	ज्ञप्ति	स्वतः

प्रामाण्याप्रामाण्य विषयक इस भिन्नता आ आधार उक्त मतों में स्वीकृत प्रमाण के स्वरूप की भिन्नता है। सांख्यों के मत में सत्य और मिथ्या दोनों प्रकार के ज्ञान अन्तःप्रज्ञा या चित्तवृत्ति द्वारा जाने जाते हैं। इसलिये प्रामाण्य और अप्रामाण्य भी ज्ञानरूप होने से चित्तवृत्ति द्वारा ही गृहीत होते हैं। इसलिये दोनों ही स्वतः हैं। नैयायिक मत में प्रमा का प्रामाण्य और अप्रमा का अप्रामाण्य ज्ञान की कारणसामग्री से भिन्न स्वतंत्र हेतुओं द्वारा सिद्ध किये जाते हैं। बौद्धों के मत में प्रत्येक ज्ञान बाह्यतः मिथ्या दिखाई देता है, अतः ज्ञान का अप्रामाण्य तो स्वतः है, किन्तु जब विशेष प्रमाणों से ज्ञान को सत्य सिद्ध कर दिया जाता है, तभी ज्ञान का सत्यत्व परिनिश्चित होता है, अतः ज्ञान का प्रामाण्य परतः स्वीकृत किया गया है। मीमांसक यह मानते हैं कि ज्ञान सदा ज्ञायमान ही उत्पन्न होता है, क्योंकि यह स्वप्रकाश होता है और इसकी स्वप्रकाशता तभी सम्भव है जबकि ज्ञान की उत्पादक और ग्राहक सामग्री को ही ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पादक और ग्राहक सामग्री मान लिया जाय। परन्तु जब किसी भिन्न प्रमाण से ज्ञान का मिथ्यात्व सिद्ध कर दिया जाता है केवल तभी ज्ञान मिथ्या होता है। अतः मीमांसक मत में अप्रामाण्य परतः तथा प्रामाण्य स्वतः स्वीकार किया गया है।

स्वतः प्रामाण्य का स्वरूप

मीमांसक सभी ज्ञानों और सभी प्रमाणों का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। इनके मत में प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों ही स्वतः होती हैं और प्रामाण्य से अप्रामाण्य के पारस्परिक विभेद का कारण भी यही है कि प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है और अप्रामाण्य परतः ग्राह्य। यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परतः मान लें तो मीमांसक मत से दोनों के स्वरूप में पारस्परिक वैलक्षण्य सम्भव नहीं होगा। प्रामाण्य के स्वतोग्रहण का तात्पर्य यह है कि प्रमाण के आश्रयभूत यथार्थज्ञान का ग्रहण जिस कारणसामग्री से होता है, उसी कारणसामग्री से प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। प्रामाण्य ग्रहण के लिये ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न किसी इतर सामग्री की अपेक्षा नहीं है।

प्रामाण्य के ज्ञानग्राहक सामग्रीमात्रग्राह्यत्व के विषय में पूर्वमीमांसा सम्प्रदाय में तीन मान्यतायें प्रसिद्ध हैं। इनमें से एक प्रभाकर की मान्यता है, दूसरी कुमारिल की और तीसरी मुरारिमिश्र की।

प्रभाकर का मत

प्रभाकर के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश होने से हमेशा ज्ञात रहता है। दूसरे शब्दों में ज्ञान ज्ञायमान ही उत्पन्न होता है। यदि ज्ञान की उत्पत्ति के वाद उसकी ज्ञप्ति स्वीकार करें तो ज्ञान की स्वप्रकाशता बाधित हो जायेगी। ज्ञान जिस प्रकार अपने विषय को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार स्वयं अपने को प्रकाशित करता है तथा इसी प्रकार वह अपने प्रामाण्य को भी प्रकाशित करता है।

प्रभाकर के मत में ज्ञान सदा त्रिपुदोविषयक होता है। कोई भी उत्पन्न हुआ ज्ञान तीन अर्थों को अपना विषय बनाता है - पहला वह अर्थ जिसके विषय में ज्ञान उत्पन्न हुआ है, दूसरा स्वयं ज्ञान, और तीसरा ज्ञान का प्रामाण्य। इसलिये ज्ञानोत्पादकसामग्री ही ज्ञानग्राहकसामग्री होती है और वही ज्ञानप्रामाण्यग्राहकसामग्री होती है। इसलिये ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञानग्राहक सामग्री-मात्रग्राह्य होने से स्वत: गृहीत होता है। ज्ञान की उत्पत्ति, ज्ञप्ति और प्रामाण्यग्रहण - यह सारी प्रक्रिया युगपद् होती है। प्रभाकर के अनुसार घट ज्ञान का स्वरूप 'घटोऽयम्' न होकर 'घटमहं प्रमिणोमि' होता है, अत: ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञप्ति तथा प्रामाण्य की उत्पत्ति ज्ञप्ति में अभेद होता है।

कुमारिल का मत

कुमारिल ज्ञान को अतीन्द्रिय मानते हैं। ज्ञान की उत्पत्ति जिस कारणसामग्री से होती है, उसी कारणसामग्री से ज्ञान का ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञान अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। प्रमाता को ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता। कुमारिल के मत में उत्पन्न होने वाले ज्ञान में ज्ञातता नाम का एक नवीन धर्म उत्पन्न होता है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाता को होता है। इसलिये ज्ञानोत्पादक सामग्री से ज्ञानग्राहक सामग्री भिन्न है किन्तु, परन्तु ज्ञानग्राहकसामग्री और प्रामाण्यग्राहकसामग्री में भेद नहीं है। ज्ञातता का प्रत्यक्ष करने वाला प्रमाता ज्ञातता के कारण भूत ज्ञान का अनुमान करता है, अतएव ज्ञानग्राहकसामग्री अनुमान है। इसी प्रकार प्रामाण्य की ग्राहकसामग्री भी अनुमान ही है अर्थात् प्रामाण्य का निश्चय अनुमान द्वारा होता है। अतएव कुमारिल के मत में भी ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्व सुरक्षित रहने से प्रामाण्य का स्वतस्त्व ही स्वीकार किया जाता है।

मुरारि मिश्र का मत

अन्य मीमांसकों की अपेक्षा मुरारि मिश्र की ज्ञानग्रहण सम्बन्धी मान्यता नैयायिक मान्यता के अधिक समीप है। इनके मत में ज्ञानग्राहकसामग्री ज्ञानोत्पादकसामग्री से भिन्न होती है और यह अनुमान प्रमाण न होकर अनुव्यवसाय नामक मानस प्रत्यक्ष प्रमाण होती है। नैयायिक मान्यता से इनका केवल यह भेद है कि मुरारि मिश्र जिस अनुव्यवसाय से ज्ञान का ग्रहण

मानते हैं उसी अनुव्यवसाय को प्रामाण्य का भी ग्राहक मानते हैं। अतः ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्र-ग्राह्यत्व होने से इनके मत में भी प्रामाण्य स्वतोगृहीत होता है।

अन्य मत

मीमांसकों के अतिरिक्त सांख्य लोग भी प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व मानते हैं। इसका कारण यह है कि सांख्यों के मत में सभी ज्ञान बुद्धिवृत्ति से भिन्न कुछ नहीं हैं और सभी ज्ञानों का ग्राहक भी बुद्धिवृत्ति ही है। चूंकि प्रामाण्य भी एक प्रकार का ज्ञान है अतः उसकी भी ग्राहक बुद्धिवृत्ति ही होगी। अतः जो बुद्धिवृत्ति ज्ञान का ग्राहक है, वही प्रामाण्य की भी ग्राहक है। अतः ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्व के कारण सांख्य मत में प्रामाण्य का स्वतस्त्व सिद्ध होता है।

प्रामाण्य का स्वतस्त्व जैन लोग ज्ञप्ति में तथा बौद्ध आचार्य शान्तरक्षित अभ्यास दशा में स्वीकार करते हैं।

परतः प्रामाण्य का स्वरूप

परतः प्रामाण्य मुख्यतः नैयायिक और बौद्ध स्वीकार करते हैं। इनके मत में ज्ञान के प्रामाण्य की ग्राहक सामग्री ज्ञानग्राहकसामग्री से भिन्न होती है।

नैयायिकों का मत है कि किसी विषय में उत्पन्न हुये ज्ञान का ग्रहण ज्ञानोत्पादकसामग्री से भिन्न सामग्री द्वारा होता है। जैसे 'घटोऽयम्' ज्ञान का उत्पादक प्रमाण इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप प्रत्यक्ष प्रमाण है। जबकि 'घटोऽयम्' ज्ञान का ग्राहक अनुव्यवसाय नामक मानस प्रत्यक्ष है। यह अनुव्यवसाय चतुर्विध प्रमितियों में से प्रत्येक का ग्राहक होता है। या दूसरे शब्दों में यह कहें कि अनुव्यवसाय ही सभी ज्ञानों का ग्राहक होता है। अनुव्यवसाय का स्वरूप है–'घटमहं जानामि' या 'ज्ञातो मया घटः'। यह अनुव्यवसाय प्रामाण्य का ग्राहक नहीं है। घटविषय ज्ञान और ज्ञानग्रहण के पश्चात् प्रमाता में अर्थोपलब्ध्यनुकूल होती है। प्रवृत्ति के पश्चात् प्रमाता या तो घट उपलब्ध करेगा या नहीं। यदि घट उपलब्ध हुआ तो प्रमाता की प्रवृत्ति सफल कही जायेगी और यदि घट उपलब्ध न हुआ तो प्रमाता को प्रवृत्ति विफल कही जायेगी। प्रवृत्ति सफल होने पर प्रमाता अनुमान करता है–'मेरे घट विषयक ज्ञान का प्रामाण्य है - सफल प्रवृत्ति का जनक होने से।' 'सफल प्रवृतिजनकत्व हेतुक अनुमान' द्वारा न्यायमत में प्रामाण्य का ग्रहण स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार न्याय मत में ज्ञान का ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण होता है और प्रामाण्य का ग्राहक अनुमान प्रमाण होता है। ज्ञानग्राहक सामग्री प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न प्रामाण्य ग्राहक सामग्री अनुमान प्रमाण है। अतः प्रामाण्य का ग्रहण परतः माना जाता है। इसी प्रकार 'विफल प्रवृत्ति जनकत्व हेतुक अनुमान' से अप्रामाण्य का ग्रहण होता है, अतः अप्रामाण्य भी ज्ञानग्राहकसामग्री भिन्न सामग्रीग्राह्य होने से परतोग्राह्य स्वीकार किया जाता है।

परतः प्रामाण्यवादी बौद्धों की मान्यता है कि सभी ज्ञान वाह्यतः मिथ्या उत्पन्न होते हैं, अतः अप्रामाण्य स्वतोग्राह्य होता है। परन्तु जब कोई ज्ञान (1) कारण गुण के ज्ञान द्वारा या (2) संवाद द्वारा या (3) अर्थक्रियाज्ञान द्वारा - सत्यसिद्ध कर दिया जाता है, केवल तभी वह ज्ञान यथार्थज्ञान के रूप में स्वीकृत किया जाता है। इसलिये बौद्धमत में प्रामाण्य-कारण-गुणज्ञान या संवादज्ञान या अर्थक्रियाज्ञान से गृहीत होता है। अतः ज्ञानग्राहकसामग्री से भिन्न सामग्री द्वारा ग्राह्य होने से बौद्धमत में प्रामाण्य का परतोग्रहण स्वीकार किया जाता है।



भारतीय प्रमाण मीमांसा - एक विमर्श

डॉ. निर्मला कुमारी झा

भारतीय दर्शन में प्रमाण-विचार एक महत्वपूर्ण विषय माना गया है। इसका क्षेत्र अत्यन्त ही व्यापक है। शायद ही कोई ऐसा विषय हो जो इसके अन्तर्गत नहीं आता है। विषय चाहे जैसा भी हो, वह ज्ञेय होगा ही और स्वाभाविक रूप में उसका कोई न कोई ज्ञाता भी अवश्य ही होगा। कहा जा सकता है कि दृश्य जगत् की सभी वस्तुएं ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान, इन्हीं तीन स्तम्भों पर आधारित हैं। तत्त्वमीमांसीय विश्लेषण भी यही प्रमाणित करता है कि ''ज्ञानं यदा तदा विद्यात्''। बहुत अर्थ में हमारी सोच ही हमारे आदर्श को निश्चित करती है। परन्तु ध्यातव्य भी है कि जीवन और जगत् का विश्लेषण जिस प्रकार से हमारे ऋषियों, चिंतकों आदि ने किया, उसी प्रकार ज्ञान के स्वरूप का विवेचन भी किया गया। ज्ञान के स्वरूप का चिन्तन अपने आप में अनेक प्रश्नों का जनक है। जैसे- क्या ज्ञान एक पदार्थ है, जिसका बोध किया जा सके, क्या यह ग्राह्य वस्तु है? यदि हां, तो इसका ग्राहक कौन है?, यदि यह उत्पाद्य विषय है तो इसमें भाव, अभाव, विकास, ह्रास, इत्यादि स्थितियां भी अवश्य ही होंगी, इत्यादि। यही कारण है कि कतिपय मनीषियों ने यह मान लिया कि ज्ञान स्वयं अज्ञान की इतनी मोटी परतों के नीचे छिपा हुआ है कि गहरी छानबीन करने पर भी उसका वास्तविक पता नहीं लग सकता। अज्ञान की परतों को भेदकर जो व्यक्ति जहां तक पहुंच सका, वहीं पर उसने उसकी सत्ता मान ली। इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान की अपनी सत्ता नहीं है या ज्ञान सिर्फ अज्ञान का अभाव है। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान भले ही अपने आप में एक निरपेक्ष सत्य क्यों न हो, परन्तु जब हम इसे परिभाषित करने लगते हैं तब वह सापेक्ष परिधि के अन्तर्गत आ जाता है, जो कि ज्ञाता की सीमित शक्ति के कारण होता है। पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट की उक्ति को भी इस संदर्भ में उद्धृत किया जा सकता है। जिज्ञासु सत्य के एक अंश को ही पूर्ण समझने की भूल कर बैठते हैं। अत: ज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ भी प्राचीन विचारकों ने कहा है उस पर भी विवाद है तथा आधुनिक विद्वानों के विचारों को भी अन्तिम सत्य नहीं कहा जा सकता।

व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञान, बुद्धि इत्यादि सभी समानार्थक शब्द माने जाते हैं। ज्ञान का अर्थ है- जानना। समस्त व्यवहार का हेतु या कारण ज्ञान ही है। तर्कभाषा में भी कहा गया है- 'सर्व व्यवहारहेतुर्ज्ञानम्'।[1] ज्ञान विषयों का प्रकाशक है न कि कारक। वस्तु तो पहले से ही है, परन्तु ज्ञान

---

1. *श्रीमद्भगवद्गीता* : 14/11

होने से पहले यह अज्ञात होता है, अर्थात् अंधकार में रहता है। ज्ञात होने के बाद वह प्रकाशित हो जाता है। अतः इसे प्रकाश रूप कहा गया है। ज्ञान को विषयानुभव भी कहा गया है। अनुभव यथार्थ भी हो सकते हैं और अयथार्थ भी। यथार्थ अनुभव को प्रमा और अयथार्थ अनुभव को अप्रमा कहा गया है। *तर्कसंग्रह* के अनुसार जो वस्तु जैसी है, उसका उसी रूप में ज्ञान होना तत्त्वानुभव है और वही यथार्थ ज्ञान या प्रमा है- 'तद्वतितत्प्रकारकानुभवः प्रमा'। इसके विपरीत जो वस्तु जैसी है, उसका उसी रूप में अनुभव न होकर किसी दूसरे रूप में अनुभव होना अयथार्थ ज्ञान या अप्रमा है- पुनश्च 'तद्भाववति तत्प्रकारकानुभवः अप्रमा'। महर्षि वात्स्यायन ने *न्यायभाष्य* में स्पष्ट कहा है कि वस्तु की यथार्थ प्रतीति ही प्रमा है- 'तदर्थविज्ञानं सा प्रमा'।

ज्ञान के स्वरूप-विश्लेषण के साथ ही भारतीय चिन्तकों ने इस विषय पर भी गहन चिन्तन किया है कि ज्ञान का ज्ञान किस प्रकार होता है? ज्ञान के ज्ञान की समस्या के संदर्भ में भारतीय दार्शनिकों ने प्रमाण और प्रमेय की चर्चा की है। प्रमाण की परिभाषा तथा भेद पर मतभेद होते हुए भी एक बात से सभी सहमत हैं कि प्रमेयों (पदार्थ) का ज्ञान प्रमाण द्वारा होता है। साथ ही यह विचार भी महत्त्वपूर्ण है कि प्रमाण के प्रामाण्य की कसौटी क्या है? इसी संदर्भ में प्रामाण्यवाद की चर्चा भी की गयी है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन में प्रामाण्य की मुख्यतः दो समस्याएं हैं- (1) प्रामाण्य की उत्पत्ति कैसे हुई और (2) इसका ज्ञान कैसे होता है। यह स्वतः होता है या परतः ? और यही बात अप्रामाण्य के संबंध में भी सही है। कुल मिलाकर ऐसे कहा जा सकता है कि प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः होती है या परतः तथा इसका ज्ञान स्वतः होता है या परतः, इसे ही स्वतः प्रामाण्यवाद तथा परतः प्रामाण्यवाद कहा गया है। इसे लेकर भारतीय दर्शन में चार प्रकार के मत हैं-

न्याय दर्शन परतः प्रामाण्यवाद को प्रतिपादित करता है, जबकि सांख्य दर्शन स्वतः प्रामाण्यवाद तथा मीमांसा मत में प्रामाण्य स्वतः है और अप्रमाण्य परतः है। बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रामाण्य परतः है, जबकि अप्रामाण्य स्वतः होता है।

'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्या समाश्रिताः
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः
प्रथमः परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः
प्रामाण्यं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्।'

व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाण शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु और ल्युट् प्रत्यय के योग से बना है। ल्युट् प्रत्यय का अर्थ साधन या कारण है। साधन की व्याख्या दो प्रकार से की गयी है- प्रथमतः जिस साधन के द्वारा ज्ञान प्राप्त हो (प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्) वही प्रमाण है। द्वितीयतः प्रमा या यथार्थ ज्ञान के कारण को प्रमाण कहते हैं। दोनों ही अर्थ में प्रमाण शब्द करण अर्थ का द्योतक है- ''उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधायिनो हि प्रमाणशब्दः''।[1]

1. न्याय भाष्य : 1-1-3

संक्षेप में कहा जा सकता है कि करण रूप प्रमाण का फल प्रमा या यथार्थ ज्ञान है- ''प्रमाकरणं प्रमाणम्।''[1] करण भी दो प्रकार के होते हैं- साधारण और असाधारण। साधारण करण वे हैं जिनकी अपेक्षा सभी कार्यों के लिए है। न्यायदर्शन में ऐसे करण या कारण की संख्या आठ बतायी गयी है- ईश्वर, उनका ज्ञान, उनकी इच्छा, उनका प्रयत्न, अदृष्ट, कार्य का प्रागभाव, दिक् तथा काल। इनसे भिन्न किसी विशेष कार्य, जैसे- घट का कारण घटत्व है, अर्थात् जो कारण व्यापार द्वारा किसी कार्य का असाधारण कारण होता है, वही करण कहलाता है- ''यस्य कार्यात् पूर्व भागो नियतोऽनन्यथा सिद्धश्च तत् कारणम्।''[2] इसी असाधारण कारण को करण कहते हैं जो अत्यंत साधक है।

प्रमाण का स्वरूप : महर्षि वात्स्यायन के अनुसार प्रमाण का स्वरूप अर्थत्व है। अर्थात् प्रमाण से अर्थ या विषय का ज्ञान होता है और विषय ज्ञान से विषय के प्रति प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। अतः प्रमाण अर्थवत् है। प्रमाण के संबंध में एक प्रश्न है कि यह चेतन है या अचेतन? इस संबंध में अनेक विवाद हैं, परंतु अन्तिम रूप से यह कहा गया है कि चूंकि प्रमा के कारण चेतन और अचेतन दोनों ही हैं, अतः प्रमाण के स्वरूप को भी दोनों ही प्रकार से समझा जा सकता है। प्रमाण को प्रमा का करण तथा प्रमा के साधन के रूप में भी जाना गया है- 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्।' आचार्य धर्मकीर्ति ने अविसंवादी ज्ञान को ही प्रमाण कहा है- ''प्रमाणमविसंवादीज्ञानम्''[3]

प्रमाणों की संख्या : प्रमाण की संख्या को लेकर भारतीय दर्शन में मतभिन्नता पायी जाती है, जो कि निम्न प्रकार से है-

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौपुनः
अनुमानं च तच्चापि सांख्याः शब्दश्च ते उभे।
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केवलम्।
अर्थापत्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः।
अभावष्टान्येतानि भट्टावेदान्तिनस्तया।
सम्भावैतिह्ययुक्तानि इति पौराणिका जगुः।''[4]

प्रमाणों की संख्या पर विचार करने से ऐसा लगता है कि प्रत्यक्ष ही एकमात्र ऐसा प्रमाण है, जिसे सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय एक स्वर से मानते हैं। अन्य सभी प्रमाणों के अस्तित्व में सभी सम्प्रदाय आस्था नहीं रखते।

चार्वाक दर्शन में प्रमाण विचार : चार्वाक प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार केवल इन्द्रियों के द्वारा ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। अतः वे अनुमान तथा शब्द

1. मिश्र, केशव : तर्कभापा, पृ. 18
2. तर्कभाषा : पृ. 29.
3. प्रमाण वार्तिक : 1-3
4. मानसोल्लास : 2, 17, 20

का खंडन करते हैं। अनुमानजन्य ज्ञान व्याप्ति-सम्वन्ध के बिना संभव नहीं है और यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष द्वारा संभव नहीं है। भूत तथा भविष्य की बात को छोड़ भी दिया जाय तो वर्तमान समय में भी सभी धूमवान् पदार्थ को देखा नहीं जा सकता। अनुमान द्वारा भी इसकी स्थापना नहीं की जा सकती, क्योंकि उसकी सत्यता भी तो व्याप्ति पर ही निर्भर है- 'स्वयं असिद्धः कथं परान् साधयति।' शब्द द्वारा भी यह संभव नहीं है, क्योंकि शाब्दिक ज्ञान भी अनुमान पर ही निर्भर है। शब्द ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि विश्वसनीय व्यक्तियों द्वारा शब्द ज्ञान होता है जो कि एक प्रकार से प्रत्यक्ष ही है। चार्वाक अनुमान को भी प्रत्यक्ष पर ही आधारित मानते हैं, क्योंकि बादल देखकर ही वर्षा का अनुमान लगाया जाता है।

बौद्ध दर्शन में प्रमाण विचार : बौद्ध नैयायिकों ने स्पष्ट कहा है कि 'प्रमाणान्तरागृहीतनिश्चित प्रवृत्तिविषयार्थतया तत्प्राणे शक्तिः'। अर्थात् शक्ति रूप प्रामाण्य अर्थ से नहीं बल्कि अर्थ-दर्शन से उत्पन्न होता है। सामान्यतः अर्थ का धर्म दृश्यत्व होता है और ज्ञान का धर्म द्रष्टव्य होता है और दोनों ही एकांगी होते हैं। ज्ञान के लिए दोनों का सापेक्ष होना आवश्यक है। रत्नकीर्ति ने स्पष्ट कहा है कि साकार ज्ञानवादी अभ्युपगम में सारूप्यवशात् ज्ञानान्तर्गत ही दृश्य-दर्शनभाव रूपायित होता है।[1] सारूप्यवशात् अर्थ-दर्शन ही बौद्ध दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। इत्याकारक अर्थ-दर्शन ही प्रत्यक्ष और अनुमान के रूप में व्यवहृत होता है।

बौद्ध दर्शन ने प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण को आवश्यक माना है। बौद्धों का 'अपोहवाद' सर्वविदित सिद्धान्त है। कल्पनारहित तथा निर्भ्रान्त ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा गया है। इनके अनुसार स्वलक्षणात्मक परिभाषा संभव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक धारणा अपने प्रतिरूप के साथ सम्बद्ध होती है। जैसे- पीत तथा पीततर। यदि पीत के विषय में कुछ कहना हो तो व्यावृत्ति के नियम का प्रयोग करते हुए कहा जा सकता है कि 'पीत' वह है जो 'पीतेतर' नहीं है। यही सिद्धान्त अपोहवाद के नाम से प्रसिद्ध है। 'अभ्रान्त' शब्द का प्रयोग भी विवादास्पद है। दिङ्नाग के अनुसार प्रमाण दो ही हैं- प्रत्यक्ष तथा अनुमान। प्रत्यक्ष वह धारणा है जो कल्पना, नाम, जाति आदि से संपृक्त नहीं हो।

'प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्।
प्रमेयं तत्र सिद्धं हि न प्रमानान्तरं भवेत।' प्र.समु.

धर्मकीर्ति उपर्युक्त परिभाषा में अभ्रान्त शब्द को भी जोड़ देते हैं। अर्थात् प्रत्यक्ष से हमें स्वलक्षण वस्तु का ज्ञान होता है। बौद्ध नैयायिक केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही मानते हैं। अर्थात् इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क होने पर प्रथम क्षण का वह ज्ञान, जो विकल्प, विशेषण इत्यादि से रहित होता है। दिङ्नाग ने *प्रमाण-समुच्चय* में कहा है-

'प्रत्यक्षं कल्पनापोढ़ं नामजात्याद्यसंयुतम्'।

---

1. रत्नकीर्ति *निबन्धावली* : पृ. 87

प्रत्यक्ष ज्ञान को चार कोटियों में बांटा गया है-

(1) इन्द्रियज्ञान - जो इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है।

(2) मनोविज्ञान - इन्द्रिय ज्ञान के विषय के अनन्तर, विषय के सहकारी तथा समानान्तर प्रत्यय रूप इन्द्रियज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान।

(3) आत्मसंवेदन - सुख-दु:ख आदि के अपने स्वरूप में प्रकट होना। यह आत्मसाक्षात्कारि, निर्विकल्पक तथा अभ्रान्त ज्ञान है। तथा

(4) योगिज्ञान - प्रमाणों के द्वारा दृष्ट अर्थ का चरम सीमा तक ज्ञान होना। बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय स्वलक्षण है। वही परमार्थ 'सत्' है, क्योंकि उसी के द्वारा वस्तु में अर्थ-क्रिया की सामर्थ्य है।

अनुमान भी दो तरह के माने गये हैं- स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान में त्रिरूपलिंग से ज्ञान उत्पन्न होता है-

''तत्रस्वार्थ त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्''।[1]

परार्थानुमान में दूसरों को अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान कराया जाता है। धर्मकीर्ति के अनुसार

''त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्।''[2]

ये तीनों रूप हैं- अनुपलब्धि, स्वभाव तथा कार्य।

परार्थानुमान भी दो प्रकार के हैं- 'साधर्म्यवत्' तथा 'वैधर्म्यवत्। इन दोनों के प्रयोग में केवल भेद है, अर्थ में नहीं।

जैन दर्शन में प्रमाण विचार : जैन दर्शन भी प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाणों को मानता है। उमास्वामी का कहना है कि वह यथार्थ ज्ञान, जिसे जीव बिना किसी की सहायता से स्वयं प्राप्त करता है, प्रत्यक्ष ज्ञान है। अत: स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष स्वत: प्रमाण है। सिद्धसेन दिवाकर ने भी स्पष्ट कहा है कि 'प्रमाण' तो वही 'ज्ञान' है जो अपने को तथा दूसरों को बिना किसी रुकावट के प्रकाशित करें। कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए जैनों को इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा नहीं होती। यही कारण है कि 'अवधि', 'मन:पर्याय' तथा 'केवल' ये ही वास्तव में तीन प्रत्यक्ष के भेद माने गये हैं। यद्यपि जैन दर्शन में दो ही प्रमाण माने गये हैं, तथापि किसी-किसी अन्य ग्रन्थ में चार प्रमाणों का भी उल्लेख है। अर्थात् उन लोगों के मत में प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य तथा आगम, ये चार प्रमाण हैं।

---

1. धर्मकीर्ति : *न्यायबिन्दु*, द्वितीय परिच्छेद, 3
2. वही : *न्याय बिन्दु*, तृतीय परिच्छेद, 1

जैन विचारधारा के अनुसार 'हेतु' के द्वारा 'साध्य' वस्तु के ज्ञान को परोक्ष तथा उसकी प्रक्रिया को अनुमान कहते हैं। यह स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दोनों को ही मानता है। कई दृष्टान्तों को देखकर अपने मन में स्वयं को समझने के लिए किए गये अनुमान को स्वार्थानुमान कहते हैं, परन्तु यही बात जब दूसरों को समझाने के लिए की जाती है तो उसे परार्थानुमान कहते हैं। इसके लिए पंचावय अनुमान (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन) की सहायता ली जाती है। भद्रबाहु ने 'दशवैकालिक-निर्युक्ति' में 'दर्श-अवयव' वाले अनुमान का भी उल्लेख किया है।

न्याय दर्शन में प्रमाण-विचार : न्याय दर्शन चार प्रकार के प्रमाणों में विश्वास करता है- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। इन चारों ज्ञानों को उत्पन्न करने में जो सबसे अधिक साधक हो, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष उस असंगिदग्ध ज्ञान को कहते हैं, जो इन्द्रिय-संयोग से उत्पन्न होता है और यथार्थ भी होता है-

'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ज्ञानं प्रत्यक्षम्''[1]

परन्तु कुछ नैयायिक इसे स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार इन्द्रिय-संयोग के बिना भी प्रत्यक्ष हो सकता है। जैसे-सुख, दुःख इत्यादि मनोभावों का प्रत्यक्ष। साक्षात् प्रतीति को ही वे प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण कहते हैं, यद्यपि वे मानते हैं कि अधिकांश प्रत्यक्ष इन्द्रिय-संयोग के कारण ही होते हैं-

''ज्ञानाकरणं ज्ञानं प्रत्यक्षं''[2]

न्याय दर्शन में मुख्य रूप से लौकिक तथा अलौकिक प्रत्यक्ष को माना गया है। पुनः, लौकिक को बाह्य, मानस, निर्विकल्पक तथा सविकल्पक चार प्रकारों में बांटा गया है। अलौकिक प्रत्यक्ष को भी सामान्य लक्षण, ज्ञान-लक्षण तथा योगज तीन प्रकार से जाना गया है। इनका विस्तार से चर्चा करना यहां संभव नहीं है।

अनुमान प्रमाण को न्याय दर्शन पश्चात् ज्ञान भी कहता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञात को देखकर अप्रत्यक्ष या अज्ञात का ज्ञान है। यहां हेतु या लिंग 'अविनाभाव संबंध' या व्याप्ति संबंध होता है। बिना व्याप्ति संबंध के अनुमान संभव ही नहीं है। यहां भी स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान की चर्चा की गयी है, जिसका विशद् वर्णन किया जा चुका है। यह पंचावयव अनुमान में विश्वास करता है, जिसके मुख्य दो अंग हैं- 'व्याप्ति' और पक्षधर्मता', अर्थात् व्याप्ति युक्त 'हेतु' का 'पक्ष' में होना। 'पक्षधर्मता' के ज्ञान को ही 'परामर्श' कहा गया है। अनुमान में 'लिंग' का दर्शन तीन बार होता है। प्रथम धुआं का रसोईघर में, द्वितीय 'पर्वत' में और तृतीय उसी पर्वत में 'आग से व्याप्त धुआं' का और इसके पश्चात् ही 'अनुमिति' होती है। अतः कहा गया है- 'तृतीयलिंगपरामर्शः अनुमानम्।'

---

1. *न्यायसूत्र* : 1-1-4
2. *तत्त्वचिंतामणि* : गंगेश उपाध्याय

अनुमान को पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट- तीन प्रकार से विभक्त किया गया है। कारण के आधार पर कार्य का अनुमान, कार्य के आधार पर कारण का अनुमान तथा सामान्य रूप से प्रत्यक्ष के आधार पर परोक्ष का अनुमान ही क्रमशः इन्हें जाना जा सकता है।

वैशेषिक दर्शन में प्रमाण विचार : वैशेषिक और न्याय समान तन्त्र हैं। इनकी एक-दूसरे के साथ इतनी निकटता है कि इनका अलग-अलग विवेचन आवश्यक नहीं है। परन्तु कुछ अंतर भी है। प्रमाण विचार के संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि वैशेषिक दो ही प्रमाण को मानते हैं- प्रत्यक्ष तथा अनुमान। उपमान तथा शब्द का अन्तर्भाव वे इन्हीं दोनों प्रमाण में कर देते हैं। कुछ विचारक तो वैशेषिक को न्याय से अधिक प्राचीन मानते हैं। इस मत की पुष्टि वात्स्यायन के इस कथन से भी होती है कि गौतम के *न्याय सूत्र* के कतिपय अस्पष्ट अंशों की व्याख्या वैशेषिक दर्शन से होती है। इससे स्पष्ट है कि गौतम वैशेषिक के मूल सिद्धान्तों से परिचित थे। कुछ विद्वानों ने तो यहां तक कहा है कि वैशेषिक सिद्धान्तों की सिद्धि के लिए ही न्याय का उद्भव हुआ होगा।

सांख्य दर्शन में प्रमाण विचार : सांख्य दर्शन तीन प्रमाणों को ही स्वीकार करता है- प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द।

'दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणद्धित्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः।''[1]

किसी विषय का इन्द्रिय के साथ संयोग होने से जो साक्षात् ज्ञान होता है, वही 'प्रत्यक्ष' है। दूसरे में प्रत्येक ज्ञान के विषय के संबंध में पृथक्-पृथक् जो निश्चित ज्ञान है, वही प्रत्यक्ष है-

''प्रतिविषयाध्यवसायः''।[2]

सांख्य मत में कार्यो की संख्या तेरह है, जिनमें 'बुद्धि' 'अहंकार' तथा 'मनस्' अन्तःकरण हैं और पांच 'ज्ञानेन्द्रियां', तथा पांच 'कर्मेन्द्रियां' बाह्य करण हैं। अन्तःकरण धारण करते हैं और ज्ञानेन्द्रियां 'प्रकाश' करती हैं तथा कर्मेन्द्रियां 'आहरण' करती हैं।[3] इसमें बहिरिन्द्रिय 'द्वार' मात्र हैं, 'मन' संकल्प-विकल्प करता है, 'अहंकार' मुझे यह ज्ञान हुआ का बोध करता है और बुद्धि निश्चय करती है कि 'यह (नील) रूप है'। वस्तुतः सभी बातें बुद्धि ही करती है और करण उसके सहायक होते हैं।[4]

अनुमान का लक्षण न्याय मत की तरह लिंग और लिंगी के ज्ञानपूर्वक है। अनुमान को प्रथमतः दो भागों में बांटा गया है- वीत तथा अवीत। अर्थात् व्यापक विधि-वाक्य तथा व्यापक निषेध-वाक्य पर अवलम्बित। वीत के दो प्रकार हैं- पूर्ववत् तथा सामान्यतोदृष्ट। अवीत को ही कुछ नैयायिकों ने शेषवत् कहा है। इनकी व्याख्या न्याय प्रमाण के जैसी ही है। नैयायिकों के जैसे

---

1. *सांख्यकारिका* : कारिका सं. 4
2. *वही* : कारिका सं. 5
3. *वही* : कारिका सं. 32
4. *वही* : कारिका सं. 35

ही सांख्य भी पंचावयव अनुमान को प्रामाणिक मानते हैं।

'आगम' प्रमाण को ही आप्तवचन या शब्द कहा गया है। शब्द दो प्रकार के हैं- लौकिक तथा वैदिक। सांख्य लौकिक शब्द को स्वतंत्र प्रमाण की कोटि में नहीं रखता, क्योंकि यह प्रत्यक्ष तथा अनुमान पर आश्रित है तथा साधारण विश्वासपात्र व्यक्तियों के वचन हैं। वैदिक वाक्य ही शब्द-प्रमाण हैं, क्योंकि ये हमें उन अगोचर विषयों का ज्ञान कराते हैं जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान पर आधारित नहीं हैं। ये द्रष्टा ऋषियों के साक्षात् अनुभव हैं। फिर भी वे नित्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे द्रष्टा ऋषियों के दिव्य अनुभवों से उत्पन्न होते हैं और सनातन पठन-पाठन की परम्परा से सुरक्षित रहते हैं।

योग दर्शन में प्रमाण विचार : सांख्य की तरह योग भी प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द, ये तीन प्रमाण को मानता है। इन्द्रिय-संयोग के द्वारा वस्तु के आकार को प्राप्त 'चित्तवृत्ति' ही प्रत्यक्ष है। ज्ञानेन्द्रियां तो इनके द्वार मात्र हैं। अनुमान तथा शब्द प्रमाण की व्याख्या सांख्य के अनुकूल ही है।

मीमांसा दर्शन में प्रमाण विचार : मीमांसा दर्शन में अज्ञात तत्त्व के अर्थज्ञान को 'प्रमा' कहा गया है और इसी अर्थज्ञान को उत्पन्न करने वाला करण 'प्रमाण' है-

''कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अग्रहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्''।[1]

अर्थात् जिस ज्ञान में अज्ञात वस्तु का अनुभव हो, अन्य ज्ञान से बाधित नहीं हो एवं दोषरहित हो, वही 'प्रमाण' है।

प्रमाण के प्रकार के संबंध में मीमांसा दर्शन में विवाद है। भाट्टमत में प्रमाण की संख्या छः है- प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि। प्रभाकर प्रमाणों की संख्या पांच ही मानते हैं, वे अनुपलब्धि को स्वीकार नहीं करते। प्रत्यक्ष तथा अनुमान विषयक धारणाएं यहां भी न्यायमत के जैसी ही हैं, परन्तु प्रक्रिया में कुछ भेद है। न्याय-वैशेषिक छः प्रकार के सन्निकर्ष को मानते हैं, जबकि भाट्ट ने केवल दो ही निकर्ष- संयोग तथा संयुक्त-तादात्म्य को माना है। समवाय संबंध को ये नहीं मानते। 'पंचावयव' वाक्य न मानकर सिर्फ प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त अथवा दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन, इन्हीं तीन वाक्यों को अवयव मानते हैं।

प्रभाकर 'अनुभूति' को ही प्रमाण मानते हैं। 'स्मृति' को वे प्रमाण नहीं मानते। उनके अनुसार प्रत्यक्ष में प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण होते हैं। प्रभाकर प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में आत्मा के साथ मन का, मन के साथ इन्द्रिय का, द्रव्य के साथ इन्द्रिय का तथा रूप आदि गुणों के साथ इन्द्रियों के सन्निकर्ष को मानते हैं। सभी गुणों का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। द्रव्य के ज्ञान के विना रूप आदि गुणों का ज्ञान तथा कहीं रूप आदि गुणों के ज्ञान के बिना भी द्रव्य का ज्ञान होता है और यही न्याय से इसकी भिन्नता है।

---

1. *शास्त्रदीपिका* : पृ. 45

अनुमान तथा उपमान प्रमाण विचार न्याय-वैशेषिक के समान ही है। शब्द प्रमाण दो प्रकार के हैं- पौरुषेय तथा अपौरुषेय। आप्त वाक्य पौरुषेय है और वेद वाक्य अपौरुषेय। ये शब्द स्वतः तो अदृष्ट हैं, परन्तु जब ये आप्त तथा वेदवाक्य के रूप में होते हैं, तब उनमें कोई दोष नहीं रहता। मीमांसा में शब्द तथा शब्द का अर्थ के साथ संबंध को नित्य माना गया है। वेद-वाक्य स्वप्रकाश भी हैं। प्रभाकर मत में शब्दविज्ञान के द्वारा आत्मा के सन्निकर्ष से अदृष्ट विषयों के ज्ञान को शब्द प्रमाण कहा गया है। वेदवाक्य ही और वैसे वाक्य जो 'विध्यर्थक' हैं- शब्द प्रमाण हैं। जैसे- 'स्वर्गकामो यजेत।'

दृष्ट या श्रुत विषय की उपपत्ति जिस अर्थ के बिना न हो, उस अर्थ के ज्ञान को अर्थापत्ति कहा गया है। जैसे- देवदत्त दिन में कुछ नहीं खाता, फिर भी मोटा है। यहां 'रात में खाने' की कल्पना की जाती है। प्रभाकर के मतानुसार किसी भी प्रमाण से ज्ञात विषय की उपपत्ति के लिए 'अर्थापत्ति' हो सकती है, केवल दृष्ट या श्रुत से ही नहीं।

प्रभाकर अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण को नहीं मानते। उनके अनुसार 'अभाव' का अपना कोई विषय नहीं होता जैसे 'इस भूमि पर घट नहीं है'। यहां हम घट को नहीं बल्कि भूमि को देखते हैं। अतः इस प्रकार का ज्ञान होता ही नहीं। अभाव 'अधिकरणस्वरूप' है, इसका पृथक् अस्तित्व नहीं है।[1] परंतु भाट्ट मत में अनुपलब्धि भी एक प्रमाण है, क्योंकि 'वह वस्तु नहीं है' का ज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा तो हो नहीं सकता। भावपदार्थ के जैसे ही अभाव पदार्थ की अनुपस्थिति का भी ज्ञान होता है। अतः यह एक स्वतंत्र प्रमाण है।

'संभव' तथा 'ऐतिह्य' प्रमाण को कुमारिल एवं अन्य मीमांसकों ने स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना है। संभव को 'अनुमान' तथा 'ऐतिह्य' को 'आगम' के अन्तर्गत कहा है। 'प्रतिभा' अर्थात् 'प्रातिभज्ञान' सदैव सत्य नहीं होता, अतएव इसे भी उन्होंने प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किया है।

वेदान्त दर्शन में प्रमाण विचार : अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। व्यावहारिक दृष्टि से जगत् की भी सत्ता है। ब्रह्म का ज्ञान तो श्रुति प्रमाण से ही हो सकता है, जिसके लिए एकमात्र प्रमाण है- शब्द। अतः अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है, परन्तु माया या जगत् का ज्ञान भी सामान्य व्यक्तियों के लिए आवश्यक है। इसी दृष्टि से वेदान्त भी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि- छः प्रमाणों को मानता है। सांख्य के समान यहां भी प्रत्यक्ष में चित्तवृत्ति, अहंकार तथा मन को लेकर इन्द्रियों द्वारा विषय के साथ सम्पर्क में आते ही जड़ विषय का प्रत्यक्ष हो जाता है। अतः इसकी विशेष चर्चा आवश्यक नहीं है। व्याप्ति ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति माना गया है और उसके करण को अनुमान। न्याय-वैशेषिक की तरह ये लोग 'तृतीय लिंग परामर्श' को अनुमान नहीं मानते, क्योंकि वह 'अनुमिति' का हेतु नहीं है। इनके मत में केवल 'अन्वयानुमान' ही होता है, केवलान्वयी तथा व्यतिरेक अनुमान नहीं हो

1. *वही* : पृ. 83-85

सकते।[1] अन्य प्रमाणों में मीमांसकों की बातों को ये भी स्वीकार करते हैं। वेदान्तियों का सिद्धान्त है- 'व्यवहारे तु भाट्टनय:'।

अंत में, भारतीय प्रमाण-मीमांसा की चर्चा तब तक पूरी नहीं हो सकती जब तक प्रमाण-व्यवस्था की चर्चा न हो। यहां एक प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रत्येक प्रमाण का अपना क्षेत्र निश्चित है या अवसरवश वे एक-दूसरे के क्षेत्र में अतिक्रमण भी कर सकते हैं? बौद्ध दर्शन में पहले विकल्प को माना गया है और इसी सिद्धान्त को वे प्रमाण-व्यवस्था कहते हैं। इसके विपरीत नैयायिकों का कहना है कि विभिन्न पदार्थों का ज्ञान विभिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रमाणों द्वारा हो सकता है, इसके अतिरिक्त कई संदर्भों में एक प्रमाण दूसरे प्रमाण का सहायक भी हो सकता है। जैसे- अनुमान का ज्ञान भी प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है और आप्त-पुरुष द्वारा कही गई बातों का भी हमें अन्ततः प्रत्यक्ष ही होता है। एक ही ज्ञान में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द की सहायता ली जाती है। ऐसे अनेकों उदाहरण हो सकते हैं जहां किसी एक प्रमाण का ही अपना निश्चित क्षेत्र होता है, परन्तु अधिकतर प्रमेयों में एक से अधिक प्रमाणों का समावेश होता है। यह प्रमाण-संप्लव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय प्रमाण मीमांसा का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है। ज्ञान जब तक प्रमाणित नहीं हो जाता, तब तक उसका कोई मूल्य नहीं होता। न्याय दर्शन में प्रमाण को ही प्रथम पदार्थ माना है। उदयानाचार्य ने तो प्रमाण को साक्षात् शिव ही कहा है और विश्वनाथ पंचानन ने इसे विष्णु के अर्थ में प्रयुक्त किया है। यद्यपि *न्यायसूत्र* में स्वयं गौतम ने भी ऐसे लोगों का उल्लेख किया है जो किसी भी प्रमाण की सत्ता को नहीं मानते, किन्तु ऐसे लोगों द्वारा त्रैकाल्यसिद्धि के रूप में जो तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं, उनका समाधान तो लोक व्यवहार से ही हो जाता है- ''प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धे:।''[2]



1. *वेदान्तपरिभाषा* : अनुमानपरिच्छेद
2. *न्यायसूत्र* : 1-12-8

शाब्दबोध प्रक्रिया में योग्यताज्ञान

डॉ. बलिराम शुक्ल

जो बोध शब्द से उत्पन्न होता है उसे शाब्दबोध कहते हैं। शाब्दबोध के लिए पदज्ञान करण (असाधारण कारण) तथा पद से होने वाली पदार्थ की उपस्थिति व्यापार (द्वारा) तथा शाब्दबोध शब्द प्रमाण का फल है। महर्षि गौतम ने आप्तोपदेश को चार प्रमाणों के अन्तर्गत शब्द प्रमाण के रूप में परिभाषित किया है। महर्षि वात्स्यायन ने आप्त की व्याख्या करते हुए कहा है कि ''यथा द्रष्टस्यार्थस्य चिरव्याप विषया प्रयुक्त: आप्त:''। स्वयं दृष्ट अर्थ की बोध कराने की इच्छा से प्रयुक्त व्यक्ति आप्त है। यह आप्त का लक्षण ऋषि, म्लेच्छ, आर्य आदि सभी में घटित होता है।

नव्य-नैयायिकों के अनुसार आसत्तिज्ञान, योग्यताज्ञान, आकांक्षाज्ञान तथा तात्पर्यज्ञान भी शाब्दबोध में कारण होते हैं। इन सभी का यथोचित विवेचन नव्यनैयायिकों ने यथास्थान किया है। यहां हमारे विवेचन का विषय योग्यताज्ञान है, जिसके विषय में विद्वानों में प्रचण्ड विवाद है। सभी शाब्दी-प्रमा के व्याख्याकार योग्यताज्ञान को शाब्दबोध की अनिवार्य शर्त नहीं मानते।

नैयायिकों के अनुसार 'पदार्थे तत्र तद्वत्ता' योग्यता है। अर्थात् ''एकपदार्थ निष्ठापरपदार्थात्यन्ताभावा प्रतियोगित्व'' योग्यता है। यही कारण है कि योग्यता ज्ञान रहने से ही ''जल से सींचता है'' इस वाक्य से बोध होता है और आग से सींचता है इस वाक्य से शाब्दबोध नहीं होता है। आग में सिंचन की क्षमता (सेचनकरणत्व) का अभाव होने से उसका प्रतियोगित्व है, अप्रतियोगित्व नहीं है। फलस्वरूप योग्यता का अभाव है। अत: उपर्युक्त वाक्य से शाब्दबोध नहीं होता है जबकि ''पयसा सिंचति''- जल से सींचता है, इस वाक्य से बोध होता है क्योंकि जल में सेचन की करणता विद्यमान होने से उसका अभाव नहीं है अत: वहां होने वाले अभाव का प्रतियोगी सेचनकरणत्व नहीं है। अत: उक्त वाक्य शाब्दबोध के योग्य है।

परन्तु इस विषय में अन्य शास्त्रकारों ने अनेक आपत्तियां उठाई हैं। उनका विचार आवश्यक है। इस विषय में दूसरे शास्त्रकारों की पहली आपत्ति यह है कि एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध यह शाब्दज्ञान के बाद ज्ञान होता है, शाब्दबोध के पूर्व में नहीं। एक पदार्थ के साथ दूसरे पदार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान ही शाब्दबोध या अन्वय-बोध कहलाता है। यह सम्बन्ध योग्यता के रूप में ही शाब्दबोध के पूर्व में ज्ञात हो जायेगा तो उसके बाद अन्वयबोध रूप शाब्दबोध उत्पन्न नहीं होगा। उदाहरण के लिए हम इस वाक्य को ले ''डॉ. मनमोहन सिंह भारत के प्रधान मंत्री हैं'' इस वाक्य को सुनने पर हमको इस वाक्य के प्रत्येक पदार्थ की उपस्थिति होती है। अलग-अलग पदों से हमें उनके अर्थ ज्ञात होते हैं। शाब्दबोध होने पर हमें डॉ. मनमोहन सिंह, भारत और

प्रधानमंत्री इन पदार्थों का सम्बंध ज्ञात होता है। वह प्रत्येक पदार्थ के बोध से बिल्कुल भिन्न बोध होता है। उसमें हमें प्रत्येक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध ज्ञात होता है। वह बोध पदार्थ-बोध से भिन्न प्रकार का है. उसमें हमें पूर्वज्ञात वस्तु से भिन्न संबन्ध रूप नवीन वस्तु का नवीन ज्ञान होता है, वही शाब्दबोध है। यदि पदार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान योग्यता-ज्ञान के रूप में हो जाय तो शाब्दबोध के अवसर पर किस नवीन वस्तु का बोध होगा। और ज्ञात वस्तु का ही बोध होने पर उसके करण को प्रमाण नहीं कहा जा सकेगा। इसीलिए शाब्दबोध का लक्षण करते हुए आचार्य जगदीश ने कहा है-

साकांक्ष शब्दैर्योबोधः तदर्थान्वयगोचरः
..........................न प्रत्यक्षं न चा नुमा।

ऐसी स्थिति योग्यता ज्ञान रूप पदार्थ-संसर्ग ज्ञान उसी स्वरूप के शाब्दज्ञान में कारण मानने पर स्व को ही स्व-कारण मानना पड़ेगा। इस प्रकार से आत्माश्रय दोष होगा।

दूसरी आपत्ति विरोधियों ने, विशेष रूप से वैयाकरणों ने, उठाई है। उनका कथन है कि बाधाभाव रूप योग्यताज्ञान के न रहने पर भी शाब्दबोध होता है। एक पदार्थ के दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध के बाधित होने पर भी शब्द से बोध होता है। जैसा कि *खण्डनखण्डखाद्य-कार* ने कहा है ''अत्यंता सदर्थेपिज्ञानं शब्दः करोत्येव'' अत्यन्त असद् अर्थ होने पर भी शब्द ज्ञान को उत्पन्न करता ही है। शशविषाण, आकाशकुसुम आदि शब्दों से बोध होता ही है। कोई भी इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि ''वह्निना सिंचति'' शब्द सुनने पर कोई भी बोध नहीं होता है। यदि कोई भी बोध न हो तो इस वाक्य के प्रयोगकर्त्ता पर क्यों लोग हंसते हैं, उसे क्यों मूर्ख समझते हैं? इसका मतलब यह है कि विरोधी ज्ञान होने पर भी शाब्दबोध होता है। इसलिए अनुमिति के समान बाधज्ञान शाब्दबोध में प्रतिबन्धक नहीं है। अतः बाधा भाव रूप योग्यता का ज्ञान शाब्दबोध का कारण नहीं है।

इस प्रकार ''एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृत शेखरः तथा अंगुल्यग्रे गजानां शतम्'' इत्यादि वाक्यों से शाब्दबोध होता ही है, यह बात दूसरी है कि यह शाब्दबोध यथार्थ है या अयथार्थ। यह शाब्दबोध यथार्थ नहीं है। परन्तु वह शाब्दबोध ही नहीं है ऐसा नहीं कह सकते।

इसी प्रकार बाधक प्रमा विरह रूप भी योग्यता शाब्दबोध का कारण नहीं है। शशविषाण और खपुष्प के वक्ता की श्रोताओं द्वारा हंसी उड़ाई जाती है। यदि इस वाक्य से किसी प्रकार का बोध ही न हो तो हंसी क्यों उड़ायी जाय? इसीलिए *परम लघुमंजूषा कार* का कथन है कि बौद्धार्थ ही सर्वत्र बोध का विषय होने उसका बाध नहीं होता है। ''अग्निना सिंचति'' इस वाक्य के प्रयोगकर्त्ता व्यक्ति का उपहास होता है। यदि इस वाक्य से बोध न हो तो वह उपहास नहीं होना चाहिये। अग्नि से कैसे सिंचाई हो सकती है? वाक्यार्थ बोध होने पर भी बौद्धार्थ विषय में प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि उसके विषय में अप्रामाण्य-ग्रह रहता है। इस प्रकार वैयाकरणों के अनुसार बौद्धार्थ ही शाब्दबोध का विषय होता है। इसलिए अलीक पदार्थ का भी बौद्धार्थ के रूप में शाब्दबोध में भान

होता है। वैयाकरणों को उसमें कोई आपत्ति नहीं है।

उसी प्रकार शंख पीत नहीं है यह ज्ञान होने पर भी पित्तदोष से शंखपीत है यह बुद्धि होती है। उसी प्रकार बाध-ज्ञान रहने पर भी शाब्दबुद्धि होती है। बाध ज्ञान शाब्दबोध में प्रतिबन्धक नहीं है। बाधज्ञान होने पर भी इतर सामग्री रहने पर शाब्दबोध होता ही है। परन्तु यह ज्ञान अप्रमा कहलाता है क्योंकि वह विसंवादिनी प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। जो ज्ञान दोष से उत्पन्न होता है वह प्रतिद्वन्द्वी ज्ञान से नष्ट नहीं होता है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि यदि योग्यताज्ञान को शाब्दबोध का कारण मानेंगे तो वाद-विवाद के प्रसंग में वादी वाक्य से प्रतिवादी को शाब्दबोध ही नहीं होगा क्योंकि प्रतिवादी को वादी के वाक्य में अयोग्यता का निश्चय है और अयोग्यता का निश्चय प्रतिबन्धक होता है। ऐसी स्थिति में वादी के वाक्य से बोध न होने पर उसका उत्तर देने की प्रवृत्ति ही प्रतिवादी को नहीं होगी। उदाहरण के लिए मीमांसक कहता है ''शब्दनित्य है''। नैयायिक को यह निश्चय है कि ''शब्द अनित्य है''। अतः नैयायिक को बाधज्ञान होने से वादी के वाक्य से शाब्दबोध ही नहीं होना चाहिये। पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। प्रतिवादी को शाब्दबोध होता है इसीलिए वह उसका निषेध करता है। इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जहां बाधज्ञान है वहां भी शाब्दबोध होता ही है। और बाधाभावोयोग्यता इस लक्षण के अनुसार वहां योग्यता नहीं है।

इसी प्रकार योग्यताज्ञान को शाब्दबोध का कारण मानने पर गाली सुनने पर भी श्रोता को क्रोध नहीं आना चाहिये। परन्तु यदि कोई किसी को गधा या बैल कहता है तो सुनने वाले उस व्यक्ति को जिसे गधा कहा गया है क्रोध उत्पन्न होता है जबकि सुनने वाला व्यक्ति यह जानता है कि वह गधा या बैल नहीं है। ऐसी स्थिति में मनुष्य में गधापन या बैलपन (वृषभत्व) बाधित होने से बाधाभाव नहीं है। अतः योग्यता ज्ञान न होने से उसे ''तुम गधे हो'' इस वाक्य से शाब्दबोध नहीं होना चाहिये। परन्तु यह सार्वजनीन अनुभव है कि उपर्युक्त वाक्य सुनकर श्रोता को बोध होकर तादृश बोध-मूलक प्रवृत्ति होती है। गाली सुनकर दुःख का अनुभव होता है। वह नहीं होना चाहिये क्योंकि वहां योग्यता ज्ञान रूप शाब्द सामग्री न होने से नैयायिक के अनुसार शाब्दबोध ही नहीं है।

विरोधियों का यह भी आक्षेप है कि तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध का कारण माना जाता है। तात्पर्य ज्ञान से ही योग्यताज्ञान का निर्वाह हो जाता है; तात्पर्य ज्ञान को स्वतन्त्र कारण मानने की आवश्यकता नहीं है। जैसे ''सैन्धवमानय'' इस वाक्य से भोजन प्रसंग से सैन्धव (लवण) में वक्ता के तात्पर्य का निर्णय होने से और उसका बाध न होने पर योग्यता ज्ञान के न होने पर भी तात्पर्य ज्ञान के द्वारा ही अबाधित रूप से सैन्धव लवण की उपस्थिति होकर शाब्दबोध होता है। अतः योग्यताज्ञान को स्वतन्त्र कारण मानने की आवश्यकता नहीं है।

यहां नव्य नैयायिकों का कथन है कि योग्यता का ज्ञान मात्र शाब्दबोध का कारण नहीं है अपितु योग्यता के अभाव का निश्चय शाब्दबोध में विरोधी है। ''अग्निना सिंचति'' इस वाक्य से शाब्दबोध इसलिए नहीं होता है कि श्रोता को अग्नि में सिंचन की कारणता के अभाव का निश्चय

है जो कि उस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध को रोकता है। यहां यह एक सामान्य नियम है कि लौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न न होने वाले तथा दोष-विशेष से उत्पन्न न होने वाले पदार्थ के ज्ञान को उसके अभाव का ज्ञान विरोधी होता है। इसी सामान्य नियम के आधार पर ''अग्निना सिंचति'' इस वाक्य से न होने वाले शाब्दबोध की व्यवस्था लगाई जा सकती है। उसके लिए योग्यता ज्ञान को कारण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस नियम के अतिरिक्त योग्यता ज्ञान को भी अलग कारण मानने में गौरव है।

इन सारे आक्षेपों का उत्तर - विरोधियों का पहला आक्षेप जो यह है कि शाब्दबोध अपूर्व होने से उसके लिए ''पदार्थे तत्र तद्वत्ता'' रूप योग्यता का ज्ञान कारण नहीं हो सकता। इस विषय में नैयायिकों का कथन है कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि योग्यताज्ञान सर्वदा निश्चय रूप में होना चाहिये। योग्यता के संशय होने पर भी शाब्दबोध होता है। योग्यता ज्ञान कहीं निश्चय के रूप में तो कहीं संशय रूप में शाब्दबोध का कारण होता है। उसी प्रकार प्रत्यक्ष योग्यता ज्ञान से भी शाब्दबोध होता है। जैसे ''यह घट है'' इस वाक्य से शाब्दबोध होता है। यहां घट में अस्तित्व का प्रत्यक्ष होने पर भी 'घटोऽस्ति' इस वाक्य से शाब्दबोध होता है। यहां पर कोई भी शक्ति शाब्दबोध को रोक नहीं सकती। यदि योग्यताज्ञान प्रत्यक्ष रूप है तो शाब्दबोध होने में कोई बाधा नहीं है। प्रत्यक्ष ज्ञात वस्तु का भी शाब्दबोध से भान होता है यह सार्वजनीन अनुभव है।

यहां यह कथन उचित नहीं होगा कि योग्यता ज्ञान संशय रूप में होने पर शाब्दबोध भी संशयात्मक होता है क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है। किसी वस्तु विशेष के अभाव के शाब्दबोध की सामग्री उस वस्तु-विशेष के शाब्दबोध में प्रतिबन्धक होती है। उसी प्रकार वस्तुविशेष के शाब्दबोध की सामग्री उसी वस्तु विशेष के अभाव के शाब्दबोध में प्रतिबन्धक होती है। इस प्रकार से परस्पर प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक भाव सर्वजन प्रसिद्ध है। यदि *रत्नकोषकार* के अनुसार संशयात्मक अनुमिति स्वीकार की जा सकती हो तो संशयात्मक शाब्दबोध स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। परन्तु यह सर्वमान्य नहीं है। जगदीश ने स्वयं कहा है कि योग्यता का संशय होने पर भी शाब्दबोध होता है ऐसा अनुभव है। तात्पर्य यह है कि सर्वदा योग्यताज्ञान और शाब्दबोध एक ही रूप में नहीं होते हैं। अत: योग्यताज्ञान और शाब्दबोध एक ही नहीं हैं।

दूसरी बात यह है कि ''पदार्थे तत्र तद्वत्ता'' यह योग्यता का लक्षण सर्वमान्य नहीं है। वर्धमान उपाध्याय ने ''पदार्थे तत्र तद्वत्ता'' को योग्यता नहीं माना है। उनके अनुसार ''इतर पदार्थ संसर्गे अपर पदार्थ निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व प्रमाविषयत्वाभाव'' योग्यता है। अत: योग्यता का लक्षण बाधाभाव या ''पदार्थे तत्र तद्वत्ता'' न मानने पर आत्माश्रय दोष नहीं है। (अन्वयबोध के लक्षण में अन्वय-बोध का प्रवेश नहीं है)।

ऊपर जो यह कहा गया कि अत्यन्त असदर्थ का भी शाब्दबोध होता है वह नैयायिकों को मान्य नहीं है। ''शशविषाण है'' या आकाशकुसुम है आदि वाक्यों से जो बोध होता है वह अत्यन्त असदर्थ का बोध नहीं है। ''शशविषाण'' इस वाक्य से शश के विषाण का या विषाण में शशीयत्व

का बोध होता है। ये दोनों भी असद् नहीं हैं। शश सद् है और विषाण भी सद् है। उसी प्रकार आकाश भी सद् है और कुसुम भी सद् है। अतः अत्यन्त अप्रसिद्ध अर्थ का बोध होता है। यह कथन समीचीन नहीं है। शशविषाण यह वाक्य अर्थपूर्ण है। परन्तु इस वाक्य से उत्पन्न बोध यथार्थ कोटि में नहीं आता है। यही कारण है कि आचार्य जगदीश ने कहा है कि यह वाक्य अयोग्य इसलिए है कि वह यथार्थ शाब्दबोध को उत्पन्न नहीं करता है।

विरोधियों का जो यह कथन है कि बाधज्ञान यदि प्रतिबन्धक है तो उस स्थिति में भी नाटक, सिनेमा, कविता, उपन्यास आदि से शाब्दबोध कैसे होता है। हम जानते हैं कि राम का अभिनय करने वाला नट, सीता का अभिनय करने वाली नटी या नट को सम्बोधित करता है कि ''हे सीते'' तब हम जानते हैं कि यह सीता नहीं है परन्तु 'हे सीते' कहने पर बाधज्ञान रहने पर भी सीता को सम्बोधित किया गया है ऐसा बोध होता है। अतः योग्यताज्ञान शाब्दबोध का आवश्यक तत्व नहीं है।

इस विषय में नैयायिकों की ओर से दो उत्तर दिये जाते हैं। पहला उत्तर यह है कि वहां जो बोध होता है वह आहार्य बोध होता है। बाधा होने पर भी इच्छावश होने वाले बोध को आहार्य कहते हैं। कविता, नाटक, उपन्यासादि से जो शाब्दबोध होता है वह आहार्य है अतः उसमें बाधाज्ञान विरोधी नहीं होता है। इसीलिए जगदीश तर्कालंकार ने कहा है कि यदि शाब्दबोध को आहार्य मानें तो निर्वन्हिर्वह्निभान पचन्नपचति'' इत्यादि भी वाक्य ही हैं अर्थात् इस प्रकार के वाक्य से भी शाब्दबोध होता है।

परन्तु नैयायिकों का बहुमत शाब्दबोध आदि को आहार्य नहीं मानता है। प्रत्यक्ष ही आहार्य होता है। शाब्दबोध, अनुमिति आदि आहार्य नहीं होते हैं। अतः बाधज्ञान के रहते होने वाला बोध शाब्दबोध नहीं है। काव्यादि से होने वाला बोध शाब्दबोध नहीं है। वह मानस-बोध (कल्पना) है। इस पर यह आक्षेप हो सकता है जो बोध शब्दों के द्वारा होता है उसे मानस-बोध कहना उचित नहीं है, यदि कविताऽदि से उत्पन्न बोध को मानस-बोध मानें तो सभी प्रकार के शाब्दबोध को भी मानस-बोध मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में कोई बोध शाब्दबोध नहीं होगा। फलस्वरूप शब्द पृथक् प्रमाण ही नहीं रहेगा।

इस विषय में नैयायिकों का कथन है कि बाध-ज्ञान होने पर भी काव्यादिस्थल में चमत्कार रूप इष्ट की साधनता ज्ञान से इच्छा के कारण, बाधक प्रमा के अभाव का ज्ञान आहार्य के रूप में उत्पन्न होकर चमत्कार के लिए कारणीभूत शाब्दबोध को आहार्य के रूप में उत्पन्न करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आहार्य योग्यता का ज्ञान आहार्य शाब्दबोध को उत्पन्न करता है। इस प्रकार वहां की आहार्य-योग्यता ज्ञान से आहार्य-शाब्दबोध होता है। तात्पर्य यह है कि बाधज्ञान होने पर भी आहार्य-योग्यताज्ञान उत्पन्न होकर आहार्य-शाब्दबोध को उत्पन्न करता है। इस प्रकार वहां भी योग्यताज्ञान कारण होता ही है।

जो लोग शाब्दबोध को आहार्य नहीं मानते हैं उनका कथन है कि केवल शब्द से उत्पन्न

होने के कारण कोई ज्ञान शाब्दबोध नहीं होता है, क्योंकि शब्द का प्रत्यक्ष या शब्द से होने वाली अनुमिति की शब्दजन्य होने पर भी शाब्दबोध नहीं है। शाब्दबोध पद यह एक पंकजपद के समान योगरूढ़ पद है। यद्यपि नाटकादि से उत्पन्न ज्ञान शाब्द है परन्तु वह शाब्दबोध नहीं है। वह मानस-बोध, या पदार्थोपस्थिति मात्र है। काव्यादि से उत्पन्न बोध मानस होने पर भी सभी शाब्दबोध मानस-बोध नहीं हैं। क्योंकि अन्य बोधों को मानस में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है। पदज्ञान की कार्यता के अवच्छेदक रूप में सिद्ध शाब्दत्व जाति को मानस में मानने में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि ''पदं श्रृणोमि'' इस अनुव्यवसाय के आधार पर श्रावणत्व जाति अतिरिक्त सिद्ध होती है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनके आधार पर शाब्द-ज्ञान प्रत्यक्ष (मानस) से भिन्न के रूप में सिद्ध होता है। यदि श्रावण और मानस बोध एक ही होते तो ''आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः'' इसके द्वारा उन्हें अलग कहने की क्या आवश्यकता थी? इसी प्रकार कमलेकमलोत्पत्तिः श्रूयते न च दृश्यते इत्यादि उदाहरण शाब्दबोध को मानस प्रत्यक्ष से भिन्न सिद्ध करते हैं।

''शशश्रृंगो नास्ति'' इस वाक्य से शश में श्रृंग का अभाव या श्रृंग में शशीयत्व का अभाव मालूम होता है। अभाव-बुद्धि में प्रतियोगिज्ञान कारण है यह बात सत्य है। परन्तु यहां अभाव का प्रतियोगी शश-श्रृंग नहीं है, अतः उक्त बोध असद् विषयक नहीं है। अभाव का प्रतियोगी श्रृंग या शशीयत्व है जो दोनों भी सत् पदार्थ हैं।

सोन्दडोपाध्याय के मत में व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव स्वीकार किया है। अतः शशश्रृंगो नास्ति कहने पर शशीयत्वेन श्रृंगाभाव प्रतीत होता है। शशीयत्व यह श्रृंग में रहने वाली प्रतियोगिता का व्यधिकरण धर्म हैं। जैसे ''घटत्वेन पटोनास्ति'' यहां घटत्व पट में रहने वाली अभाव की प्रतियोगिता का व्यधिकरण धर्म है।

गाली आदि में जो शाब्दबोध होता है वह लाक्षणिक बोध होता है। किसी को गधा कहने पर गधा पद की लक्षणा गधे के सादृश्य में होती है तथा मुझे गधे के समान कहा गया है ऐसा बोध होकर उसे क्रोध उत्पन्न होता है। गधे का मूर्खत्वेन सादृश्य मनुष्य में बाधित नहीं है। इसी प्रकार चन्द्रमुखी इत्यादि वाक्य से भी लक्षणयाबोध होता है। अथवा वहां पदार्थों की उपस्थिति मात्र होती है, शाब्दबोध नहीं होता हैं।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि योग्यताज्ञान के विषय में स्वीकृत नैयायिक सिद्धान्त पूर्ण तथा समीचीन है।



गांधी : आधुनिक या उत्तर-आधुनिक

डॉ. आलोक टण्डन

महान वैज्ञानिक आइन्स्टीन का यह कथन कि आने वाली पीढ़ी के लिए यह विश्वास करना कठिन होगा कि गांधी ऐसा व्यक्ति भी कभी जन्मा था। आज सच जान पड़ता है क्योंकि गांधी को समझने के जितने वैचारिक सांचे आज तक सामने आये हैं, गांधी उनसे परे जान पड़ते हैं। फिर चाहे उन्हें हिन्दू परम्परा से जोड़कर देखने वाले ए.एल. बाशम[1] हों, भारतीय परम्परा से जोड़कर देखने वाले ए.के. सरन[2] हों, पुरुषार्थ-चतुष्टय से जोड़कर देखने वाले सन्थोनी जे. परेल[3] हों, आलोचक-परम्परावादी मानने वाले आशीश नन्दी[4] हों या राष्ट्रवादी विमर्श के सन्दर्भ में देखने वाले पार्थ चटर्जी[5] हों। कहने का तात्पर्य यह है कि कई दृष्टियों- राष्ट्रवादी, मार्क्सवादी, प्राच्यवादी, उत्तर-औपनिवेशिक, सबाल्टर्न आदि से गांधी को समझने का प्रयास किया गया है। किन्तु कोई भी दृष्टि उनके साथ पूर्ण न्याय करती नहीं प्रतीत होती। ऐसा ही एक सन्दर्भ आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता का भी है। गांधी द्वारा अपनी पुस्तक *'हिन्द स्वराज'* में पश्चिमी सभ्यता की व्यापक आलोचना से हम सभी परिचित हैं। सवाल उठता है कि क्या इस आलोचना को हम आधुनिकता-विरोध की संज्ञा दे सकते हैं? और यदि यह आधुनिकता का विरोध है तो समर्थन किसका है? क्या यह पूर्व-आधुनिकता की वकालत है या फिर उत्तर-आधुनिकता की ओर संकेत है? आज यह प्रश्न उठना इसलिए भी प्रासंगिक जान पड़ता है क्योंकि इससे न केवल गांधी को समझने में मदद मिलेगी वरन् पश्चिम में आधुनिकता का जो रथ अपनी विसंगतियों के कीचड़ में फंस गया है उसे निकालने के लिए भी एक दृष्टि मिल सकती है। यह दृष्टि भारत ऐसे देश के वासियों के बहुत काम की हो सकती है जिन्होंने अभी आधुनिकता की ओर कुछ ही कदम आगे बढ़ाये हैं।

---

1. ए.एल. बाशम, 'ट्रेडीशनल इन्फ्लुएन्सेज आफ द थाट आफ महात्मा गांधी' इन *एशेज आन गान्धियन पालिटिक्स ऑफ रौलट सत्याग्रह*, (सम्पादक), रवीन्द्र कुमार, आक्सफोर्ड, क्लेरेनडन प्रेस, 1971
2. ए.के. सरन, *गान्धी एण्ड कन्सेप्ट आफ पालिटिक्स : टुवर्ड्स ए नार्मन सिविलाइजेशन* गांधी मार्ग, 11 फरवरी 1980, पृष्ठ 675-726
3. एन्थोनी जे. परेल, *गान्धीस फिलासफी ऐन्ड क्वेस्ट फार हारमोनी*, कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, 2006.
4. आशीष नन्दी, *द इन्टीमेट एनिमी : लास ऐण्ड रिकवरी आफ सेल्फ अन्डर कोलोनियलिज्म*, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1980
5. पार्थ चटर्जी, *नेशनलिस्ट थाट ऐन्ड द कोलोनियल वर्ल्ड : ए डेरिवेटिव डिस्कोर्स*, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1986.

इससे पहले कि हम गांधी के विचारों को आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता के सन्दर्भ में परखें, हमारे लिये मोटे तौर पर यह समझना भी जरूरी है कि आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता से क्या तात्पर्य है और इनके बीच क्या अन्तर है। विस्तार से इसकी चर्चा करना यहां न सम्भव है और न अपेक्षित, फिर भी दार्शनिक विमर्श से निकल कर आई उन विशेषताओं को रेखांकित करना जरूरी है जिनके सहारे हम आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता को परिभाषित कर सकते हैं और उसके अन्तर को समझ सकते हैं।

आधुनिकता की कई परिभाषायें हैं। यहां तक कि आज हम आधुनिकता के स्थान पर अलग-अलग सांस्कृतिक सन्दर्भों में विकसित आधुनिकताओं की चर्चा करने लगे हैं। आधुनिकीकरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया विभिन्न समाजों में आज भी विभिन्न चरणों में है और अपनी-अपनी विशिष्टतायें समेटे हुये है। इस दृष्टि से पश्चिम के औद्योगिक समाजों और पूर्व के औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के लिए संघर्षरत या मुक्त हुए समाजों में स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। पश्चिम में जहां आधुनिकता को पूर्व-आधुनिक संरचनाओं एवं मूल्यों से टक्कर लेनी पड़ी वहीं पूर्व में आधुनिकता ही आधुनिकता के विरोध में खड़ी पाई गई है। आज जब पश्चिमी समाज आधुनिकता से उत्तर-आधुनिकता की ओर प्रयाण करता प्रतीत हो रहा है, भारत ऐसे विकासशील समाज एक साथ पूर्व-आधुनिक, आधुनिक और उत्तर-आधुनिक स्थितियों में जीते दिखाई दे रहे हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें अनेक द्वन्द्वों का सामना करना पड़ रहा है। साथ ही आधुनिकता से उत्पन्न विसंगतियां भी हैं जिनका कोई ठोस हल आधुनिक हो चुके समाज भी नहीं खोज सके हैं। बौद्धिक विभ्रम के इस कुहासे के आर-पार स्पष्ट देखने के लिए आधुनिकता के मूलभूत तत्वों/सरोकारों/मूल्यों की पहचान जरूरी है।

चूंकि आधुनिकता की कोई अंतिम, सर्वमान्य परिभाषा नहीं है इसलिए इसके मूलभूत तत्वों की सम्पूर्ण सूची बना सकना भी सम्भव नहीं है। फिर भी पश्चिम और पूर्व के सामाजिक अनुभवों के आधार पर हम निम्न विशेषताओं को रेखांकित कर सकते हैं:-

1. तर्कबुद्धि
2. विज्ञान
3. प्रगति की अवधारणा
4. मानवीय कर्तव्य का महत्व
5. आत्म प्रश्नेयता (reflexivity)
6. न्याय, स्वाधीनता और मुक्ति
7. निजी और सार्वजनिक का भेद
8. धर्म-निरपेक्षता
9. राष्ट्र-राज्य की अवधारणा

आधुनिकता के केन्द्र में तर्कबुद्धि (reason) है। यह आलोचनात्मक तर्कबुद्धि ही है जिसके चलते आधुनिकता में आत्म-प्रश्नेयता का गुण समाहित है। तर्कबुद्धि की इस धारणा का मानववाद और कर्ता (Agent) की अवधारणा के साथ गहरा रिश्ता है। आधुनिकता ने व्यक्तीयन (individuation) की प्रक्रिया को गति प्रदान की जिसका परिणाम हुआ सामुदायिक जिन्दगी से

आजाद होकर व्यक्ति का एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में उभरना। आधुनिक मनुष्य अपनी नियति का स्वयं निर्माता बन गया।

शुरुआत से ही आधुनिकता का एक अंधेरा पक्ष भी रहा है। ज्यों-ज्यों आधुनिकता की विसंगतियां उजागर होती गई यह एहसास तीव्र होता गया कि आधुनिकता की महान् योजना में कुछ गम्भीर खामियां हैं। किन्तु तकनीक और माध्यमों के नये वातावरण के बिना उत्तर-आधुनिकता की ओर प्रस्थान सम्भव नहीं था। वस्तुत: उत्तर-आधुनिक ज्ञान की ऐसी अवस्था है जो उच्च विकसित समाजों में पिछले दशकों में बनी है। फांसुआ ल्योतार इसे ही 'पोस्ट-माडर्न' कहते हैं। ल्योतार के अतिरिक्त फूको, जेमेसन, ब्रोदिला, देरिदा आदि इसके प्रमुख विचारक हैं।

आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता में मूल भेद यह है कि आधुनिकता एक महाआख्यान को ठोस और अंतत: इतिहास के दिशाहीन बहाव पर हावी करने की कोशिश करती है। मानवतावाद, मार्क्सवाद, उदारवाद ऐसे ही महाआख्यान हैं। आधुनिकता विभेदों का सामना करने की क्षमता नहीं रखती, वह विभेदों के स्थान पर एकरूपता पर बल देती है जबकि उत्तर-आधुनिकता केन्द्रीय राजनैतिक वर्चस्व के विपरीत स्थानीयता पर बल देती है। जिन लोकप्रिय, क्षेत्रीय संस्कृतियों से आधुनिकता अपना रास्ता तोड़ चुकी है, उत्तर-आधुनिकता उनको समर्थन देती है। अत: उन तमाम महान् तथा सार्वभौमिक महावृत्तान्तों के विखन्डन की आवश्यकता है जिन्हें आधुनिकता ने सुदृढ़ किया है।

ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में तो उत्तर-आधुनिकता ने उपद्रव-सा खड़ा कर दिया है। इसके अनुसार यथार्थ का कोई निरपेक्ष, सार्वभौमिक ज्ञान सम्भव नहीं है क्योंकि यथार्थ स्वयं में विषमांगी, खंडित और बहुवचनीय है। इसलिए सार्वभौमिकता, वैषयिकता, तर्कयुक्तता और सत्य की खोज व्यर्थ हैं। ये विभिन्न वर्ग, लिंग, जाति-आधारित समूहों के वर्चस्व को वैधता प्रदान करने के प्रयत्न मात्र हैं। इस दृष्टि से ज्ञान ही नहीं, ज्ञान-अज्ञान के निर्धारण की कसौटी की उपयुक्तता भी इतिहास-सापेक्ष है। अत: वैज्ञानिक विधि न तो निरपेक्ष है और न उसके पास सारी समस्याओं के उत्तर ही हैं। वैज्ञानिक तर्क प्रणाली एकमात्र तर्क प्रणाली नहीं है, अन्य तर्क प्रणालियों से इन्कार नहीं किया जा सकता।

संक्षेप में उत्तर-आधुनिकतावाद को उसकी तीन मुख्य स्थापनाओं के अन्तर्गत समझा जा सकता है।

1. मनुष्य की मृत्यु 2. इतिहास का अंत 3. तत्त्वशास्त्र की समाप्ति

उत्तर-आधुनिकता न केवल मनुष्य के केन्द्रीय स्थान को नकारती है अपितु इस विचार को भी रद्द करती है कि ज्ञान और व्यवहार की परख का पैमाना मानव-चेतना है। जिन तत्वों को मानव-अनुभव के लिए अनिवार्य समझा गया है वे जीवन और समाज के स्वाभाविक तथ्य नहीं, सामाजिक संरचनायें हैं जो निरन्तर बदलती रहती हैं। इस कारण मानव-प्रकृति को भी विखंडन की प्रक्रिया से गुजरना अनिवार्य हो जाता है। परिणाम आत्म के विघटन के रूप में सामने आता है और

वह केन्द्रहीन होकर चिन्हों और आकृतियों में अपनी पहचान खो देता है। जां लांकां के अनुसार, 'चिन्तन और डिसकोर्स के मानसिक शीशाघर के पीछे कोई असली आत्मा नहीं।'

उत्तर-आधुनिक दृष्टि में इतिहास एक नहीं, कई इतिहास हैं। यह दृष्टि भिन्न-भिन्न लघु इतिहासों को वैधता प्रदान करती है। इतिहास के अंत से तात्पर्य मात्र इतना है कि मानव-इतिहास का ऐसा कोई मोड़ नहीं जब उसकी समाप्ति पर सभी विभेद और विभिन्नतायें समाप्त हो जायेंगी और उनमें ऐक्य, साम्य और सन्तुलन कायम हो जायेगा।

यह प्रश्न बार-बार उठाया जाता है कि उत्तर-आधुनिकता क्या आधुनिकता के अंधेरे पक्षों की आलोचना मात्र है या उसके पास कोई सार्थक विकल्प भी है? यदि आत्म-निर्णय से सम्पन्न स्व की व्याख्या ही भ्रामक है तो किस आधार पर नैतिक और राजनैतिक विमर्श सम्भव है? हमारे विचार से आधुनिकता जिस आत्म-परीक्षण के दौर से गुजर रही है, उसी का परिणाम है उत्तर-आधुनिकता। अत: आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता के बीच आत्यंतिक भेद करना उचित नहीं जान पड़ता। उत्तर-आधुनिकता, आधुनिकता का अंत नहीं, उसका पुनर्लेखन ही है।

'*हिन्द स्वराज*' गांधी के विचारों की प्रतिनिधि पुस्तक है जिसमें उन्होंने पाश्चात्य यूरोपीय सभ्यता की व्यापक समीक्षा की है। अत: आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता से उनके विचारों की संगति जोड़ने के लिए वह एक अनिवार्य पुस्तक है। देखना यह है कि आधुनिकता के जिस संकट की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं, क्या गांधी की आलोचना का निशाना भी वही है? आधुनिकता के आरम्भ से ही वे उसके आलोचक भी रहे हैं। प्रश्न यह है कि गांधी की आलोचना उस आलोचना से कितना साम्य रखती है? सवाल यह भी है कि गांधी की आलोचना और विकल्प क्या वैकल्पिक आधुनिकता या उत्तर-आधुनिकता के दायरे में बांधे जा सकते हैं?

सबसे पहले हम '*हिन्द स्वराज*'[1] की सभ्यता-समीक्षा को लें। लेखक कतिपय योरोपीय विचारकों के इस मूल्यांकन को स्वीकार करता है कि आधुनिक सभ्यता एक तरह का रोग है जिसकी पहचान यह है कि यह बाहरी खोजों और शरीर के सुख में ही अपनी सार्थकता और पुरुषार्थ मानती है। उसके अनुसार यह सभ्यता कल्याणकारी नहीं है क्योंकि इसमें नीति के नाम पर अनीति सिखाई जाती है जबकि धर्म-नीति प्रधान सभ्यता ही सच्ची सभ्यता है। सभ्यता से उसका तात्पर्य वह आचरण है जिसमें आदमी अपना फर्ज अदा करता है। फर्ज अदा करने का मतलब है नीति का पालन करना। नीति का पालन करने का मतलब है मन और इन्द्रियों को वश में रखना। *हिन्द स्वराज* के लेखक के अनुसार भारतीय सभ्यता का झुकाव नीति को मजबूत करने की ओर रहा है और पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से उसके ऐंद्रिक-भोग मूलक सभ्यता के वात्याचक्र में फंस जाने का खतरा है। यहां पर दो बातें साफ दिखाई देती हैं। गांधी उसी महत्वपूर्ण परम्परा की एक कड़ी के रूप में सामने आते हैं जो आधुनिक विज्ञान और आधुनिकता के आरम्भ के समय (17वीं शताब्दी) से ही उसकी आलोचना उसके द्वारा प्रदत्त जीवन-शैली को

1. मो.क. गान्धी. *हिन्द स्वराज*, (अनु.) अमृत लाल ठाकोर दास नानावती, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1999

नैतिक-सांस्कृतिक आधार पर प्रश्नांकित करके करती आई है। इन प्रतिरोधी तत्वों के बारे में क्रिस्टफेर हिल ने अपनी पुस्तक 'The World Turned Upside Down' में विस्तार से चर्चा की है। कतिपय ऐतिहासिक कारणों से आधुनिकता का विकास पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ ही हुआ जिस कारण पूंजीवादी आधुनिकता का स्वरूप तो सामने आया किन्तु आधुनिकता के अन्य संस्करणों की सम्भावना दब गई। दूसरी बात यह है कि वेद-वेदान्त की दुहाई या किसी गौरवशाली अतीत के पुनरावाहन को वे अपनी आलोचना का आधार नहीं बनाते। उनके अनुसार आत्म-संयम की संस्कृति पर आधारित जीवन-प्रणाली इन्द्रियभोगमूलक सभ्यता पर आधारित जीवन-संरचना से श्रेष्ठ है। भारतीय संस्कृति की ताकत सत्याग्रह या आत्मबल या करुणा का बल है। इसी 'सांस्कृतिक आत्मविश्वास' के आधार पर वे न केवल उपनिवेशवाद अपितु आधुनिकता के पश्चिमी माडल का विरोध करते हैं। यहां वे अन्य भारतीय चिन्तकों से अलग खड़े दिखाई देते हैं। क्योंकि अंग्रेजों के न रहने पर भी अंग्रेजी ढंग का शासन उन्हें स्वीकार नहीं था। यहां यह प्रश्न उठाना समीचीन होगा कि जिन नैतिक-सांस्कृतिक मूल्यों को अपनी आलोचना का आधार गांधी ने बनाया उनकी आधुनिकता के साथ कितनी संगति है? कहीं वे पूर्व-आधुनिक या उत्तर-आधुनिक तो नहीं हैं? इसके लिए हमें आधुनिकता के अन्य आयामों पर गांधी-विचार की समीक्षा करनी होगी।

गांधी द्वारा यंत्रों के बारे में की गई समालोचना से कई बार यह भ्रम पैदा हो जाता है कि वे यंत्र मात्र के ही विरोधी हैं। किन्तु यह सच नहीं है, उनका विरोध यंत्रों से नहीं, उनके दुरुपयोग से है। वे उनका उपयोग समस्त मानव-जाति के समय और श्रम की बचत के लिए करना चाहते थे, न कि किसी खास वर्ग के धन-लाभ के लिए। चरखा भी एक यंत्र ही है और उन्होंने सिंगर मशीन का स्वागत ही किया था। अत: उन्हें विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विरोधी नहीं माना जा सकता। अपने उपनिवेश-विरोधी आन्दोलन को सफल बनाने के लिए उन्होंने प्रेस, टेलीफोन, टेलिग्राम, रेलगाड़ी, जहाज आदि आधुनिक साधनों का प्रयोग किया। उन्होंने स्वयं कहा है कि मेरा उद्‌देश्य तमाम यंत्रों का नाश करने का नहीं है, बल्कि उनकी हद बांधने का है। दरअसल वे एक वैकल्पिक प्रौद्योगिकी के हिमायती थे जिसमें प्रौद्योगिकी का चयन एक नैतिक सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है। इसलिए जहां उन्होंने आधुनिक उद्योगवाद से उत्पन्न अनेकों विकृतियों की आलोचना की वहीं कुटीर उद्योग-धन्धों पर आधारित व्यवस्था की वकालत भी की। वे आधुनिक उद्योगों में व्याप्त मनुष्य के शोषण और अमानवीयकरण से परिचित थे जिसके समाधान हेतु उन्होंने ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त दिया। उसकी व्यावहारिक असफलता से वे विज्ञान-जनित आधुनिकता के विरोधी नहीं हो जाते।

आधुनिक सभ्यता के आधारों को सड़ा हुआ कहकर आलोचना करने के बावजूद गांधी उसे पूरी तरह निरस्त नहीं कर देते। वे उसकी तीन महान् उपलब्धियों की प्रशंसा करते हैं।[1] पहली

---

1. भीखू पारिख, *गान्धीज पोलिटिकल फिलासफी : ए क्रिटिकल इक्जामिनेशन*, मैकमिलन प्रेस, पृष्ठ 31.

है अन्वेषण की वैज्ञानिक स्पिरिट, दूसरी है प्रकृति की गहरी समझ और उस पर मनुष्य का अधिक नियन्त्रण तथा तीसरी है जीवन के संगठनात्मक पक्ष का विकास। किन्तु उनकी दृष्टि में मनुष्य की समुचित और सन्तुलित अवधारणा के अभाव में ये तीनों उपलब्धियां मनुष्य का ज्यादा भला नहीं कर पा रहीं। तर्कबुद्धि को महत्व देना उचित है किन्तु नैतिकता और राजनीति और धार्मिक मसलों में तर्क की सीमा भी स्वीकारनी होगी। प्राकृतिक रहस्यों के ज्ञान से मनुष्य के स्वास्थ्य, आयु में बढ़ोत्तरी तो हुयी किन्तु संयम की कमी और संसाधनों का क्षरण, हिंसा की बढ़ोत्तरी के रूप में सामने आया। इसी तरह संगठनात्मक ढांचे को अधिकाधिक महत्व देने से उसमें नैतिक प्रतिरोध की सम्भावनायें नष्ट हो जाती हैं। गांधी के अनुसार आधुनिक सभ्यता की लाभकारी सम्भवनायें भी आधारभूत गलत संरचनात्मक ढांचे के कारण फलीभूत नहीं हो पातीं। अन्य भारतीय चिन्तकों से गांधी इस नाते भिन्न हैं कि वे नहीं मानते कि आधुनिक सभ्यता की उपलब्धियों को उनके पीछे छिपे वैचारिक ढांचे से अलग करके भारतीय सभ्यता के साथ समन्वित किया जा सकता है। एक भौतिकवादी सभ्यता द्वारा अन्वेषित मशीन सांस्कृतिक दृष्टि से निरपेक्ष नहीं कही जा सकती। भिन्न वैचारिक आधारों पर खड़ी सभ्यता को अपनी जरूरतों के हिसाब से वैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग भिन्न प्रकार से करना होगा। यही बात आधुनिक सभ्यता की अन्य उपलब्धियों पर भी लागू होती है। गांधी के यहां चयन का प्रश्न परम्परा बनाम आधुनिकता के बीच नहीं है अपितु दोनों के पुनर्सृजन का है। गांधी इस अर्थ से आधुनिक हैं कि वे परम्परा और आधुनिकता दोनों को समालोचना का विषय मानते हैं, किसी को यूं ही स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। आत्म-प्रश्नेयता, हम ऊपर बता आये हैं कि आधुनिकता के मूलभूत सरोकारों में से एक है।

आधुनिक सभ्यता की गांधी द्वारा की गई आलोचना यद्यपि कई मानों में रूसो, रस्किन, टाल्सटाय, नीत्शे और मार्क्स द्वारा की गई आलोचना से साम्य रखती है किन्तु दो कारणों [1] से यह भिन्न और मौलिक भी है। पहला, एक उपनिवेश के सदस्य होने के कारण औपनिवेशिक दासता, दमन और शोषण से उनका सीधा परिचय था जिस कारण पूंजीवादी आधुनिकता की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति या जिसे हम आधुनिकता का काला पक्ष कहें, उनके सामने अधिक स्पष्ट था। दूसरा, एक प्राचीन और समृद्ध सभ्यता के उत्तराधिकारी होने के कारण वे आधुनिकता की अपनी समालोचना को एक बौद्धिक-नैतिक परिप्रेक्ष्य प्रदान कर सके।

चूंकि गांधी एक पराधीन और पारम्परिक समाज की ओर से 'आधुनिक पश्चिम' के साथ संवाद कर रहे थे इसलिए औपनिवेशिक आधुनिकता की उनकी आलोचना और विकल्प उलझन भरा हो यह समझ में आता है। गांधी के राजनैतिक दर्शन में परम्परा और आधुनिकता के अनेक पहलू इस तरह गुंथे हुए हैं कि उनको अलगाया नहीं जा सकता। वे आत्म-निर्भर ग्राम-समाजों के पुराने आदर्श और राष्ट्रीय लक्ष्यों के बीच तालमेल बिठाने का प्रयत्न करते हैं। इसे ही राबर्ट यंग जैसे विद्वान् प्रति-आधुनिकता (counter modernity) की संज्ञा देते हैं। किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं

---

1. भीखू पारिख, *गान्धीज पोलिटिकल फिलासफी : ए क्रिटिकल इक्जामिनेशन*, मैकमिलन प्रेस, पृष्ठ 33

जान पड़ता क्योंकि गांधी की आधुनिकता-विरोधी कार्यप्रणाली भी अनेक रूपों में आधुनिकता के स्रोतों पर भी निर्भर थी। अत: यदि हम औपनिवेशिक आधुनिकता के विरोध और विकल्प के प्रयत्नों को 'प्रति-आधुनिकता' न कहें तो हमें आधुनिकता की एक अलग अवधारणा स्वीकार करनी होगी-साम्राज्यवाद विरोधी आधुनिकता। गांधी इसी के प्रतिनिधि के रूप में हमारे सामने आते हैं।

लेकिन गांधी अपने को केवल साम्राज्यवाद- विरोध और मानसिक विउपनिवेशीकरण तक ही सीमित नहीं रखते। उनकी चुनौती केवल स्वदेशी नहीं, स्वराज्य है। उन्होंने स्वराज्य में 'अन्य' के लिए भी स्थान बनाया और इस तरह कोलोनाइजर और कोलोनाइज्ड दोनों की स्वाधीनता को स्वीकृति प्रदान की। वस्तुत: *हिन्द-स्वराज* आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की आलोचना मात्र नहीं है अपितु वह एक वैकल्पिक मूल्य-व्यवस्था पर आधारित वैकल्पिक स्थिति की रचना का प्रयास भी है। यहां यह प्रश्न उठाना समीचीन होगा कि वह मूल्य दृष्टि/व्यवस्था क्या पूर्व-आधुनिक है या आधुनिकता का नया संस्करण या उत्तर-आधुनिक?

उत्तर-आधुनिक विचारकों की दृष्टि में सत्य खोज का विषय नहीं बल्कि लगातार चलने वाली प्रक्रिया से सृजित होकर सामने आता है। इसलिए सार्वभौमिक, निरपेक्ष सत्य जैसा कुछ भी नहीं है। ज्ञान और सत्य की सापेक्षता असंदिग्ध है। गांधी भी जब सत्य के प्रति प्रायोगिक खुलेपन, उसकी बहुलता, गतिशीलता, स्थानीयता की बात करते हैं और सभी विचारधाराओं की सापेक्षता के संदर्भ में दूसरे की वैचारिक दृष्टि के प्रति सहनशीलता की वकालत करते हैं तो वे उत्तर-आधुनिक विचारकों के करीब जान पड़ते हैं। किन्तु यह समानता सतही है क्योंकि गांधी का अंतिम उद्देश्य निरपेक्ष सत्य-ईश्वर को प्राप्त करना है। सापेक्ष सत्य उसी निरपेक्षता को पाने का मार्ग प्रशस्त करता है। सत्य के अलावा गांधी-विचार में अहिंसा भी एक महाआख्यान की तरह है जो अहं को शून्य किये बिना सम्भव नहीं। अहं-शून्यता से सम्पूर्ण जीव-जगत् के प्रति अद्वैत-भाव का उद्भव होता है। इसलिए गांधी मनुष्य के बीच सारभूत एकता में विश्वास करते हैं, जिस कारण स्वयं की मुक्ति को सभी की मुक्ति के साथ जोड़कर देखते हैं। उत्तर-आधुनिक चिन्तन में इसका पूर्ण अभाव है।

उत्तर-आधुनिक चिन्तन में व्यक्ति का निर्माण एक सामाजिक प्रक्रिया है। स्व-अस्मिता कोई अऐतिहासिक या लोकोत्तर चीज नहीं है, यह पूरी तरह सामाजिक और सांस्कृतिक है। 'स्व' का निर्माण 'महत्वपूर्ण अन्यों', के साथ अन्त:क्रिया के दौरान होता है जो सांस्कृतिक मूल्यों, प्रतीकों, अर्थों को विषयी (subject) तक पहुंचाने के माध्यम की भूमिका निभाते हैं। जन्म से मृत्यु तक एक ही पहचान अनुभव करने के पीछे वह आख्यान है जो हम स्वयं के बारे में गढ़ते हैं। चूंकि अस्मिता शक्ति-संरचनाओं का उत्पाद है इसलिए उत्तर-आधुनिक चिन्तक शोषण और दमन के खिलाफ परिधि पर चलने वाले सबाल्टर्न आन्दोलनों का समर्थन करते हैं।

गांधी भी शोषण के विरोध में निम्न वर्गों के विभिन्न आन्दोलनों का समर्थन करते हैं फिर चाहे वे अछूतों के मंदिर-प्रवेश के बारे में हो या अहमदाबाद मिल मजदूरों का आन्दोलन हो या फिर नमक-सत्याग्रह हो। इसी तरह महिला-मुक्ति आन्दोलन वे सन्दर्भ में भी गांधी उत्तर-आधुनिकता

के करीब आते दिखाई देते हैं और प्राचीन नियम-कानूनों का विरोध करते हैं। महत्वपूर्ण समानता यह भी है कि गांधी किसी धार्मिक पुस्तक को अतिपवित्र, अनालोचनीय नहीं मानते, उसे सत्य की खोज में एक जिज्ञासु की भांति प्रयोग करते हैं और अपने विवेक से परम्परा की आलोचना करते हैं। इस तरह उनके लिए परम्परा एक गतिशील अवधारणा है, जो समय के साथ बदलती रहती है। स्थानीय परम्पराओं, अस्मिताओं, सापेक्ष सत्यों का महत्व वे स्वीकार करते हैं। लेकिन गांधी का स्वराज्य और विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त उत्तर-आधुनिकता के विखण्डन के सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। जहां उत्तर-आधुनिकता सिद्धान्तकार भिन्नता पर जोर देते हैं वहीं गांधी भिन्नता के पीछे छिपे एकत्व को महत्व प्रदान करते हैं। उनके लिए एकता प्राकृतिक है और भिन्नता बनाई हुई है। गांधी की दृष्टि में व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति एक सचेतन प्राणी है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बगैर किसी सभ्य समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। व्यक्ति की उत्तर-आधुनिक धारणा के विपरीत गांधी के लिए मनुष्य अपनी अन्तरात्मा की आवाज सुन सकता है, उसके अनुसार निर्णय ले सकता है और अपनी नियति का निर्माण स्वयं कर सकता है। अत: हम कह सकते हैं कि गांधी-विचार में कहीं भी मनुष्य की मृत्यु या तत्वशास्त्र की समाप्ति की बात नहीं है जैसा कि उत्तर-आधुनिक सिद्धान्त की मान्यता है।

उत्तर-आधुनिक चिन्तक ज्ञानोदय के तर्कबुद्धिवाद के खिलाफ हैं। उनका कहना है कि ज्ञानोदय ने तर्कबुद्धि को सर्वोपरि मानकर जिस समाज का निर्माण किया है वो अपने स्वभाव में यांत्रिक (instrumental) है। इस यांत्रिक तर्क से तार्किक साम्राज्यवाद का उदय हुआ है जो बहुत सारी समस्याओं की जड़ में है। गांधी भी तर्कबुद्धि के वर्चस्व के विरुद्ध हैं। वे मानते हैं कि अनुभव, भावनायें और अन्त:प्रज्ञा भी तर्क के समान ही महत्वपूर्ण हैं। वे आधुनिकता के आदर्शों, विज्ञान, तर्कबुद्धि और वस्तुनिष्ठता के वर्चस्व का प्रतिरोध करते हैं। उन्हीं शब्दों में-

"I have come to the fundamental conclusion that if you want something really important to be done you must not merely satisfy the reason, you must move the heart also. The appeal to reason is more to the head."[1]

इस तरह गांधी तर्कबुद्धि को पूरी तरह निरस्त नहीं करते बल्कि उसकी सीमा दर्शाते हैं। उनकी दृष्टि से दिल और दिमाग के बीच अभेद्य दीवार नहीं बनाई जा सकती। तार्किकता, नैतिकता और आध्यात्मिकता एक दूसरे में घुले-मिले रहते हैं। केवल तर्कबुद्धि सही/गलत का निर्धारण करने के लिए नाकाफी है। सत्याग्रह का उनका दर्शन इस बात का ज्वलंत प्रमाण है। इसी प्रकार वे ईश्वर के प्रति विश्वास को भी तर्कबुद्धि से परे की चीज मानते हैं। उनकी दृष्टि में विश्वास तर्क से ज्यादा महत्वपूर्ण है। इसके जरिये मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर सकता है, किन्तु केवल तर्क से उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। अत: सत्य का निर्णय केवल तर्क द्वारा सम्भव नहीं।

---

1. *वही*, पृष्ठ 146

लेकिन गांधी और उत्तर-आधुनिक चिन्तकों द्वारा तर्क की खिलाफत के पीछे एक-से कारण नहीं हैं। गांधी तर्कबुद्धि को अत्यधिक महत्व देने के खिलाफ हैं। दरअसल उनका उद्देश्य एक ऐसी विचार-प्रणाली विकसित करना है जिसमें तर्क और भावना के बीच सन्तुलन हो, दोनों को स्थान मिले और उनका अपना-अपना महत्व हो। ऐसा नहीं है कि तर्कबुद्धि के पास देने को कुछ भी नहीं है। गांधी तार्किकता का उपयोग अतार्किक परम्पराओं- जैसे छुआदूत या बाल विवाह के विरोध में करते हैं। वे ये तो मानते हैं कि तर्क सत्य का एकमात्र निर्धारक नहीं हो सकता किन्तु साथ ही वे तर्क का न्यूनतम मानदण्ड नैतिकता के लिए आवश्यक समझते हैं। उनकी दृष्टि में कुछ चीजें, जैसे प्रेम, विश्वास, क्षमा, दया, करुणा आदि मुख्यत: तर्क के उत्पादन नहीं हैं। उन्हीं के शब्दों में -

"I plead not for the suppression of reason but an appreciation of its inherent limits"[1]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि गांधी और उत्तर-आधुनिक चिन्तकों के विचारों में कई समानतायें दिखाई पड़ती हैं किन्तु गहराई से विचार करने पर हम उनकी अवधारणाओं और उद्देश्यों में व्यापक अन्तर पाते हैं। अत: हम गांधी को उत्तर-आधुनिकता के अन्तर्गत नहीं रख सकते। किन्तु यहीं यह प्रश्न उठता है कि यदि आधुनिकता की गांधी द्वारा की गई आलोचना उत्तर-आधुनिकता की वकालत नहीं है तो फिर उसे किस श्रेणी में रखा जाय? क्या वह पूर्व-आधुनिक है? या वे आधुनिकता का नवीन संस्करण विकसित करना चाहते हैं? इसके लिए हमें इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा कि आधुनिकता की आलोचना का गांधी का पैमाना क्या है और स्वदेशी-स्वराज और सर्वोदय के उनके दर्शन का वैचारिक आधार क्या है?

हमारे उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट ही है कि गांधी के साथ पूर्व-आधुनिक, आधुनिक या उत्तर-आधुनिक ऐसे लेबल लगाना व्यर्थ है। नया और पुराना, भारतीय और पश्चिमी परिप्रेक्ष्य, सभी मिलकर उनके विचारों को अर्थ प्रदान करते हैं। तो क्या हम सर अर्नेस्ट बारकर[2] की तरह यह माने लें कि "The mixture was the essence" और "Being more things than one" ही एकमात्र लेबल है जो गांधी के साथ न्याय करता प्रतीत होता है। लेकिन इस मान्यता के साथ दिक्कत यह है कि यह गांधी को मात्र एक पुल (bridge) या बिचौलिया (reconciler) के रूप में देखती है, गांधी के विचार के विभिन्न तत्व किस तरह एक सुसंगत सामन्जस्यपूर्ण सम्पूर्णता में एक दूसरे से जुड़े हुये हैं इस पर कोई रोशनी नहीं डालती। इस दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास सन्थोनी जे. परेल[3] की पुस्तक "Gandhi's Philosophy and the Quest for Harmony" के रूप में सामने आया है। उनके अनुसार गांधी को समझने की कुंजी उनके द्वारा पुनर्व्याख्यायित पुरुषार्थ का

---

1. *यंग इंडिया*, 27 जून 1939
2. सर अनेस्ट बारकर, *गांधी एज ब्रिज ऐन्ड रिकान्सिलर*, इन राधाकृष्णन् (सम्पा) *महात्मा गांधी : एशेज एन्ड रिफ्लेक्शन आफ हिज लाइफ ऐन्ड वर्क*, जैको पब्लि. हाउस बम्बई, 1995, पृष्ठ 41-42
3. उपरोक्त, पृष्ठ VII-XI

सिद्धान्त है। यही है जिसे गांधी प्राचीन भारतीय सभ्यता का मूलाधार, उसका जीनियस स्वीकार करते हैं जो उसे अन्य सभ्यताओं से अलग पहचान देता है। जिस सांस्कृतिक आत्मविश्वास के साथ गांधी आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की आलोचना करते हैं और जिसके आधार पर वे नये समाज की रचना करना चाहते हैं, उसका स्रोत पुरुषार्थ का सिद्धान्त ही है। किन्तु गांधी ने इस सिद्धान्त में कई परिवर्तन भी किये। पहला, पुराने सिद्धान्त में से लिंग-पक्षपात को मिटाना। दूसरा, यह बताना कि पुरुषार्थ की साधना मनुष्यों का अनोखा व्यवहार है जो उन्हें अन्य जीवों से अलग करता है। तीसरा, कर्म और भाग्य को जीतने में पुरुषार्थ की भूमिका पर जोर देना। चौथा, अर्थ-पुरुषार्थ को वह महत्व प्रदान करना जो उसे पहले कभी भी नहीं मिला था। पांचवां, पुरुषार्थ के इस नये सिद्धान्त को अपने दर्शन के वैचारिक ढांचे के रूप में स्वीकार करना।

यह तो सही है कि गांधी कोई व्यवस्थित दार्शनिक नहीं थे और न अपने कर्म और विचार के पीछे छिपे दर्शन को अनावृत करने का कोई प्रयास उन्होंने किया। यह काम तो बाद के सिद्धान्तकारों का है। किन्तु प्रो. परेल की थीसिस सत्य के कितने करीब है यह विद्वानों के बीच अभी चर्चा का विषय है। यह प्रो. के.जे. शाह[1] के मूल विचार का ही विकास है। यहां उसके परीक्षण का समय और स्थान नहीं है किन्तु इतना तो तय है कि गांधी हमें एक ऐसा विवेक-मंत्र देने का प्रयास करते हैं जिसके आलोक में हम परम्परा, आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता की न केवल समालोचना कर सकते हैं अपितु उनका नवसृजन भी कर पाते हैं। हमारे सामने प्रश्न परम्परा, आधुनिकता या उत्तर-आधुनिकता में से किसी एक के चयन या स्वीकार का नहीं रह जाता अपितु सभी को एक साथ स्वीकार का हो जाता है। लेकिन सभी को गांधी की मूल्यांकन की कसौटी पर खरा उतरना होगा, फिर चाहे वह उनका पुरुषार्थ का पुनर्व्याख्यायित सिद्धान्त हो या कोई और। अंत में हम कह सकते हैं कि गांधी एक वैकल्पिक सभ्यता के प्रतिनिधि के रूप में हमारे सामने आते हैं जिसमें पूर्व-आधुनिक, आधुनिक और उत्तर-आधुनिक तीनों धाराओं का संगम है जिनको अलगाना आसान नहीं है। आखिर सभ्यता से उनका तात्पर्य 'Good conduct' से ही तो है और यह किसी एक सिद्धान्त या वाद की जागीर नहीं। हम चाहें तो उन्हें भारतीय आधुनिकता या आधुनिक भारतीयता की खोज का एक पथिक मान सकते हैं।



1. के.जे. शाह, *पुरुषार्थ ऐन्ड गांधी*, इन *गांधी ऐन्ड द प्रजेन्ट ग्लोबल क्राइसिस* (सम्पा) रामश्रय राय, भारतीय उच्चतर अध्ययन संस्थान, शिमला, 1996, पृ. 155-161

न्यायवैशेषिकपरम्परा और देहात्मवाद

डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र

अपने मूलगामी स्वरूप में न्यायवैशेषिक परम्परा आत्मवादी, नित्यतावादी व शाश्वतवादी रही है। इसको देहात्मवादी मार्ग पर ले जाने की न तो कोई कोशिश बीसवीं शताब्दी के पूर्व किसी न्याय-वैशेषिक परम्परा के आचार्य ने की और न ही न्याय-वैशेषिक परम्परा को आत्मवादी, नित्यवादी व शाश्वतवादी परम्परा से अलग किया जा सकता है। विगत कुछ वर्षों के दौरान कुछेक आचार्यों ने, प्रमुखतया आचार्य बदरीनाथ शुक्ल एवं प्रो. विश्वम्भर पाहि ने, न्यायवैशेषिक परम्परा में देहात्मवाद के लिए स्थान बनाने का अच्छा प्रयास किया। दोनों ही कुछ मौलिक प्रतिष्ठापनाएं लेकर आये हैं, तथा दोनों ही न्यायवैशेषिक परम्परा में देहात्मवाद को स्थान देने के लिए कटिबद्ध हैं। दोनों ही न्यायवैशेषिक परम्परा के मान्य सिद्धान्तों के साथ संगति बनाते हुए देहात्मवाद के लिए स्थान बनाते हैं। बदरीनाथ शुक्ल अपने देहात्मवादविषयक विवेचन में कृतप्रणाश, अकृताभ्यागम आदि की भी व्याख्या करते हुए, इनके साथ भी देहात्मवाद को संगत रखते हुए, साथ ही साथ पुनर्जन्म, मोक्ष आदि की व्यवस्था को भी संगत रखते हुए देहात्मवाद का उपपादन करते हैं। इसके विपरीत प्रो. पाहि के अनुसार न्यायवैशेषिक परम्परा के प्रसंग में विचार करने पर न तो कृतप्रणाश को और न ही अकृताभ्यागम को नियम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रो. पाहि के अनुसार न्यायवैशेषिक परम्परा में न तो पुनर्जन्म की कोई जगह शेष है और न ही मोक्ष के लिए कोई स्थान बचता है। इस कारण प्रो. पाहि का देहात्मवाद कुछ ज्यादा ही चार्वाकसम्प्रदायीय लगता है। इसके विपरीत बदरीनाथ शुक्ल का देहात्मवाद अपने स्वरूप में मूलगामी रूप में न तो उतना विध्वंसक है और न ही उस प्रकार से परम्परागत रूप से स्वीकृत सिद्धान्तों का ही प्रबल विरोध करता है। प्रस्तुत आलेख में मैं यह कोशिश कर रहा हूं कि क्या शुक्ल व पाहि द्वारा प्रस्तुत देहात्मवाद तर्क की कसौटी पर खरा उतरता है? अगर इनमें से कोई भी मत तर्कसंगत है, तो उसको न्यायवैशेषिक परम्परा की स्वाभाविक विकासगति के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि न्यायवैशेषिक परम्परा सबसे ज्यादा भरोसा अगर किसी पर करती है तो वह तर्क पर ही।

आचार्य शुक्ल अपने 'न्यायशास्त्री विचार पद्धत्या देहात्मवादस्य सम्भावना' शीर्षक आलेख में देहात्मवाद के साधन के लिए जो प्रतिज्ञा करते हैं, वह है- 'आत्मा नातिरिक्तं द्रव्यं देहमनोभ्यामेव तत्साधनीयस्य निखिलप्रयोजनस्य निर्वर्तयितुं शक्यत्वात्' आत्मा अतिरिक्त द्रव्य नहीं है क्योंकि अतिरिक्त आत्मा के द्वारा साधनीय जो भी प्रयोजन हैं वे देह व मन के द्वारा ही सम्पादित किये

जा सकते हैं। इस प्रतिज्ञा के द्वारा अपने तर्कों को प्रस्तुत करते हुए आचार्य शुक्ल बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष व प्रयत्न को विशेषगुण न मानकर इनको सामान्यगुण मानने का पक्ष उपस्थापित करते हैं। परम्परागत न्यायवैशेषिक परम्परा में ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार को आत्मा के विशेषगुण स्वीकार किये गये हैं। इनमें से ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न को देह का धर्म मान लेना चाहिए, व इन्हें देह का सामान्य गुण मानना चाहिए न कि विशेषगुण। इन्हें देह का विशेषगुण मानने में समस्या यह आयेगी कि पृथ्वी, जल, तेज या वायु के जो भी विशेषगुण स्वीकार किये जाते हैं, उन सभी विशेषगुणों में यह एक सामान्य विशेषता है कि वे सभी या तो यावद्द्रव्यभावी होते हैं या तो पाकज होते हैं या इस प्रकार से कहें कि वे सभी क्षणिक नहीं होते हैं, किन्तु ज्ञान क्षणिक होता है। ज्ञान की क्षणिकता को स्वीकार करना आवश्यक है, अन्यथा क्रमशः उत्पद्यमान अनुभवों की व्याख्या कर पाना सम्भव नहीं हो सकेगा। इनके कार्यकारणभाव की भी व्याख्या करनी मुश्किल हो जायेगी। न केवल ज्ञान बल्कि सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष व प्रयत्न इन पांचों की ही स्थिति एक समान है। इस समस्या से बचने के लिए चातुर्यपूर्वक आचार्य शुक्ल ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न को देह का सामान्यगुण मानने का पक्ष रखते हैं। इसी कारण विशेषगुण की परिभाषा को अपने हिसाब से उपस्थापित व परिष्कृत करते हैं। आचार्य शुक्ल धर्म, अधर्म और संस्कार को मन के विशेषगुण के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं। ज्ञानादि देह के विशेषगुण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि विशेषगुण का लक्षण उनमें नहीं जाता है। परन्तु वे देह के सामान्यगुण हैं। हमारा कहना यह है कि ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न को देह का सामान्यगुण माना जाये या विशेषगुण, यह प्रश्न तो प्राथमिकता के क्रम में अनन्तरभावी है। प्रथम प्रश्न तो यह है कि क्या ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न को देह का गुण मानना सम्भव है। अगर ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न को देह का गुण मानना सम्भव हो, तब यह प्रश्न उठाया और विचारित किया जा सकता है कि इनको क्या सामान्यगुण माना जाये या विशेषगुण।

न्यायवैशेषिक परम्परा में ज्ञानादि को देह का गुण मानने में अनेक दोष प्रदर्शित किये गये हैं। देखना चाहिए कि क्या आचार्य शुक्ल उन आपत्तियों का निराकरण करने में समक्ष हैं। निम्न आपत्तियां देहात्मवाद पर उठायी जाती हैं।

1. अगर शरीर ज्ञानादि का आश्रय होता तो मृत शरीर को भी चैतन्य होना चाहिए था क्योंकि मृतशरीर शरीर नहीं है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता है। मृतशरीर में व्यभिचार होने के कारण शरीर को ज्ञानादि का आधार नहीं माना जा सकता है।[1]
2. शरीर को ज्ञानादि का आश्रय मानने पर बाल्यकाल में जो विलोकित हैं, वार्धक्यकाल में उनके स्मरण की अनुपपत्ति होगी।[2]

---

1. शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः। *कारिकावली*-48.
2. शरीरस्य चैतन्ये बाल्ये विलोकितस्य स्थविरे स्मरणानुपपत्तेः, शरीराणामवयवोपचयापचयैरुत्पादविनाशशालित्वात्। पृ. 210, *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली*

3. सद्यः समुत्पन्न बालक की स्तनपान में जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रवृत्ति के लिए आवश्यक इष्टसाधनताज्ञान न रहने के कारण नहीं हो सकेगी। शरीरातिरिक्त आत्मा को चैतन्य मानने पर पूर्वजन्म के आधार पर इष्टसाधनताज्ञान सम्भव है।[1]
4. ज्ञानादि को देह का गुण मानने पर कृतहान व अकृताभ्यागम की आपत्ति आयेगी क्योंकि जिस शरीर के द्वारा पाप या पुण्य किये गये हैं, उसके द्वारा उस पाप या पुण्य का फल नहीं भोगा जाता है।[2]

क्या इन दोषों का निवारण आचार्य शुक्ल कर सके हैं? आपाततः तो ऐसा लगता है। प्रथम दोष का निवारण करने के लिए वे कहते हैं कि मन में धर्म व अदृष्ट रहते हैं, परन्तु मरण के काल में शरीर के साथ मन के सम्बन्ध का विनाश हो जाता है, इस कारण शरीर के मृत होने के काल में शरीर का चैतन्य अनुभव में नहीं आता है। शरीरातिरिक्त आत्मा मानने के पक्ष में भी इस आपत्ति का समाधान यही दिया जाता है, तो इस आपत्ति का समाधान समुचित ही है।

द्वितीय आपत्ति का समाधान यह देते हैं कि अनुभवात्मक ज्ञान शरीर में उत्पन्न होता है, परन्तु उस ज्ञान से जन्य संस्कार मन में उत्पन्न होता है। उस मन में रहने वाले संस्कार की महिमा से बाल्यकाल में जो भी अनुभूत रहा है उसका वार्धक्यावस्था में स्मरण सम्भव है। हालांकि जिसको अनुभव उसी को संस्कार व उसी को स्मरण होना चाहिए, इस कारण यह समाधान पूर्ण रूप से तो नहीं, फिर भी सन्तोपजनक माना जा सकता है।

तृतीय आपत्ति का समाधान देने के लिए आचार्य शुक्ल कहते हैं कि देहात्मवाद में अनुभव का संस्कार के प्रति व संस्कार का स्मरण के प्रति स्वाश्रयविजातीयसंयोगसम्बन्ध से कारणत्व है, पूर्वजन्म के शरीर का सहयोगी जो मन है, उस मन का पूर्वजन्म के शरीर से जन्य अदृष्ट के कारण उत्पन्न नितान्त बालशरीर में भी प्रवेश हो जाता है। इस कारण पूर्वजन्मानुभूत अर्थ का स्मरण होकर इष्टसाधनता का ज्ञान सम्भव है। इस कारण जातमात्र बालक की स्तनपान में प्रवृत्ति की व्याख्या करने में कोई असुविधा नहीं है। यह समाधान आपाततः समुचित तो लगता है, परन्तु यहां पर यह विचार करना चाहिए कि पूर्वजन्म के शरीर के अदृष्ट के कारण नितान्त बाल शरीर में मन का प्रवेश किस प्रकार से सम्भव है? क्योंकि मन तो इन्द्रिय के रूप में ही न्यायवैशेषिक परम्परा में स्वीकार किया गया है। आचार्य शुक्ल ने भी मन को करणमात्र माना है। वे स्वयं ही कहते हैं- 'मनसश्च तदुपकरणमात्रत्वं नात्मत्वमिति'। इस प्रकार का वक्तव्य देते हुए आचार्य शुक्ल भूल जाते हैं कि करण की प्रवृत्ति चेतन से अधिष्ठित हुए बिना नहीं सम्भव है। कोई नित्य अधिष्ठाता तो आपको स्वीकार्य है नहीं, जो इस मन का अधिष्ठाता हो सकता है और जो आपके द्वारा अधिष्ठाता के रूप में स्वीकार भी किया जाता है। शरीर, वह तो पूर्व का ही नष्ट है, नवीन

---

1. एवं शरीरस्य चैतन्ये वालकस्य स्तन्यपानं प्रवृत्तिर्न स्यात्, इष्टसाधनताज्ञानस्य तद्धेतुत्वात्, तदानीमिष्टसाधनत्वानुभावकाभावात्। *वही*
2. तदेवं सत्त्वभेदं कृतहानमकृताभ्यागमः प्रसज्यते। *न्यायसूत्रभाष्य* 3-1-4

अभी उत्पन्न नहीं हैं तो किस प्रकार से मन का नवीन शरीर में प्रवेश हो सकेगा? अगर ईश्वर के द्वारा मन का अधिष्ठान स्वीकार करने का पक्ष रखें, तब तो शरीर को कर्ता मान पाना सम्भव न होगा। फिर तो ईश्वर ही कर्ता होगा। इस कारण इस दोष के चंगुल से आचार्य शुक्लजी के द्वारा प्रवर्तित नवदेहात्मवाद बच सकेगा, ऐसा लगता नहीं। यह दोष तो दुर्निवार है।

चतुर्थ आपत्ति का समाधान देने का प्रयास करते हुए आचार्य शुक्ल विचित्र मार्ग का अन्वेषण करते हुए कहते हैं कि 'वर्तमान शरीर के द्वारा किये गये जिन कर्मों का फल अभी तक भोगा नहीं गया है, उन कर्मों के द्वारा उत्पन्न धर्म व अधर्म रूपी अदृष्ट का आश्रय जो मन है, वही मन उन कर्मों का अधिष्ठाता भी है, उस मन का पूर्वजन्मकृत कर्मों से जन्य अदृष्ट के द्वारा उत्पादित शरीर में प्रवेश हो जाता है, तथा उस शरीर में उन कर्मों का फलभोग भी सम्भव होता है, इस कारण उन कर्मों की सार्थकता भी सम्भव है। सर्वथा नूतन शरीर में भी पूर्वदेह के द्वारा कृत कर्मों का ही फल प्राप्त होता है, इस कारण अकृताभ्यागम भी नहीं है। देहात्मवाद में यह नियम नहीं मानना है कि जिसने जो कर्म किया है, उस कर्म का फल उस को ही प्राप्त होता है, क्योंकि इस प्रकार के कृतप्रणाश व अकृताभ्यागम का स्वीकार देहातिरिक्तात्मवाद के चिरकाल से आरूढ़ वासनामूलक होने के कारण त्याज्य है। उसके स्थान पर यह नियम मानना ही उचित है कि जिस मन के द्वारा अधिष्ठित शरीर के द्वारा कर्म किया गया है, उसका फल उसी मन के द्वारा अधिष्ठित शरीर से भोगा जाता है।'[1] यहां आचार्य शुक्ल का आशय यह है कि सर्वथा नवीन देह में भी पूर्वकृत कर्मों का ही उपभोग होने के कारण न तो कृतहानि है और न ही अकृताभ्यागम। इस समाधान के औचित्य पर विचार करना चाहिए। क्या इस प्रकार से कृतहानि व अकृताभ्यागम के अभाव का उपपादन युक्तिसंगत है? कृतहानि व अकृताभ्यागम को दोष के रूप में इसी कारण प्रदर्शित किया जाता है कि दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में एक न्यायव्यवस्था स्वीकारी जाती है- जिसने अच्छा कार्य किया है उसको उसका पुरस्कार व जिसने गलत कार्य किया है उसको उसके कर्म का दण्ड प्राप्त हो। उपर्युक्त रीति से कृतहानि व अकृताभ्यागम के अभाव की व्यवस्था मानने पर तो न्यायव्यवस्था के रूप में उक्त दार्शनिक सिद्धान्त का महत्त्व नहीं ही रहेगा। इस नवदेहात्मवाद में कृतहानि व अकृताभ्यागम का वारण कर पाना वस्तुतः सम्भव नहीं दिखायी देता है। एक साम्य दृष्टान्त के द्वारा उपर्युक्त रीति से किये जा रहे आपत्तिवारण का औचित्य व अनौचित्य सुस्पष्ट हो जायेगा। मन कर्ता नहीं है, उपकरण है। उसके साहाय्य से उक्त आपत्ति का वारण कुछ ऐसा ही है जैसे कि चाहे जिसने भी तलवार चलायी हो, उस तलवार के द्वारा चाहे जिसने भी हत्या की हो, परन्तु दण्डित वह होगा जिसके पास तलवार पायी जायेगी। क्या इस प्रकार

---

1. वर्तमानशरीरेण कृतानामभुक्तफलानां कर्मणां धर्माधर्मव्यापारभाजनस्य तदधिष्ठातृमनसो नूतने तदर्जितादृष्टजनिते देहे प्रवेशेन तत्र तत्कर्मणा फलभोगसम्भवने तेषां सार्थक्यात्। सर्वथा नूतने देहऽपि पूर्वकृतकर्मणामेव फलोदयेनाकृताभ्यागमस्याभावाच्च। देहात्मवादे नायं नियमो यद् यो यत्कर्म करोति स एव तत्फलं भुङ्क्ते, तस्यातिरिक्तात्मवादस्य चिरप्ररूढवासनामूलकतया प्रकृतवादेऽभ्युपगमात्। तत्स्थाने यन्मनोऽधिष्ठितेन देहेन यत्कर्म क्रियते, तत्फलं तन्मनोऽधिष्ठितेनैव देहेन भुज्यत इति नियमोपगमात्।

से कृतहानि व अकृताभ्यागम के अभाव का उपपादन लोकव्यवस्था में स्वीकार किया जा सकता है? शास्त्रीय सिद्धान्त लौकिक अभ्युपगमों पर आधारित होते हैं, इसी कारण न्यायसूत्रकार गोतम ने सोलह तत्त्वों में द्रष्टान्त को भी अन्तर्भूत किया है। द्रष्टान्त उसी को कहा जाता है जिसमें लौकिकों व परीक्षकों का बुद्धियसाम्य हो।[1] मन भी उपकरण है, तथा इस कारण तलवारस्थानीय ही है। उसके सहभाव या असहभाव से कृतहानि व अकृताभ्यागम के अभाव का उपपादन भली प्रकार से हो सकेगा, यह मानना लौकिक अभ्युपगमों के विरुद्ध है।

दूसरी बात कुछ ज्यादा ही विचित्र इस मत में यह है कि क्या अचेतन को अधिष्ठाता माना जा सकता है। अधिष्ठाता को तो चेतन ही होना चाहिए। लोक में कुल्हाड़ी आदि को कर्ता के अधिष्ठान की आवश्यकता होती हैं, कर्ता को कारण में अधिष्ठित होने की आवश्यकता नहीं होती है। आचार्य शुक्लजी मन को अचेतन उपकरण भी मान रहे हैं और दूसरी तरु उसे शरीर का अधिष्ठाता भी बनाना चाह रहे हैं। अधिष्ठाता तो कर्ता ही हो सकता है, अचेतन व करण नहीं। इस कारण यह नवीन व विचित्र, लौकिक द्रष्टान्तों से विरुद्ध मार्ग के अन्वेषण का प्रयास है। यदि इस प्रकार के देहात्मवाद के साथ ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार करना अभीष्ट हो तब तो ईश्वर में वैषम्य, नैर्घृण्य आदि दोषों की भी आपत्ति आयेगी।

इस कारण अगर ज्ञानादि को शरीर का धर्म मान पाना ही सम्भव नहीं है, तो क्या आवश्यकता है उसके सामान्यगुण या विशेषगुण होने की चर्चा की। इस कारण आचार्य शुक्ल के द्वारा ज्ञानादि शरीर का सामान्यगुण स्वीकार करने के लिए जो विस्तृत वाद-विवाद प्रस्तुत किया गया है, वह निरर्थक है। देहात्मवाद को स्वीकार करने में अनेक लाघवों का भी उपस्थापन आचार्य शुक्लजी के द्वारा किया गया है, परन्तु जो लाघव लौकिक अभ्युपगमों व श्रुतिसिद्धान्तों का विरोधी हो उस लाघव को तर्क के रूप में प्रस्तुत करना असंगत व अनुचित है। इस कारण आचार्य शुक्ल द्वारा समुपस्थापित देहात्मवाद के लिए न्यायवैशेषिक परम्परा की चिन्तनपद्धति में वस्तुतः कोई उचित स्थान नहीं दिखायी देता है। यह निश्चित तौर पर बिना अनेक विरोधाभासों को बुलावा दिये स्वीकृत नहीं हो सकता है।

प्रो. विश्वम्भर पाहि भी एक प्रकार से देहात्मवाद को ही अपने ग्रन्थ '*वैशेषिकपदार्थ व्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श*' में न्यायवैशेषिक परम्परा के सिद्धान्तों के साथ संगत मानते हैं। परन्तु प्रो. पाहि की दृष्टि भिन्न है। आचार्य शुक्ल की तरह प्रो. पाहि कृतहानि व अकृताभ्यागम को स्वीकार करने के लिए उत्सुक नहीं दिखायी देते हैं। वे कृतहानि व अकृताभ्यागम को किसी भी तरह से प्रमाणों के आधार पर निगमित नहीं मानते हैं। इस कारण जिस प्रकार आचार्य शुक्ल कृतहानि व अकृताभ्यागम के साथ देहात्मवाद को संगत बनाने की कोशिश करते हैं, वैसा कोई भी प्रयास प्रो. पाहि के द्वारा नहीं किया गया हैं। यहां तक कि वस्तुतः कृतहानि व अकृताभ्यागम को देखकर ही न्यायवैशेषिक परम्परा में स्वीकृत नित्यात्मवाद को प्रो. पाहि अस्वीकार कर देते हैं।

---

1. लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्त। *न्यायसूत्र*- 1-1-25

खुद उनके ही शब्दों में- 'आत्मा की नित्यत्वसिद्धि के लिए उपलब्ध युक्तियां मूलरूप में जगत् की कृतप्रणाश एवं अकृताभ्यागम-शून्यता पर आश्रित हैं। कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृताभयागमशून्यता की तथ्यपरकता अस्वीकृत होकर केवल उनकी आदर्शस्वरूपता अस्वीकृत होने पर पुरुष का नित्यत्व असिद्ध रह जाता है।'[1] इस प्रकार से आत्मा को नित्य न मानकर उसे सन्तानस्वरूप मानने का पक्ष प्रो. पाहि रखते हैं। हालांकि प्रो. पाहि वैशेषिकपरम्परा के मान्यसिद्धान्तों को सामान्यतया अस्वीकार नहीं करते हैं, जैसे कि- धर्मधर्मिभेद, प्रतीतिभेद की विषयभेदजन्यता, असत्कार्यवाद या आरम्भवाद, यथोपलब्धिव्यवस्था इत्यादि। मूलरूप में प्रो. पाहि की आपत्ति यही है कि जिस प्रकार से न्यायवैशेषिक परम्परा में लौकिक अबाधित प्रतीति का उल्लंघन नहीं किया जाता है, उसके परिप्रेक्ष्य में वे आत्मा की सन्तानरूपता के बारे में ही अपना सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत करते हैं। यह पूछा जा सकता है कि क्या आप बौद्धदार्शनिकों की तरह संघातवादी हैं? तो इसके उत्तर में प्रो. पाहि का कथन है कि नहीं। न्यायवैशेषिक परम्परा के मूलभूत प्रमाणमीमांसीय व तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में संघातवाद न्यायवैशेषिक परम्परा का सिद्धान्त नहीं हो सकता है। इसी कारण प्रो. पाहि आत्मा के अक्षणिकत्व व ज्ञानादि का आश्रयत्व स्वीकार करते हैं। आत्मा को शरीरादिसंघात से अतिरिक्त भी मानते हैं, परन्तु नित्य आत्मा को स्वीकार नहीं करते हैं। स्वयं उनके शब्दों में- 'प्रतिसन्धान के आधार पर पुरुष का एकत्व, अक्षणिकत्व एवं ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न एवं सुखदु:खादि का आश्रयत्व प्रमाणसिद्ध है। प्रतिसन्धान एवं कारकसिद्धान्तमूलक अनुमानों से पुरुष का शरीर, इन्द्रिय एवं मन से भेद सिद्ध होने पर भी निरन्तर परिवर्तनशील विभिन्न जैविक तंत्रों के व्यवहवद्ध अवयवी सन्तान से पुरुष भिन्न है, यह सिद्ध नहीं हो पाता है।'[2] इस प्रकार यह तो सामान्यतया ही सिद्ध हो जाता है कि जिन तर्कों का प्रस्तुतीकरण मैंने आचार्य शुक्ल के देहात्मवाद का खण्डन करने के लिए किया है, उनमें अनेक की वैधता स्वयं प्रो. पाहि को स्वीकार्य है। इसके बावजूद देहातिरिक्त आत्मा प्रो. पाहि को स्वीकार नहीं है। जातमात्र बालक की स्तनपान के लिए होने वाली प्रवृत्ति को प्रो. पाहि जैविकीय नियमों के आधार पर व्याख्यायित करते हैं।[3]

प्रो. पाहि के देहात्मवाद की समस्या कुछ यह है कि वे न्यायवैशेपिक परम्परा के आचार्यों के द्वारा प्रस्तुत तर्कों को स्वीकार तो कर रहे हैं, परन्तु उनकी गहराई तक नहीं जा पा रहे हैं। प्रतिसन्धान व स्मरण भी एक प्रकार से कृतप्रणाशशून्यता व अकृताभ्यागमशून्यता के ही प्रकारान्तर हैं। जिसने अनुभव किया है, वही स्मरण करता है, अन्य नहीं। इस कारण प्रो. पाहि की यह मान्यता कि कृतप्रणाशशून्यता व अकृताभ्यागमशून्यता लौकिकदृष्टान्तों के सात संगत नहीं हैं, उचित नहीं है। आत्मा को सन्तानस्वरूप में स्वीकार करना ही प्रत्यभिज्ञान व स्मृति की व्याख्या के लिए पर्याप्त होगा, यह प्रो. पाहि का अभ्युपगम है। परन्तु विचार करने योग्य तथ्य यह है कि क्या इस प्रकार

1. द्रष्टव्य-पृ. 96, *वैशेपिकपदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श*, प्रकाशक - दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर 2001.

2. द्रष्टव्य-पृ. 95, *वैशेपिकपदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श*

3. द्रष्टव्य- पृ. 68-69, *वही*

का मत बौद्धपरम्परा में स्वीकृत आत्मसिद्धान्त का अनुवाद नहीं होगा? बौद्धपरम्परा में भी आत्मा को संघातात्मक व क्षणिक माना गया है। इसके अनात्मवाद से अपना अन्तर प्रो. पाहि यह बताते हैं कि बौद्धपरम्परा में सन्तानियों से अतिरिक्त सन्तान को स्वीकार नहीं किया जाता है और वे सन्तान को अतिरिक्त स्वीकार करते हैं। सोचना यह चाहिए कि क्या इस प्रकार से सन्तानियों से अतिरिक्त सन्तान को स्वीकार किया जा सकता है? क्या सन्तानियों से अतिरिक्त सन्तान प्रत्यक्षसिद्ध है? वस्तुत: सन्तान का प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं है। घट, पटादि में अवयवों से अतिरिक्त अवयवी का स्वीकार तो सम्भव है क्योंकि घटादि को क्षणिक नहीं माना जाता है। शरीर की तो क्षणिकता खुद न्यायवैशेषिक परम्परा में स्वीकार की जाती है क्योंकि हमारा प्रतिसन्धान ही बाल्यकालीन शरीर व वृद्धावस्था के शरीर का भेद सिद्ध कर देता है। परन्तु यह क्षणिकता वैसी क्षणिकता नहीं है, जैसी क्षणिकता बौद्धपरम्परा में स्वीकृत है। न्यायवैशेषिक परम्परा में क्षणिकता का आशय प्रथम क्षण में उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में स्थिति व तृतीय क्षण में विनाश से है। बौद्धपरम्परा उत्पत्ति व विनाश के क्षण में कोई अन्तर नहीं करती है। स्थिति का क्षण तो स्वीकार्य ही नहीं है। इस कारण शरीर की स्थिरता व अक्षणिकता ठीक उसी प्रकार की नहीं है, जैसी घट, पटादि की स्थिरता व अक्षणिकता। प्रो. पाहि दोनों को असावधानतया एक समान आधार पर व्यवस्थापित करने की कोशिश कर रहे हैं। घट, पटादि में उस प्रकार से भेदाभेद की बात नहीं है, जैसी कि शरीरादि में। शरीरादि में विरुद्धधर्मसंसर्ग भासित होता है, वह शरीर-भेद को स्वीकार किये बिना संभव नहीं है। सार रूप में सन्तान को केवल क्रमश: स्वल्प समय के भेद से भिन्न काल में जायमान सन्तानियों के समूह से ज्यादा कुछ मानना उचित नहीं दिखता है। इस रीति से सन्तानियों से अतिरिक्त सन्तान की सत्ता स्वीकार करने से तात्त्विक रूप से कोई अन्तर नहीं आता है, यह केवल शाब्दिक अन्तर होकर रह जाता है। जैसा कि बौद्धपरम्परा में स्वीकृत है, परन्तु प्रो. पाहि उससे भिन्न आत्मतत्त्व को स्वीकार करना चाहिए इस न्यायमत से सहमत हैं। सचमुच में अगर सन्तानियों से भिन्न किसी आत्मा या धर्मी को स्वीकार करना है तो उसको निश्चय ही शरीर, इन्द्रियादि सन्तानियों से अतिरिक्त होना चाहिए, जैसा कि वाचस्पति मिश्र दावा करते हैं।[1] इसको तात्त्विक रूप से स्वीकार करते हुए भी प्रो. पाहि प्रवाह को ही अवयवी के रूप में स्वीकार करने की बात करते हैं। स्वयं उनके शब्दों में- 'निरन्तर परिवर्तनशील प्राणवान् शरीररूपी अवयविसन्तान स्वयं एक अवयवी नहीं है अपितु प्रवाहस्वरूप सन्तान ही है'[2] या तो अवयविसन्तान से अतिरिक्त प्रवाहरूपी अवयवी को न मानें अथवा अवयविसन्तान से अतिरिक्त प्रवाहरूपी अवयवी से भिन्न आत्मा को स्वीकार करें। ऐसी स्थिति में प्रो. पाहि का मत स्वयं अपने विरोधाभासों से ही खण्डित हो जाता है। ज्ञानभेद को विषयभेद पर आधारित होना चाहिए, इस प्रमाणमीमांसीय अभ्युपगम के आलोक में शरीरातिरिक्त आत्मा की स्वीकृति अपरिहार्य सी ही दिखायी देती है। शरीराद्यतिरिक्त आत्मा को स्वीकार करने

---

1. मात्रग्रहणेन च सन्तानं सन्तानिव्यतिरिक्तमपाकरोति। तदभ्युपगमे वा स एवात्मेति सिद्धं न समीहितम्। *न्यायसूत्र* 1-1-10 पर *न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका*, पृ. 211.
2. द्रष्टव्य- पृ. 96, *वैशेषिक पदार्थमीमांसा का पद्धतिमूलक विमर्श*

पर शरीरादि को लेकर होने वाले आत्मविषयक गौरादि प्रत्ययों को भ्रम स्वीकार करना होगा, जो कि लोकप्रतीति का समादर करती चलती है, उसका निरादर नहीं करती है। इस कारण भी प्रो. पाहि शरीरादि से भिन्न किसी नित्य आत्मा को स्वीकृति देने के पक्ष में नहीं हैं। इस पर भी मेरा विनम्र निवेदन है कि परम्परा से लोग शब्दों का प्रयोग अभिधा व लक्षणा के आधार पर करते हैं। बहुत बार तो मुख्यार्थक प्रयोग ही उपलब्ध नहीं होता है, जिसको कि निरूढ़लक्षणा के द्वारा जाना जाता है। कुछ उसी प्रकार 'मैं' शब्द का भी उभयथा प्रयोग होता है, शरीर के लिए भी व शरीर से परे किसी बाह्यप्रत्यक्षाविषय वस्तु के लिए भी। 'मैं गौर हूं, स्थूल हूं' इत्यादि प्रयोग शरीर को आधार बनाकर व 'मैं ज्ञानवान हूं, इच्छावान हूं' इत्यादि प्रयोग शरीर से परे किसी बाह्यप्रत्यक्षाविषय वस्तु को आधार बनाकर होते हैं। सामान्य लोकप्रतीति हमेशा व्यवस्थापक की भूमिका नहीं निभा सकती है। सूर्यादि के छोटे होने की अबाधित प्रतीति भी सूर्यादि के छोटे होने का व्यवस्थापन नहीं करती है। इसी कारण शरीरादि से अतिरिक्त आत्मा को स्वीकार करने का पक्ष रखा जा रहा है, जिसे कि प्रवाहरूप में स्वीकारने का पक्ष मानने में प्रो. पाहि की भी स्वीकृति है।

वस्तुतः न्यायपरम्परा के विरोध में बौद्धपरम्परा खड़ी रही है। इस कारण प्रायः तत्त्वमीमांसीय व ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त उनके द्वारा उपस्थापित आक्षेपों के प्रतिपक्ष में व्यवस्थापित व साधित किये गये हैं। इसी कारण ज्ञान, शब्द व शरीर की क्षणिकता को स्वीकार करते हुए भी नैयायिक उस क्षणिकता को बौद्धपरम्परा द्वारा स्वीकृत क्षणिकता के सिद्धान्त से पर्याप्त भिन्न प्रकार की स्वीकार करते हैं। बौद्धपरम्परा द्वारा स्वीकृत क्षणिकता के आलोक में प्रत्यभिज्ञान व स्मरण की व्याख्या कर पाना ही संभव नहीं दिखता है। अगर हर वस्तु उत्पाद-विनाशशील है, उत्पत्ति व विनाश के अतिरिक्त स्थिति का कोई क्षण अगर नहीं है, तो आखिर किस प्रकार संस्कार के प्रभाव से प्रत्यभिज्ञान व स्मरण की व्याख्या सम्भव हो सकेगी? यही वह विचारणीय बिन्दु है, जहां से आत्मविषयक चिन्तन नैयायिक प्रारम्भ करते हैं। समस्या इतनी सतही नहीं है, अपितु ज्ञानादि विशेषगुण, जो कि आकस्मिक हैं,[1] किस प्रकार उनके द्वारा क्षणिक संघातरूप आत्मा पर संस्कार पड़ सकेगा? प्रो. पाहि को भी प्रवाह को आत्मा मानने पर उसे संघातरूप व क्षणिक ही अनिवार्यतया मानना होगा। फिर प्रत्यभिज्ञान व स्मरण की व्याख्या कर पाना सम्भव न हो सकेगा। यही कारण है कि न्यायवैशेषिक परम्परा शरीरादि से अतिरिक्त आत्मा को स्वीकार करती है।



1. इस आकस्मिक का तात्पर्य चार्वाक परम्परा के आकस्मिक से न लिया जाये, बल्कि केवल किसी खास समय में भाविता से इसका तात्पर्य लिया जाये।

अनुभूति, भाषा अर्थ एवं दर्शन

प्रो॰ प्रियव्रत शुक्ल

यदि हम प्राचीन भारतीय चिंतन के बृहत्तर आयाम को दृष्टिगत रखें तो इसमें समाविष्ट किसी भी दार्शनिक परम्परा के विकासक्रम में अनुभूति एवं भाषा की भूमिका अपरिहार्य एवं विशेष प्रकार की रही है। यहाँ प्रयुक्त 'अनुभूति' एवं 'भाषा' विषयक अवधारणाओं की गहन व्याख्या अपेक्षित है। विशेषरूप से भारतीय दर्शन की पारम्परिक चिंतन विधाओं के परिप्रेक्ष्य में लिखे गए प्रस्तुत आलेख में अनुभूतियों, भाषागत शास्त्रगत अभिव्यक्तियों एवं अर्थनिरूपण के उन स्तरों, पक्षों व विधाओं को विश्लेषित करने का एक सांकेतिक प्रयास किया गया है जो विभिन्न दार्शनिक निकायों की पूर्वपीठिका कहे जा सकते हैं।

अनुभूति सदैव चेतनापूर्वक या चिद्समंविता होती है। सामान्य मानी जाने वाली अनुभूतियाँ ऐन्द्रिय-उपकरणात्मकता होते हुए भी मूलत: चेतना-सापेक्ष होती हैं। रहस्यात्मक एवं आध्यात्मिक प्रकृति की अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ भी चेतनामूलक मानी जाएँगी। विभिन्न शास्त्र हमें अनुभूतियों के स्तरों व प्रकारों का विवरण एवं उनकी मीमांसाएँ उपलब्ध करवाते हैं। दर्शनशास्त्र भी इन्हीं के अंतर्गत गण्य है। निर्विवाद रूप से तत्त्वत: या अपने मूलस्वरूप में भाषा या वाक् परासम्विद्रूप चिति से तादात्म्य रखती है और परा स्थिति में मात्र बोधात्मक होती है। इस अभेद की पृष्ठभूमि में हमारी चिद्गति एवं वैचारिक या दार्शनिक यात्रा का समानाधिकरण्य आश्चर्य का विषय नहीं होना चाहिए। दर्शनशास्त्र के सन्दर्भ में बोधात्मक अनुभूति से प्रारम्भ होकर वागात्मक या भाषागत वर्णन एवं मीमांसाओं तक गतिमान चेतना की इस यात्रा के द्विविध आयाम होते हैं। उक्त यात्रा के प्रथम आयाम के अंतर्गत दृष्टिसम्पन्नप्रतिभासम्पन्न या सिद्धपुरुष-विशेष की प्रतिभा या उच्चस्तरीय बोधात्मक-अनुभूति से प्रारम्भ कर स्वतंत्र रूप से स्पन्दित विमर्शकारी चेतना उसकी स्वयं की भाषागत समझ या वागात्मक-अभिव्यक्ति तक पहुँचती है। प्रारम्भिक चरण में यह अतीन्द्रिय अनुभूति आध्यात्मिक प्रकृति का तत्त्वबोध हो सकती है अथवा किन्हीं सत्य या सत्यों का प्रातिभ या अंत:प्रज्ञाजन्य बोध भी हो सकती है। दर्शन की तकनीकी शब्दावली में इस पूरे अनुभूति-वितान को हम अभेदात्मक परावाग् या परासम्विद् से भेदमयी वैखरी तक की यात्रा कह सकते हैं। वागात्मक या भाषागत-अभिव्यक्ति तक पहुँचते-पहुँचते यह अभेदात्मक साक्षात् अनुभूति शास्त्रगत अभिलेखन का विषय बन चिंतन या विचार के रूप में परिणत हो जाती है। अब, यहाँ, यह व्यक्तिगत एवं कभी-कभी कदाचित् गोपनीय अनुभूति अन्य के लिए, अधिकार-भेद के अनुसार, सहज ही अध्ययन, श्रवण व सम्प्रेषण का विषय बन जाती है। इस प्रकार दार्शनिक विचार या चिंतन के इतिहास में हमें एक तथ्यात्मक बिन्दु-विशेष उपलब्ध हो जाता है। किसी भी चिंतन-परम्परा

के सम्पूर्ण इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमें यत्र-तत्र ऐसे अनेक वैचारिक बिन्दु बिखरे दिखलाई देते हैं। अनुभूतिमूलक चिद्-विमर्श के दूसरे आयाम के रूप में हम विश्लेषण-विवेचन-तुलना-मीमांसा इत्यादि वैचारिक विधाओं को अपनाती हुई चेतना की उस मंथनकारी यात्रा को ले सकते हैं जो इतिहास व वर्तमान में उपलब्ध एक चिंतन-बिन्दु से अन्य चिंतन-बिन्दु या बिन्दुओं के मध्य गतिमान रहती है; किसी परम्परा-विशेष एक शास्त्र से लेकर उसी परम्परा के अन्य शास्त्र अथवा इतर परम्परा के शास्त्रों के बीच प्रवहमान रहती है। दार्शनिक पदावली में कहें तो इसे भेदोन्मुखी वैखरी से प्रारम्भ होकर वैखरी में ही परिसमाप्य एक शुद्ध बौद्धिक यात्रा कह सकते हैं। ये बिन्दु कभी-कभी किन्हीं तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय, नीतिशास्त्रीय इत्यादि दार्शनिक विचार-विधाओं पर भी केन्द्रित हो सकते हैं। सम्प्रति चेतना-साध्य यात्रा के इस बुद्धिगत एवं भाषागत, तार्किकता एवं यौक्तिकता से सम्पन्न दूसरे वागात्मक आयाम को ही हम गौरव के साथ शुद्ध दार्शनिक चिंतन कहने लगे हैं। स्वरूपतः इस आयाम के अंतर्गत भाषा तथा बौद्धिक-विश्लेषण क्रमशः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माध्यम एवं पद्धति हैं। दर्शन में प्रयुक्त भाषा गठन एवं पदावली की दृष्टि से कैसी हो; उसमें तार्किक-विश्लेषण एवं यौक्तिक-निष्कर्षण की क्षमता कैसे विकसित की जाय; अर्थ के निधारण के लिए क्या प्रविधि या नियमावली हो इत्यादि–सम्विद् यात्रा के इसी द्वितीय वागात्मक आयाम के अंतर्गत आनुषंगिक अनुसन्धेय विषय हैं। भारतीय दर्शन के ही सदृश पाश्चात्य चिंतन क्रम में भी इस आयाम के अंतर्गत वैचारिक-विकास के अत्यंत गम्भीर चरण स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

भारतीय दर्शन के पुरातन विकासक्रम पर दृष्टिपात करें तो वैदिक एवं तांत्रिक दोनों ही आर्ष परम्पराओं में बोधात्मक एवं वागात्मक या भाषागत अथवा शास्त्रगत ज्ञान उपलब्ध है। दोनों ही परम्पराओं में यह एक स्वीकृत सिद्धांत है कि 'बोधात्मक परज्ञान, वागात्मक अपरज्ञान पर आरूढ़ होकर अर्थ के प्रकाशन में प्रवृत होता है।'[1] हम अपने दार्शनिक चिंतन के अंतर्गत विभिन्न निकायों के विकासक्रम को देखें तो भाषा को दो प्रकार से उपयोग में लाया गया है: प्रथमतः वैयक्तिक अनुभूति विशेष को प्रतीकात्मक या सूत्र अथवा मंत्र के रूप में वर्णित करने के लिए एवं पुनः उक्त विधा से उपलब्ध वर्णन का कालांतर में भाष्य करने एवं उसकी युक्तिसंगत व्याख्या, विवेचन या इतर दार्शनिक सिद्धांतों से उसकी तुलना, समालोचना करने के लिए। निस्सन्देह, दोनों ही आयामों में भाषा सम्प्रेषण का सबल आधार बनती है। किंतु यह स्मरण रखना होगा कि प्राचीन प्रतीकों के अर्थनिरूपण के सन्दर्भ में भाषा की भूमिका मूलतः तटस्थ मानी जाने योग्य है। ऐसे भाषागत प्रतीक के अर्थ-प्रकाशन एवं अर्थ-बोध या अभिप्राय-बोध दोनों ही प्रसंगों में जिज्ञासु या अर्थकर्ता के निजी चिद्विमर्श की स्थिति महत्वपूर्ण होती है। यहाँ हमारे लिए ज्ञानमीमांसा व तात्विक अनुसन्धान दोनों के ही क्षेत्र खुले रहते हैं। अरापुरा के मतानुसार मनुष्य एवं भाषा के मध्य का

---

1. म.म. गोपीनाथ कविराज, ***तांत्रिक साधना और सिद्धांत,*** बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; द्वितीय संस्करण-1994, पृ. 3-4

जुड़ाव उसे या तो मानव-दर्शन की ओर बढ़ाता है अथवा भाषा-दर्शन की ओर अभिप्रेरित करता है।[1]

एक ओर, श्रुति एवं अन्यान्य प्राचीन शास्त्र हमारी विविध निकायगत दार्शनिक चिंतन परम्पराओं के मूल रहे हैं तो अनेक साधकों, चिंतकों व दार्शनिकों द्वारा समय-समय पर किए गए अर्थनिरूपण के प्रयास इन परम्पराओं के विकासक्रम में प्रमुख कारक तत्त्व रहे हैं। शास्त्रगत अभिव्यक्तियों एवं भाषागत प्रतीकों के अर्थनिर्धारण के लिए भी अनेक नियमावलियाँ बनाई गई हैं; अर्थनिरूपण या भाष्य, शाब्दबोध आदि की प्रक्रिया के दार्शनिक तत्त्वों को स्पष्ट करने के लिए 'श्रुत्यर्थपर्यालोचन' या पाश्चात्य पदावली में कहें तो 'हर्मेन्यूटिक्स' जैसी विचार-विधाओं का विकास हुआ है। अत्यंत प्राचीन इतिहास के अंशभूत प्राचीन शास्त्र, जिन्हें हम ऋषियों की साक्षात् अनुभूतियाँ को व्यक्त करने वाली वागात्मक अभिव्यक्तियों का पारम्परिक श्रवण एवं कालांतर में समेकित अभिलेखन कह सकते हैं, आधुनिक भाषाशास्त्रियों एवं दार्शनिकों के लिए वैज्ञानिक-विधा से किए जाने वाले अध्ययन का विषय बन चुके हैं। मूल अनुभूति अवश्य श्रद्धा का विषय हो सकती है किन्तु अनुवर्ती क्रम में उपलब्ध उन्हीं अनुभूतियों को लक्षित मानवकृत भाषागत विवरण एवं अभिव्यक्तियाँ का सही दिशा में अनुशीलन करने के लिए श्रद्धा की अपेक्षा विवेक की आवश्यकता अधिक है। अन्ध-श्रद्धा से मुक्त आज का विवेकवान दार्शनिक इन शास्त्रों के प्रति अपने विषयीभाव को स्थगित रख शुद्ध विषयभाव या वस्तुनिष्ठ अध्ययन के प्रति समर्पित होता जा रहा है। सम्प्रति वह इस बात को सुनश्चित करने के लिए तत्पर दिखलाई देता है कि श्रुति व शास्त्रगत विवरण में कौन सा अंश शाश्वत मूल्य का निदर्शक या दार्शनिक महत्व का है और कितना भाग कतिपय पौराणिक-मिथक व तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थिति आदि मात्र को प्रतिबिम्बित करने वाला है। पुन: यह भी ध्यातव्य है कि अनुभूत सत्य यदि अनंत या नित्य प्रकृति का भी हो तो उसके वर्णन के माध्यमभूत भाषागत-अभिव्यक्ति और आनुषंगिक विवेचन, विश्लेषण आदि तो सदा परिसीमित होते हैं। इस विषय में के सच्चिदानन्द मूर्ति को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा: 'Today with our knowledge of the history of language and of the origin and development of the universe and man, we cannot accept any book —whether the *Veda* or the *Quran*—either as eternal or as composed by God. It can only be agreed that there are ideas of perennial value an eternal truths, which have been apprehended by the sages and prophets and which are embodied in different scriptures. .... no scripture is unique or complete. God could not hvae revealed the entire truth to anyone or to any race nor could any man or race have discovered the entire truth. As such no scripture is complete. There are profound truths, for example, in the *Bhagavadgita, Shrimadbhagavat,* the Tantric and other books which are not found in the Veda. No scripture is also unique because whither it is a revelation or a discovery, human intellect is responsible for its

---

1. अरापुरा, जे. जी., *Hermeneutical Essays on Vedantic Topics,* मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 1986; पृ. 146

formulation and expression in a language. So it is limited by the finiteness of the human as well as by the culture and time in which the latter functions. We have to also accept that scriptures do contain history mixed with myth and legenosQ. alongside empirical observations as well as valid generalizations based on them mixed with superstitions and wrong generalizations. But these do not form the core of the scriptures. .... it is the ethical intuitions, timeless metaphysical truths and spiritual techniques in them which constitute the core, the essence of scriptures.'[1] इतना ही नहीं, अपितु म.म. गोपीनाथ कविराज के अभिमत में ऐसा भी अभिकथित है कि प्राचीन काल में तो महापुरुष श्रोता के अनुरूप उपदेश प्रदान करते थे: 'देशानां लोकनाथानां सत्वाशयवशानुगा' (*बोधचित्तविवरण*) वस्तुत: उपदेश दो प्रकार बतलाए गए हैं: 'प्रथम उपदेष्टा के अनुभव अथवा दृष्टिकोण के अनुसार द्वितीय श्रोता के दृष्टिकोण के अनुसार।.......श्रोता का संस्कार तथा उसकी आध्यात्मिक स्थिति उपदेष्टा को प्रभावित करती है। उपदेष्टा उसी के तारतम्य से उपदेश प्रदान करते हैं।'[2] मूलत: अंत:प्रज्ञा एवं परा स्तरीय अनुभूतियों पर आधृत होने पर भी शास्त्रोक्त भाषागत अभिव्यक्तियों का अर्थनिरूपण करने का प्रयास सहज नहीं है। इसकी पूर्वपीठिका में जिज्ञासु की चेतना की स्थिति, भाषा परम्परा एवं ऐतिहासिकता से सन्दर्भित अनेक प्रागपेक्षाओं और पूर्वमान्यताओं की भूमिका होती है। उल्लेखनीय है कि इस विषय में भारतीय चिंतन के ही समान पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में भी पर्याप्त अध्ययन हुए हैं।

चिति एवं उसकी आत्मविमर्शकारी अनुभूतियों के मध्य तादात्म्य की पूर्वस्वीकृति से सन्दर्भित आगमिक मत के सूत्र 'तद्भूमिका सर्व दर्शन स्थितय:'[3] से सहज ही यह आपादित हो जाता है कि अनेक दृष्टियों एवं दर्शनों का सृजन कैसे सम्भव हुआ है। वस्तुत: चेतना की विभिन्न स्थितियाँ या अनेक चिद्भूमियाँ ही परस्पर भिन्न अनेक दार्शनिक निकायों या दृष्टियों की जनक हैं। फलत: इसमें से प्रत्येक दृष्टि को एक खण्ड-दृष्टि कहा जाएगा। ऐन्द्रिय अनुभूति व बौद्धिक व्यापार के क्षेत्र में मनुष्य मात्र की दृष्टि खण्ड-दृष्टि होती है व उसका चिंतन भेदमयी भाषा के माध्यम से भेदपूर्वक ही प्रवृत्त होता है। चेतना के मानसिक व बौद्धिक स्तर पर अखण्ड सत्ता का समग्रतापूर्वक ज्ञान सम्भव नहीं है। 'विभिन्न दार्शनिक प्रस्थान तथा वैज्ञानिक दीर्घकाल से सत्य निर्णय की चेष्टा करते आ रहे हैं, परंतु सत्य का स्वरूप द्रष्टा के दृष्टिकोणानुसार विभिन्न रूपों में भासित होता रहता है। देश, काल, रुचि, अधिकार तथा वातावरण की विभिन्नता के कारण एक अखण्ड सत्य खण्ड रूप में, परिच्छिन्न रूप से प्रतीयमान होता आ रहा है। समस्त दार्शनिक मतवाद एक परिमित एवं खण्ड-सत्य के ही सूचक हैं।....मन अंत: करण का साहाय्य लेकर सत्यान्वेषण

---

1. *Vedic Hermeneutics:* ***श्रुत्यर्थपर्यालोचना***, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ एवं मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1993; पृ. 5-6
2. ***अंतर्यात्रा***, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1991, पृ.27
3. 'सर्वेषां चार्वाकादि दर्शनानां स्थितय:–सिद्धांता: तस्य एतस्य आत्मनो नटस्येव स्वेच्छावगृहीता: कृत्रिमा भूमिका:।', क्षेमराजकृत *प्रत्यभिज्ञा हृदयम्*, सूत्र-8

करने पर सत्य का दर्शन परिछिन्न रूप में ही होता है। मन का कार्य है एक अविभक्त सत्ता को बहु: एवं विभक्तरूप में अनुभव करना। मन का निरोध करने से अथवा मन का अतिक्रमण करने से, तदंतर बोधभूमि में प्रविष्ट होने पर सत्य का पूर्ण दर्शन प्राप्त होने लगता है। नाना ऋषियों के नाना मत हैं। मत तो मन की भूमि की क्रीडा हैं। मन की भूमि का अतिक्रमण करने पर मत-मतांतर अस्तमित हो जाते हैं।'[1] किंतु अखण्ड एवं साक्षात् रूप में प्राप्त होने वाले अंत: प्रज्ञात्मक या प्रतिभा ज्ञान के साथ एक दूसरी ही समस्या उपस्थित हो जाती है; ऐसा ज्ञान बौद्धिक समझ एवं अंतर्वैयक्तिक-सम्प्रेषण की दृष्टि से उपयोगी नहीं हो पाता: 'Intuition is unable to give us the truth in that ordered and articulated form which our nature demanosQ......, in our surface being it is not the Intuition, it is the Reason which is organised and helps us to order our perceptions, thoughts and actions'[2] बौद्धिकता के प्रवेश के साथ ही प्रातिम रूप से अनुभूत सत्य, जिसका अनुभव या साक्षात्कार साधानादि के माध्यम से हमने स्वत: किया हो अथवा जो सिद्ध पुरुष या ऋषि आदि के द्वारा अनुभूत सत्य के भाषागत प्रतीकात्मक अभिलेख, मंत्रादि के रूप में हम तक शास्त्रगत परम्परा के माध्यम से पहुँचा हो, विश्लेषण, व्याख्या व अर्थनिरूपण का विषय बन जाता है। बौद्धिक अवबोध के अभाव में हम स्वयं ही इसे नहीं समझ सकते। बुद्धि की वर्गणा एवं तर्कणा से संस्कारित इस प्रकार के सत्य जिज्ञासुओं के मध्य सम्प्रेषणीय व विवेच्य हो जाते हैं। यही सत्य कालांतर में अनेक दार्शनिक सिद्धांतों के जनक होते हैं। इस प्रकार परास्तर का बोधात्मक अनुभव या अंत:प्रज्ञात्मक अनुभूति तथा मनोगत बौद्धिक अवबोध की भूमियाँ परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। फिर भी, बिना इन दो भूमियों के मध्य सम्वादिता की सम्भावना के भारतीय दार्शनिक चिंतन का पात्र तो प्राय: रिक्त हो जाएगा।

स्वयं के बौद्धिक-विमर्श का विस्तार आत्म-विमर्श के रूप में किए बिना खण्ड-दृष्टि से मुक्ति सम्भव नहीं है। समग्र सत्य के बोध के लिए हमें मानसिकता व बौद्धिकता से परे जाना होगा। कविराज के शब्दों में कहें तो वागात्मक ज्ञान से बोधात्मक ज्ञान की ओर चेतना की गति अपेक्षित है। कोई ज्ञानमीमांसीय प्रयास न होकर तत्वाधारित समग्रतामूलक परिवर्तन का द्योतक है। पुन: आगमसम्मत 'यद् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' पर आधारित दृष्टि का समर्थन हमें श्री अरविन्द में भी मिलता है[3] जो यह स्वीकार करते हैं कि व्यष्टि चिति को पूर्णत: जानकर समग्र समष्टिगत ज्ञान को सहज ही आत्मसात किया जा सकता है, '.......the knowledge of the contents is contained in the knowledge of the continent. If then we can extend our faculty of *mental self-awareness to awareness of the self* beyond and outside us...... we may become possessors in experience of the truths which from the contents of the Atman or Brahman in the universe. It is on this possibility that Indian Vedanta has based itself. It has sought

1. म. म. गोपीनाथ कविराज, ***अंतर्यात्रा***, पृ.25-6
2. ***The Life Divine,*** श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी; 1977, पृ. 68
3. "....... each is the whole Eternal concealed", ***The Life Divine,*** p. 381

through knowledge of the Self the knowledge of the universe.'[1] वस्तुतः शुद्ध आत्म-विमर्श में ही सम्पूर्ण बोधात्मक ज्ञान समाहित है। समष्टिगत ज्ञान तो उसका आनुषंगिक फल मात्र है।

इस विषय में एक और पक्ष विचारणीय है। एक ओर तो समग्रतामूलक व ऊर्ध्व-स्तरीय अनुभूति से प्रारम्भ चेतना की आत्मविमर्शकारी यात्रा मानसिक स्तर पर भाषा एवं बौद्धिकता से संस्कारित हो अनेक दर्शनों या दृष्टियों का रूप ग्रहण कर लेती है; दूसरी ओर इन्हीं दर्शनों के माध्यम से अवधारित अनेक भाषागत-अभिव्यक्तियों के अर्थ हमें उन आर्ष-अनुभूतियों के साक्षात्कार के प्रति सम्प्रेरित करते हैं जिनसे ये मूलतः उद्भूत हैं। शास्त्रों में निर्दिष्ट साधनाओं के अभ्यास एवं अनुग्रह आदि से सतत विमर्शकारी चेतना का यह प्रत्यावर्तन सम्भव भी बतताया गया है। इसे हम वागात्मक दार्शनिक अध्यवसाय से बोधात्मक अनुभूति या शुद्ध आत्म-विमर्श की ओर साधक की यात्रा कह सकते हैं। समग्र सत्य की परासम्विद्रूप अनुभूति में विषयी एवं विषय की अखण्डता या तादात्म्यता की बात कही जाती है। बौद्धिक विकल्पों व भाषागत अभिव्यक्तियों के लिए न तो वहाँ कोई अवकाश है, न ही स्थिति में इनका प्रयोजन शेष रहता। अंततः यह कहा जा सकता है कि बोधात्मक अनुभूति, तद्विषयक भाषागत अभिव्यक्तियाँ, अर्थनिरूपण के कारक-तत्त्व एवं विभिन्न दार्शनिक निकायों की स्थिति–यह सभी चेतना के अभेदात्मक आत्म-विमर्श से प्रारम्भ हुई उसकी भेदमयी यात्रा के विभिन्न पड़ाव मात्र हैं। निश्चित रूप यह सहज स्वीकार्य प्रतीत होता है कि चेतना अपनी अखण्डात्मक व आत्मविमर्शात्मक अनुभूति की आद्य अवस्था में दर्शनशास्त्रगत दृष्टि-वैभिन्न्य, भाषागत अभिव्यक्तियों के भेद एवं अन्यान्य बौद्धिक विकल्पों से मुक्त हो शुद्ध आत्म-विमर्श करती है।



1. "........ each is the whole Eternal concealed", *The Life Divine,* p. 65

वामनावतरणम् महाकाव्य में दार्शनिक चिन्तना

प्रो० राजेश्वर मिश्र

भारत की चिरकालीन उदात्त चिन्तन-परम्परा का निदर्शन वेद से प्रारम्भ करके अद्यपर्यन्त चिन्तन की वह परम्परा अक्षुण्ण प्रतीत होती है। वेद में सूत्र रूप में जिन दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन हुआ, उपनिषदों में आकर वही विचार एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो गये और तदुपरान्त आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन की दो धाराओं में उनका उत्तरोत्तर पल्लवन होता रहा और अन्ततः अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों ने जन्म लिया। भारतीय परिवेश में चिन्तन करने वाला प्रत्येक मनीषी या कवि भारत की उस चिन्तनशील दार्शनिक परम्परा से स्वयं को अछूता नहीं रख पाता; अतः भारतीय संस्कृति में पलने वाले प्रत्येक कवि की रचनाओं में भी अवसरानुकूल वे दार्शनिक विचार स्वतः गुम्फित हो जाते हैं। प्रस्तुत पत्र में बीसवीं सदी के एक प्रख्यात कवि एवं काव्यसिद्धान्त-परम्परा के कुशल संवाहक और अभिनव काव्यसिद्धान्तकारों में अन्यतम त्रिवेणी कवि प्रो० अभिराज राजेन्द्र मिश्र के महाकाव्य में प्रकारान्तर से सहज संकेतित दार्शनिक चिन्तन की मीमांसा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

'वामनावतरणम्' महाकाव्य संस्कृत साहित्य की प्रत्येक विधा में सशक्त लेखनी के धनी लब्धप्रतिष्ठ कविवर प्रो० मिश्र द्वारा प्रणीत एक महाकाव्य है, जो सत्रह (17) सर्गों में निबद्ध है। 'श्रीमद्भागवतमहापुराण' में वर्णित बलि-वामन[1] प्रसंग को आधार बनाकर प्रस्तुत महाकाव्य की रचना की गयी है। इस पुराण का बलि-वामन प्रसंग एक ऐसा अनुकरणीय उदात्त चरित है, जो मर्मस्पर्शी एवं शिक्षाप्रद तो है ही, साथ ही वर्तमान युग में स्वार्थान्ध, मूल्यहीन, व्यवस्था-विरोधी तथा सत्तालोलुप भारतीय लोकतन्त्र के लिए पथ प्रदर्शक भी है। इस महाकाव्य का प्रणयन 1968 ई० में प्रारम्भ हो चुका था, परन्तु 1987 ई० में यह पूर्ण हुआ और 1994 में प्रकाशित हुआ।

श्रीमद्भागवत की बलि-वामन कथा में बलिनिग्रह का रहस्य समझने की लिए अत्यन्त धैर्य, संयम तथा गहन चिन्तन की आवश्यकता है। सामान्यतया इसका निष्कर्ष यह माना जाता

---

1. भागवतपुराण, अष्टम स्कन्ध, अध्याय 18-23.

है कि देवराज इन्द्र की स्वार्थसिद्धि के लिए बलि को छला गया और उसे ऐश्वर्यच्युत करके बलि द्वारा अपहृत अमरावतीपुरी (इन्द्रपुरी) के राजसिंहासन पर इन्द्र को पुनः अभिषिक्त कर दिया गया। परन्तु कवि की अपनी धारणा इससे सर्वथा भिन्न है। उनके अनुसार वस्तुतः भगवान् त्रिविक्रम (विष्णु) ने बलि को छला नहीं, न ही उसे ऐश्वर्यच्युत किया और न ही पाताल भेजकर दण्डित किया, प्रत्युत मदोद्धत, देवसंस्कृति के विनाशक तथा भोगवादी दानवसंस्कृति का समर्थन करने वाले, अहंकार के मद में चूर वामन-कथा में तिरोहित परमेश्वर के विराट्स्वरूप का दर्शन न कर सकने वाले बलि के अहंकार को खंण्डित करना था,[1] क्योंकि दानवराज बलि वैष्णव-कुल में उत्पन्न होकर भी मदोद्धत हो उठा था तथा परम विष्णुभक्त प्रह्लाद के वंश में जन्म लेकर भी भृगुवंशियों द्वारा उपार्जित तपोबल से उसने देवसंस्कृति का विनाश किया और उसके स्थान पर भोगवादी दानव-संस्कृति की प्रतिष्ठापना की, जो मूल्यहीन, जनविरोधी और आत्मकेन्द्रित थी। अतः भगवान् विष्णु उसके अहंकार को नष्ट करना चाहते थे।[2] कवि की ऐसी मान्यता है कि त्रिपदा-धरित्री की याचना के बहाने बलि के राजमद एवम् अहंकार को खण्डित कर देने पर भी भगवान् विष्णु ने उसके प्रति वत्सलता का व्यवहार किया। वस्तुतः उन्होंने बलि का निग्रह नहीं, अपितु उस पर अभूतपूर्व 'अनुग्रह' किया। उसे सर्वोदयकाँक्षिणी देवसंस्कृति का अर्थ समझाया तथा अपनी अपार वत्सलता एवं कृपा से उसकी सम्पूर्ण राज्यैषणा को ही समाप्त कर दिया[3]; अतः भगवान् वामन का उद्देश्य मात्र बलि का गर्वभञ्जन था, ऐश्वर्यभञ्जन नहीं। अतएव उसका अहंकार नष्ट होते ही उन्होंने उसे सुतल लोक के अक्षुण्ण साम्राज्य के साथ-साथ मन्वन्तर में 'इन्द्र' बनने का आशीर्वाद भी दिया।[4]

वस्तुतः यह एक चरितप्रधान महाकाव्य है तथापि इस कथा में तिरोहित परमेश्वर (विष्णु) के विराट्स्वरूप का दर्शन न करने वाले बलि के दर्पणभञ्जन के उद्देश्य से प्रणीत इस

---

1. वामनाव॰, 8.7-11: व्रतं नु मे गर्वविनाशकारकम् (7)
2. तदेव, 8.9 : हराम्यहं शक्तिमदं दुरत्ययं,
   बलेर्झटित्येव सुरर्द्धिहारकम्।। (एवम्)
   तदेव, 8.11: इतीव चित्तेऽभ्युदिता विचारणा
   शतीपतिर्क्षेमकरी मनस्विनी।
   वटोर्यदा वामनरूपधारिणः
   समर्थयोगा बलिगर्वहारिणी।।
3. वामनाव, त्रयोदश सर्ग (सम्पूर्ण) एवं चतुर्दश सर्ग का प्रथम श्लोक।
4. तदेव, 14.21: ऐन्द्रीं ख्यातिं यास्यसि त्वं भविष्ये
   सावर्णेये दिव्यमन्वन्तराले।। (एवम्)
   14.22 : एतन्मध्ये सौतलं लोकमध्या-
   स्तां सौवर्णं विश्वकर्मप्रणीतम्।।

महाकाव्य में यत्र-तत्र अवसरानुकूल अनेक दार्शनिक विचारों का संकेत मिलता है। यद्यपि इस ग्रन्थ में दार्शनिक सिद्धान्तों के लिए कोई अवकाश नहीं है, फिर भी कवि ने बलि को ईश्वरीय दृष्टि अथवा विराट्-ब्रह्म के तात्त्विक रूप का ज्ञान करवाने के उद्देश्य से स्थल-स्थल पर दार्शनिक चिन्तना को समुचित स्थान दिया है। इस महाकाव्य के 'वामन-विश्वरूपता' नामक द्वादश सर्ग और 'बलिनिग्रह' नामक त्रयोदश सर्ग में परमेश्वर के विराट् स्वरूप के वर्णन-प्रसंगों में कुछ दार्शनिक चिन्तन अन्वेष्टव्य हैं–

'वामनावतरणम्' महाकाव्य के प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में ही 'वेद' को प्रमाण करते हुए कवि वेद को आदि, मध्य और अन्त से विहीन परमगति अर्थात् 'मोक्ष' के बराबर मानकर ब्रह्मज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति की ओर संकेत करता है।[1] पञ्चम सर्ग में देवमाता अदिति से आश्रम का कुशल-क्षेम पूछते हुए महर्षि कश्यप द्वारा तपस्वियों की कुशलता जानने के प्रसंग में 'ऋत' और 'सत्य' की गवेषणा में लीन तपस्वियों के व्याज से कवि ने उस 'ऋततत्त्व' की ओर संकेत करना चाहा है, जो सृष्टि के शाश्वत नियम, या विष्णु अथवा सत्य स्वरूप ब्रह्म का द्योतक है।[2] इसी सर्ग में पुत्रमोह से व्यथित अदिति को संसार की निःस्सारता, शरीर की नश्वरता और आत्मा की चिन्मयता एवं निर्बन्धता का उपदेश करते हुए महर्षि कश्यप 'पाँच भौतिक तत्त्वों से बने हुए नाशवान् शरीर और प्रकृति से चैतन्य आत्मा सर्वथा पृथक् है', इस दार्शनिक दृष्टि का बोध कराते हैं तथा इन तीनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है?, इसका भी संकेत करते हैं।[3] एवमेव षष्ठ सर्ग में अदिति के गर्भ में भगवान् श्री हरि को देखकर ब्रह्मा द्वारा उनकी स्तुति के माध्यम से कवि ने सृष्टि के निमित्तकारणभूत ब्रह्म एवम् उपादानकारणभूत ब्रह्म का तथा मायोपाधिक ब्रह्म के जीवरूप का संकेत किया है[4] तथा यह भी बताया है कि यह ब्रह्म अक्षय, निर्विकार, चैतन्य स्वरूप, त्रिलोक का नियन्ता होते हुए भी कर्मबन्धन से प्रभावित नहीं होता प्रत्युत सर्गरचना-रूप अपनी लीला मात्र से जगत् की रचना करता है।[5] इसी सर्ग में वामनावतार श्रीहरि की बाल-चपलता से प्रसन्न अदिति मन ही मन उस वामन रूप

---

1. तदेव, 1.4 : परमगतिसरूपं वेदभूपं नतोऽस्मि।
2. वामनाव, 5.7: अपि भद्रमिहास्ति तपोधनिनाम्।
   ऋतसत्यगवेषणयत्नवताम्।।
3. तदेव, 5.20 : क्व नु भौतिकतत्त्वशरीरमिदं पृथगात्म विनाशि परः प्रकृतेः।
   क्व च चिन्मय आत्मसुकीर्तिधरो ननु बन्धनमुक्त इह प्रथितः।।
4. तदेव, 6.16 : निमित्ताय सृष्टेर्नमस्ते परेश! ह्युपादानभूताय तुभ्यं नमो मे।
   स्वमायावशीभूतचिद् विग्रहाय गुणातीतरूपाय तुभ्यं नमोऽस्तु।।
5. तदेव, 6.17 : नियन्ता त्रिलोक्याः स्वयं चिन्मयो यः परब्रह्मनामाऽक्षयो निर्विकारः।
   कथं कर्मबन्धावसक्तो भवेत्सः स्फुरल्लीलयैवास्ति जारास्तथापि।।

में ब्रह्म के उस तत्त्विक रूप का अनुभव करने लगती है, जिसकी कुक्षि में सांसारिक जीवों का यह प्रपञ्च समाया हुआ है तथा जिसके लिए यह अपार समुद्र गोष्पद के समान है।[1] इन विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें कवि की दार्शनिक चिन्तना प्रबल हो गयी है।

प्रस्तुत महाकाव्य के अष्टम सर्ग में विद्याधिष्ठान के अभिनव अवतार वामन भगवान् के विद्याधिगम की चर्चा करते हुए कवि अचानक दार्शनिक हो उठता है और यह अभिव्यक्त करता है कि "इस संसार में एक मात्र ज्ञातव्य तत्त्व वही परमेश्वर है और भूतल पर वेद-दीप-स्वरूप वेत्ता भी वही है; अतः उसके अतिरिक्त इस जगत् में कुछ भी शेष नहीं रह जाता"।[2] कवि का यह विचार उस परमसत्ता ब्रह्म के ही स्मरण से ओतप्रोत है, जो गीता में निम्न शब्दों में अभिव्यक्त है–

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।[3]

तथा वेदों[4] और उपनिषदों में बहुधा चर्चित है।[5] इसी प्रकार नवम सर्ग में प्राणियों के असन्तोष की चर्चा करते हुए कवि ने वामन के मुख से इस दार्शनिक तथ्य को व्यक्त किया है कि "अर्थ एवं काम विषयक अतिशय असन्तुष्टि ही निश्चयेन मनुष्यों के संसरण अर्थात् जन्म-मृत्यु का एकमात्र कारण है तथा सन्तोष ही मुक्ति का हेतु है।"[6] पुनः दशमसर्ग में दैत्यराज बलि को छद्मशरीरधारी वामन से आत्मरक्षा का उपदेश करते हुए शुक्राचार्य के माध्यम से कवि ने यह दार्शनिक विचार व्यक्त किया है कि" सभी प्राणियों के कर्म का साक्षी स्वयमेव परमेश्वर होता है"।[7] एकादश सर्ग में श्रीहरि में आसक्त चित्त-वृत्ति वाले बलि

---

1. तदेव, 6.25 : अहो यस्य कुक्षौ स्थितोऽयं प्रपञ्चो
 जगत्प्राणिनां गोष्पदं यस्य सिन्धुः।
2. वामनाव, 8.3: स एव विज्ञेयचरं ह्यनेहसि स एव वेत्ता भुवि वेददीपकः।
 ऋते च तस्मादिह नोऽवशिष्यते-----।।
3. गीता, 11.38.
4. ऋ. 10.129 (नासदीयसूक्त); 10.72 (सम्पूर्णसूक्त); 10.121 (हिरण्यगर्भसूक्त); 10.90 (पुरुषसूक्त); तुल० अथर्व०, 19.6.4; 11.9 (अच्छिस्ट सू०); वही 10.7-8 (स्कम्भसूक्त) आदि।
5. ऐत० उप०, 1.1.1; ईशोप० 1; श्वेता० उप० 6.16; छान्दो० 3.14.1; 6.2.1; बृह० उप०, 1.4; तै० उप० 2.6-7; मुण्ड० उप०, 1.1; माण्डु० उप० 1-2; प्रश्नो० 1.4 आदि।
6. वामनाव, 9.33: अर्थस्य कामस्य च भूर्यतुष्टिः संसारहेतुर्ध्रुवमेव पुंसाम।
 सन्तोष एवास्ति परन्तु राजन् मूलं विमुक्तेर्विबुधा प्रमाणम्।।
 तुलनीय-गीता, 9.21.
7. वामनाव, 10.27: स्वयं चेश्वरः कर्मसाक्षी समेषाम्।

द्वारा सत्त्व-रजस्-तमस्-रूप त्रिगुणात्मिका मूर्ति वाले भगवान् नारायण के तत्त्वत: दर्शन में भी ब्रह्म-तत्त्वदर्शन का रहस्य व्यक्त होता है।[1] पुन: इसी सर्ग में दुम्भ का आवरण दूर हो जाने पर बलि के अच्युतमय होने के उल्लेख[2] में आत्मसाक्षात्कार के उपरान्त ब्रह्ममय होने की बात छिपी हुई है, जिसका परिणाम यह है कि बलि सम्पूर्ण चराचर जगत् को ही विष्णुमय देखने लगता है[3] और विष्णुभाव को प्राप्त हो जाता है, जो उपनिषद् के **''स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति''**[4] इस दार्शनिक तथ्य का स्मरण दिलाता है।

इस महाकाव्य के द्वादश सर्ग में विष्णु के विराद्स्वरूप का वर्णन करते हुए अनेकशः कवि का दार्शनिक चिन्तन गहन हो उठा है। यहाँ कवि ने महामहिमा से मण्डित, सत्त्व-रजस् एवं तमस्-रूप गुणत्रय से विभूषित, सीमारहित, महान् विक्रम से युक्त तथा समग्र मानों (नाप-तौल) का अतिक्रान्त करने वाले जिस विराट् रूप का वर्णन किया है[5], वह ब्रह्म का ही रूप है, जो ऋग्वेद के विष्णु-सूक्त में रूपायित हुआ है।[6] इसी विराट् पुरुष के देह की परछाइयों में भयावह मृत्यु और उसकी मुस्कान तथा अट्टहास में हृदयहारी मायाबल की चर्चा करते हुए[7] कवि हिरण्यगर्भसूक्त में दृष्ट प्रजापति की महिमा[8] का ही बखान करता प्रतीत होता है। एवमेव बलि के माध्यम से कही गयी इस उक्ति–**''विहाय परमेश्वरं जगति सर्वमेवास्थिरम्''** (वामना॰ 12.28) में स्पष्टत: जगत् की नश्वरता और ईश्वर या ब्रह्म के शाश्वतस्थैर्य का संकेत प्राप्त होता है। पुन: विराट् पुरुष के जिस पद को ऐश्वर्य का मूल, सुखों का निधान एवम् आपदाओं से सर्वथा मुक्त बाताया है, वह वस्तुत: विष्णुतत्त्व (ब्रह्म) के त्रिविक्रम का ही स्वरूप प्रतीत होता है[9] जिसके विस्तृत त्रिविक्रम में सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठित माना गया है।[10]

'वामनावतरणम्' महाकाव्य के त्रयोदशसर्ग में भी विरोचनपुत्र बलि द्वारा भगवान् के

---

1. तदेव, 11.39 : हरिं रजस्सत्त्वतमस्त्रिमूर्तिं ददर्श तद्युक्तमना: क्षितीन्द्र:।। 19.20, 21
2. वामनाव॰, 11.43: तथैव दम्भावरणेऽपयाते बलिर्बभूवाच्युतनिर्विशेष:।
3. तदेव, 11.45 : ददर्श सर्वं स तथा नरेन्द्रश्चराचरं विष्णुमयं समक्षम्।
4. मुण्डकोप॰, 3. 2. 9.
5. वामनाव॰, 12.4 : महामहिममण्डितं त्रिगुणभूषितं पण्डिता
   अनन्तमुरुविक्रमं क्रमितसर्वमानं परम्।।
6. ऋग्वेद, 1. 154 (विष्णुसूक्त सम्पूर्ण)।
7. वामनाव॰, 12.11: दुरन्तमरणं महापुरुषदेहछायास्वपि
   स्मितेषु हसितेष्वहो हृदयहारि मायाबलम्।।
8. ऋग्वेद, 10.121 (सम्पूर्ण), विशेषत:- यस्य छायामृतं यस्य मृत्यु:, कस्मै देवाय हविषा विधेम।।
9. वामनाव॰, 12.39: यत्पदं सम्पदां मूलं यत्पदञ्च निरापदम्-----।
10. ऋग्वेद, 1. 154.2: यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।

चरणकमल की स्तुति करते हुए उन्हें सम्बोधित किये गये उनके विशेषणों में अनेकत्र अनेक दार्शनिक विचार दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ ''**त्रिभुवनविवरनिरन्तरसुयशाः श्रितमायोऽप्यतिमाय॥**'' (13.2) इस पँक्ति में मायाश्रित होकर सृष्टि रचना करते हुए भी माया से अप्रभावित रहने वाले जिस तत्त्व का संकेत है, वह 'ब्रह्म' या 'ईश्वर' ही है। पुनः वामनरूपधारी श्री हरि को विलम्ब से पहचानने की भूल के लिए क्षमाप्रार्थी बलि द्वारा उक्त उनके प्रार्थनापरक वचनों में भी कवि द्वारा अनेक दार्शनिक तथ्य उपदिष्ट हैं। ''**विविधयोनिसंसरणवासनाविस्मृतशिवस्वरूपः**''[1] इस पँक्ति में वह दार्शनिक विचार निहित है कि नाना प्रकार की योनियों में संचरण करते हुए उनकी वासनाओं के कारण जीव अपना 'शिवरूप' अर्थात् ''**अहं ब्रह्मास्मि**'' यह तथ्य भूल जाता है और वह 'स्व' की पहचान करने में असमर्थ हो जाता है। अतः एतदर्थ उसे पुनः आत्मसाक्षात्कार की आवश्यकता पड़ती है, जो दार्शनिक दृष्टि से जीव, परमात्मा और जगत् के परस्पर सम्बन्ध के ज्ञान से ही सम्भव हो सकता है, क्योंकि जरा-मरण, पुनर्जन्म-रूपी बन्धनों के कारण जीव का अपना 'तत्' भाव अर्थात् परमार्थतः 'परमात्मस्वरूप' होने का भाव विस्मृत हो जाता है और मलावरोध अर्थात् अज्ञान के कारण अपने वास्तविक रूप को नहीं जान पाता, जिसका संकेत कवि स्पष्टः इन पँक्तियों में करता है–

विस्मृततत्तो जरामरणभवबन्धनचयानुरोधैः।
जीवः परिरक्षितेदन्तको निहतो मलावरोधैः॥[2]

कवि यहाँ पुनः उस दार्शनिक दृष्टि की ओर संकेत करता है कि इस '**तत्ता**' अर्थात् '**परमात्मस्वरूपता**' और '**इदन्ता**' अर्थात् वर्तमान् जन्म के स्वरूप के मध्य एक अज्ञानान्धकार का गहन घेरा है जिसका छेदन ईश्वर की कृपा से ही सम्भव है। उसी की कृपा से कर्मवासनाओं तथा मलों का अवरोध पूर्णतः नष्ट हो जाता है और अन्ततः वह जीव सुस्पष्ट रूप से अपने को स्वयं में समाया हुआ देखता है, जो सत्त्व-रजस्-तमस् रूपी विकारत्रय से विहीन, अप्रतिम, अनन्त प्रकाशमान् तथा परमात्मस्वरूप है। परन्तु इस अज्ञानान्ध का विनाश और परमतत्त्व की प्राप्ति भगवत्कृपा से ही होती है। यह मत काश्मीर-शैव दर्शन, जैन, बौद्ध, वेदान्त आदि प्रायः सभी दार्शनिक सम्प्रदायों को स्वीकार्य है। इसी का संकेत कवि ने यहाँ अग्रिम दो श्लोकों में किया है।[3] यही नहीं, ''जीव को तत्त्वज्ञान हो जाने पर ही उसके मन में वैराग्यभाव जन्म लेता है'' इस दार्शनिक सत्य का संकेत भी कवि इन शब्दों में करता है–

---

1. वामनाव॰ 13.11.
2. तदेव, 13.12.
3. तदेव, 13.13-14: त्वत्कृपयैव विनश्यति यावन्मध्येतत्तेदन्तम्।
कर्मवासनामलावसेधस्तीर्त्वा तमो दुरन्तम्॥
स्फुटं तद्रा पश्यति जीवोऽयं निहितं त्वय्यात्मानम्।
निर्विकारमप्रतिममनन्तं विशदं परमात्मानम्॥

संसृतिहेतुभूतया भगवन्! किं भार्यया भवेऽस्मिन्?
गेहैश्चापि को नु खलु लाभः किन्नु सुखं बन्धेऽस्मिन्।।[1]

यो विजहात्यन्ततश्शरीरं किमात्मना ननु तेन?
रिक्थहारिणा किञ्च भूतले दस्युनिभस्वजनेन।।[2]

अर्थात् संसार में बार-बार संसरण का कारणभूत भार्या, भवनादि से क्या लाभ? तथा इन बन्धनों में कौन सा सुख है अर्थात नहीं है तथा जो अन्त समय में शरीर को छोड़ देता है उन प्राणों से क्या लाभ? और संसार में धन-ऐश्वर्य के भोक्ता स्वजनों से भी क्या लाभ? अर्थात् कुछ भी नहीं आदि वैराग्य-सम्बन्धी भावों का मन में आगमन भी हरि कृपा से ही होता है।

इसके अतिरिक्त चतुर्दश सर्ग में भगवान् वामन शरणागत, दर्पविहीन तथा राज्यैश्वर्य की आसक्ति से सर्वथा रहित प्रह्लाद-पुत्र बलि को आश्वस्त करते हुए जो उपदेश करते हैं, उसमें भी अनेक दार्शनिक विचार समाहित हैं। कवि ने श्रीहरि के मुख से बलि को यह अवगत कराया है कि काम, क्रोध अथवा मोह, लोभादि भाव जीव को तभी तक पीड़ित करते हैं, जब तक उसके मन में मेरे स्वरूप अर्थात् आत्मा के तात्त्विक स्वरूप से आप्यायित दिव्य ज्योति उदित नहीं होती।[3] अतः वामन की बलि के प्रति कही गई इस उक्ति कि "तुम आसक्ति से रहित होकर मुझसे ओतप्रोत तथा मुझमें समर्पित चित्तवृत्ति वाले हो गये हो"[4], से यह ध्वनित होता है कि बलि में आत्मा के तात्त्विक स्वरूप की दिव्य ज्योति जग गयी है और वह भगवत्स्वरूप हो चुका है। यहाँ परोक्षरूप से जीव की आत्मासाक्षात्कार करने की अवस्था अथवा ब्रह्मज्ञान की अवस्था का भी बोध होता है। वामन के माध्यम से कवि द्वारा कहे गये उपर्युक्त वचन गीतोवक्त उन दार्शनिक उपदेशों का स्मरण कराते हैं जिनमें भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को यह उपदेश किया है कि परमेश्वर के ध्यान में निमग्न चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाशरूप दिव्य पुरुष अर्थात् परमेश्वर को ही प्राप्त होता है[5]

---

1. वामनाव, 13.21.
2. तदेव, 13.20.
3. तदेव, 14.6 : कामक्रोधौ मोहलोभादिका वा भावास्तावत्प्राणिनं पीडयन्ति।
   यावत्तेषां हृत्सु नैवाभ्युदीते दिव्यं ज्योतिर्मत्स्वरूपानुलीनम्।।
4. तदेव, 14.5 : वत्सोत्तिष्ठ त्वं समुत्तीर्णरागो
   मय्याविष्टो मन्मनाश्चासि जातः।
5. गीता, 8.8 : अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
   परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।

तथा मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परमपद को प्राप्त हो जाता है।[1] इसके अतिरिक्त इसी सर्ग में स्वयं वामन भगवान् द्वारा आत्मस्वरूप के वर्णन में भी ब्रह्म या परमात्मा का स्वरूप लक्षण परिलक्षित होता है, जहाँ उन्होंने स्वयं को सम्पूर्ण विश्व का आधार, सात्त्विकता से ओत-प्रोत, निस्संग, विकाररहित, दिव्यप्रकाश से युक्त तथा मोक्ष और कैवल्य का एकमात्र हेतु बताया है।[2] वामन के उपदेश के माध्यम से कवि ने उस दार्शनिक दृष्टि को भी प्रस्तुत किया है कि ''नाना योनियों में संसरण के पश्चात् जीवात्मा यदि कभी मानव योनि में जन्म लेता है तभी तत्त्वज्ञान प्राप्त कर वासनाओं के क्षीण होने पर वह जडत्व अर्थात् सांसारिक ऐश्वर्य के प्रति उदासीन होता है।[3]

इस महाकाव्य के पञ्चदश सर्ग में सृष्टि-रहस्य का उपदेश भी किया गया है। तदनुसार भगवान् वामन् ने बलि को यह बताया है कि अखिल जगत्-प्रपञ्च प्रजापति ब्रह्मा द्वारा तीन गुणों (सत्त्व, रजस् एवं तमस्) के सहयोग से निर्मित किया गया है; अतः यह अनेक भावों (संवेदनाओं) से पृथक्-पृथक् रूप में दिखाई पड़ता है।[4] उन्होंने यह भी बताया कि इसी कारण से स्वयं त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी तीन प्रकार के परिणामों वाली है।[5] इससे स्पष्टतः सृष्टि-विकास की प्रक्रिया के साथ-साथ इसका भी संकेत मिलता है। कि तीन गुणों की साम्यावस्था प्रकृति का स्वरूप है[6] और इसमें परिणाम या विकार होने पर सृष्टि-प्रक्रिया का आरम्भ होता है। पुनः इस जगत् के विस्तार की चर्चा करते हुए कवि वामन भगवान् के मुख से यह भी इंगित करता है कि परमात्मा के ऋत, सत्य तथा तपश्चर्या के ही बल से इस सम्पूर्ण जगत्-प्रपञ्च का निरन्तर विस्तार होता रहता है[7], जो ऋग्वेद के भाववृत्त सूक्त में अभिव्यक्त विचार से साम्य रखता है[8] इन दार्शनिक विचारों के अतिरिक्त इस महाकाव्य में

---

1. तदेव, 18.56 : मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्। एवं गीता, 18.62
2. वामनाव॰ 14.8 : विश्वाधारः किन्तु सत्त्वप्रपन्नो निस्सङ्गोऽहं निर्विकारोऽस्मि वत्स।
   नो वाधेते मा रजो वा तमोवा ज्योतिर्मूलं मुक्तिकैवल्यहेतुम्।।
   तुलनीय, गीता, 8.9-11; 9.4; 10.8; 11.18; 11. 37-38 इत्यादि।
3. वामनाव॰, 14.13 : जीवात्मा संसरन् कर्मभिः स्वैर्नानायोनिष्वाव्रजेत्पौरुषीं चेत्।
   अक्षीणाभिर्वासनाभिः प्रकामं तस्य स्तम्भो जायते एव नूनम्।।
4. तदेव, 15.3 : निखिल जगदिदं त्रिभिर्गुणैर्विरचितमस्ति विरञ्चिनाऽद्भुतम्।
   परिणमति ततः पृथक् पृथक् शतशतभाव विभावभूपितम्।।
5. तदेव, 15.6 : त्रिगुणनिवहशालिनी ततः प्रकृतिरियं त्रितयान्विता स्वयम्।
6. सांख्यसूत्र, 1.61 : सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।
7. वामनाव॰, 15.11 : ऋतेन सत्येन तपोभिरेव नित्यं विधिः सर्वमिमं प्रपञ्चम्।।
8. ऋग्वेद, 10.190.1-3 : ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
   ततो रात्र्याजायत ततः समुद्रो अर्णवः।। इत्यादि।

उल्लिखित भगवान् विष्णु के कूर्म, मत्स्य, वराह, नृसिंह, वामन आदि विभिन्न रूपों वाली अवतारवाद की कल्पना[1] में भी दार्शनिक दृष्टि निहित है, जिसमें प्रलय के पश्चात् पुनः सृष्टि -निर्माण की प्रक्रिया का भान होता है। उदाहरणार्थ शतपथ-ब्राह्मण में प्रतिपादित मत्स्य-आख्यान[2] इसका एक निदर्शन है जिससे इस बात की पुष्टि की जा सकती है।

इस प्रकार उपर्युक्त दार्शनिक सन्दर्भों के आलोक में निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि इस महाकाव्य में जीव, जगत्, आत्मा-परमात्मा अथवा ब्रह्म, तीनों के परस्पर सम्बन्ध, जन्म-मृत्यु, सृष्टि, मोक्ष अथवा कैवल्य आदि अनेक दार्शनिक बिन्दुओं से सम्बद्ध विचारों का तथ्यात्मक ज्ञान प्रसंगतः प्राप्त होता है, जिसे विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में विस्तरेण विवेचित किया गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि की दार्शनिक चिन्तना परम्परया गहन है और आस्तिकता से परिनिष्ठित है तथा परम्परा से परिपोषित है।



---

1. वामनाव॰, 13.48-52 (पाँच श्लोक)।
2. शतपथ-ब्रा॰, प्रथम काण्ड, अष्टम अध्याय, प्रथम ब्राह्मण (1.8.1)।

वैचारिक स्वराज और भाषीय राजपथ

प्रो० अम्बिकादत्त शर्मा

आधुनिक भारत के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी अपने प्रारम्भिक और पार्यन्तिक रूप में सृजनात्मक राष्ट्रीयता के नवजागरण की सदी रही है। इस काल खण्ड में भारतभूमि पर इतने अधिक क्रान्तदर्शी मनीषियों का अवतरण हुआ जो एक राष्ट्र के लिए तो क्या किसी भी सभ्यता के लिए अनुपम और अतुलनीय कहा जा सकता है। एक ओर राष्ट्रवादी विचारकों की लम्बी परम्परा तो दूसरी ओर राष्ट्रवादी कवियों एवं साहित्यकारों की उतनी ही लम्बी पांत से अभिभूत हुए बिना हम नहीं रह सकते जिन्होंने भारतीय संस्कृति का साक्षात्कार वस्तुतः "विश्ववारा[1]" के रूप में किया था। यदि उन सभी का यहाँ नामतः उल्लेख न भी किया जाये तो भी समवेत रूप में इतना तो कहा ही जा सकता है कि उनमें से प्रत्येक के पास एक पूरी की पूरी सभ्यता को दिशा देने की क्षमता और अन्तर्दृष्टि थी। वर्तमान के युगबोध और परम्परा से प्राप्त ऐसी ही क्षमता एवं दार्शनिक दृष्टि को स्वायत्त कर सभी ने अपने-अपने तरीके से भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों को समझने, सृजित करने और विस्तृत सांस्कृतिक आत्मगौरव को जगाने का प्रयास किया था। वही आत्मगौरव जिसे सिकन्दर से लेकर जनरल डायर तक अनगिनत बार कुचलने का प्रयास किया गया, लेकिन हर बार उसने अपनी ही भावभूमि पर अमृतनाभ की स्रोतस्विनी शक्ति से आक्रान्ताओं को पराभूत करते हुए अपनी अस्मिता को अब तक बनाये रखा है।

नवजागरण काॅल की एक समृद्ध वैचारिक पृष्ठभूमि के बावजूद 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् अंग्रेजों के द्वारा छोड़े गये सांस्कृतिक हादसे से उबरने के लिए हमने जिस रास्ते पर चलना शुरू किया उसका गन्तव्य क्या है? वह आज भी सही अर्थों में एक अनसुलझी पहेली ही बना हुआ है। भारत में इस मुद्दे को लेकर आज तक बहस बंद ही नहीं हो पायी कि स्वतंत्रतासिद्धि और राष्ट्र निर्माण के लिए जिन उपक्रमों को क्रियान्वित किया गया उसमें हमने अपने ही क्रान्तद्रष्टाओं की उन्नायक दृष्टियों को कहाँ तक आत्मसात् किया है? इसमें दो राय नहीं कि हमारा लक्ष्य था "पूर्ण स्वराज" लेकिन वास्तव में हमने समझौता किया काम-चलाऊ राजनैतिक और आर्थिक स्वायत्तता से जिसका वैश्वीकरण और भूमण्डलीकरण के युग में सम्प्रति कोई खास महत्त्व नहीं रह गया है। वास्तव में कोई देश राजनीतिक स्वतंत्रता

---

1. सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा, यजु., 9-14

को सांस्कृतिक चेतना के धरातल पर आत्मसात् करते हुए ही अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित हो पाता है। जहाँ तक भारत का प्रश्न है तो कहा जा सकता है कि एक राजनीतिक राष्ट्र-राज्य की अस्मिता प्राप्त कर भी 'स्वतंत्र भारत' का सत्व उसके सांस्कृतिक राष्ट्र-राज्य होने में निहित है। महात्मा गाँधी ने 'स्वतंत्र भारत' के इस अमृतनाभ को स्वतंत्रता से पूर्व ही पहचान लिया था और इससे सम्बन्धित सम्भावित बाधा को भी उन्होंने राजनीति और संस्कृति के पार्थक्य में पलते हुए एक गम्भीर खतरे के रूप में देखा था। इस दृष्टि से उनका 'हिन्द स्वराज' एक ऐसे व्यक्ति का युद्धघोष था जिसने राजनीतिक संकट को भी सांस्कृतिक संकट के ही अंश के रूप में देखा था। स्वतंत्रता प्राप्ति के ठीक डेढ़ दशक बाद पं. नेहरू ने अपनी मनसा जाहिर करते हुए कहा था कि "हम लोग न केवल जनतांत्रिक तरीके से देश के औद्योगीकरण में लगे हैं बल्कि भारतीय दर्शन और भारतीय जीवन-विद्या की मौलिकता का संरक्षण भी करना चाहते हैं।"[1] यह वक्तव्य अपने कथ्य एवं अभिप्राय की सम्पादनात्मकता में "किये जा रहे" और "करना चाहते हैं" के भेद के साथ आगे की सम्पूर्ण कथा को स्वयं ही अप्रकट रूप से प्रकट कर देता है।

अवधेय है कि सभ्यता और संस्कृति के बहुआयामी एवं बहुध्रुवीय विश्व परिदृश्य में भारत एक राष्ट्र, भौगोलिक सीमाओं वाला एक देश ही नहीं, बल्कि आधा ग्लोब है। अतएव भारत की पराधीनता वास्तव में भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध एक देश की पराधीनता नहीं थी बल्कि एक सम्पूर्ण सभ्यता और संस्कृति की पराधीनता थी। वह भी ऐसी सभ्यता और संस्कृति जिसके लिए उन सभी मानव-प्रवृत्तियों से मुक्ति काम्य है जिसे अन्य सभ्यतायें न्यूनाधिक रूप में मानवस्वभाव अथवा मनुष्य का सत्य समझती हैं। यूरोपीय सभ्यता मानव-सत्य के ऐसे ही दृष्टिकोण पर टिकी हुई सभ्यताओं में अग्रणी है और परतंत्र भारत इसी 'ऐन्द्रिक सभ्यता' की चपेट में चतुर्दिक रूप से दमित हो रहा था। आज वही "बलीयसी विश्व सभ्यता" शेष विश्व की सभ्यता एवं संस्कृतियों के गतिशील जीवन को उनके घर में ही निस्तेज और अप्रासंगिक बनाती ज़ा रही है, अपनी चौहद्दी बताने के लिए अपने दोनों पंखों (विज्ञान एवं तकनीक) को आताल-पाताल तक फैला दिया है, हमें बहुत सतर्कता बरतने की जरूरत है। सम्पूर्ण विश्व के अप्रतिहत यूरोपीयकरण की विश्वव्यापी प्रक्रिया में जब हमें अन्दर और बाहर दोनों ही तरफ से बदलने का ऐतिहासिक चक्रव्यूह रचा जा रहा हो तो स्वातंत्र्योत्तर भारत के निर्माण की कोई भी योजना उसके अतीत के गौरव और परम्परा के प्राक्तन प्रत्ययों से काटकर नहीं बनायी जानी चाहिए थी। विश्व इतिहासकार प्रो. लोवेश डिकिन्स की यह टिप्पणी बहुत ही समीचीन थी जिन्होंने भारतीय संस्कृति की स्वायत्तता को वैश्वीय परिप्रेक्ष्य में देखते हुए हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया था कि "वास्तव में विरोध जितना एशिया और यूरोप के बीच नहीं, उससे कहीं अधिक और उग्र विरोध भारत और शेष विश्व

---

1. जवाहरलाल नेहरू, प्राक्कथन, फिलियोजा, इण्डिया, 1962

के बीच है।" यही विरोध वास्तव में भारत को सम्पूर्ण विश्व के अप्रतिहत यूरोपीयकरण के विरोध में एक सशक्त विकल्प बनने की प्रेरणा और अधिकार प्रदान करता है। वैकल्पिक सभ्यता की इसी भावभूमि पर गाँधी जी की उस दृष्टि को साकार किया जा सकता था, जिसके अंतर्गत वे भारत की स्वतंत्रता का श्रेय मानवमात्र की स्वतंत्रता में देखते थे। अतएव स्वातंत्र्योत्तर भारत के निर्माण के लिए आवश्यक था कि हम अपनी ही वाङ्‌निधि से विस्मृतप्राय लेकिन अब भी प्राणदा शक्ति से सम्पन्न उन साधनों एवं दृष्टियों को खोज निकालें और उनका सुरक्षित तथा युगीन उपयोग करें जिसके चलते भारतीय विश्व-दृष्टि एक पूर्ण सभ्यता और संस्कृति के रूप में मण्डित होती रही है।

पश्चिम का मानना है कि प्रगति उसी की परिभाषा से परिभाषित होती है और विकास की चरम अवस्था को उसी के बताये मार्ग पर चलकर प्राप्त किया जा सकता है। यह बात भी सही है कि पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान ने मानव जीवन के नये-नये भौतिक और मनोवैज्ञानिक आयामों को उभारा है और जगत् को अधिकाधिक उपभोग्य एवं उपयोगी बनाया है परन्तु उसमें मूलगामिता का अभाव भी शुरू से ही रहा है। यही कारण है कि आज भी पश्चिमी दृष्टि से यह प्रश्न समुचित उत्तर की अपेक्षा रखता है कि उसने मानव के अन्तर्तम में निहित अभीप्साओं एवं पर्येषणाओं के साथ कहाँ तक न्याय किया है? विकास का भौतिक रूप एक सीमा तक ही उपयोगी और सुपाच्य होता है। बाद में इसे बनाये रखने के लिए जरूरी है कि विकास को आत्मलाभ में रूपान्तरित किया जाय और यह धर्म, परम्परा एवं संस्कृति से अनुप्राणित उपभोग और उत्पादन की प्रवृत्ति से ही सम्भव होता है। विकास का ऐसा कोई वस्तुनिष्ठ रूप ही नहीं जो सार्वभौमिक हो। तब भी पश्चिमी दृष्टि, चाहे जैसी भी हो, उसने अपनी व्याप्ति को इस धरती के कोने-कतरे तक विस्तृत कर लिया है और इस प्रकार एकबारगी कोई उसे नकार भी नहीं सकता। भारतीय संस्कृति और जीवन दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में उसकी प्रतिष्ठा वर्तमान और अतीत के मध्य एक मध्यस्थ सत्व के रूप में हो गई है। आधुनिकता के नाम से तत्क्षण आकर्षक लगने वाली इस मध्यवर्ती तथ्यात्मकता को एक स्थायी अतिथि के रूप में स्वीकृति देने के लिए हम विवश हो गये हैं। अतएव आज पश्चिमी दृष्टि को पूरी तरह नकारने की जरूरत नहीं है, बल्कि उसे, उसकी शर्तों पर नहीं, अपनी शर्तों पर सजगता के साथ आत्मसात् करने की जरूरत है। साथ ही साथ भारतीय संस्कृति के वैचारिक धरोहर का वास्तविक उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए पश्चिमी ज्ञान-विधाओं को पूरी तरह स्वायत्त कर लेने के उपरान्त सांस्कृतिक आत्मविश्वास की स्वार्जित भूमि पर भारतीय परम्परा का गहराई से मंथन करते हुए उसे साम्प्रतिक समीचीनता के साथ प्रस्तुत करने की महती आवश्यकता है। लेकिन विडम्बना यह रही कि विगत 125 वर्षों में हम पश्चिम को आत्मसात् करने का ऐसा कोई मानदण्ड निर्धारित नहीं कर पाये जिसके आधार पर वर्तमान को अतीत से निष्कृष्ट करते हुए भविष्य की भारतीय संस्कृति को धारण करने के योग्य एक

सशक्त बौद्धिक ढाँचा निर्मित हो सके। ऐसा बौद्धिक ढाँचा जो दासता एवं औपनिवेशिक मनोवृत्ति से सर्वथा मुक्त हो और जिसमें परम्परा की टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने के लिए अपनी ही परम्परा के मूलभूत प्रत्ययों का सार्थक उपयोग एवं स्थायी अतिथि के रूप में पश्चिम के रूप-विरूप की सजग समीक्षा की गई हो।

हम ऐसा नहीं कर पाये, इसके पीछे अनेक कारण बताये जा सकते हैं, और वैसे ही अनेकानेक अपहितियाँ भी गिनाई जा सकती हैं। परन्तु इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह रहा कि हमने वैचारिक स्वराज की सिद्धि के लिए उस "राजपथ" को नहीं अपनाया जिस पर चलकर ही वास्तव में वैचारिक स्वराज की प्रतिष्ठा हो सकती थी। वह राजपथ था–"भाषिक राजपथ" और उस पर चलने का स्वातंत्र्य जो अपने आप में इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसे "पूर्ण स्वराज" के एक आवश्यक अंग के रूप में "भाषिकीय स्वराज" से अभिहित किया जा सकता है। सचमुच मनुष्य होने का अर्थ भाषा में होना है और अपनी भाषा में होने का मतलब अपने सांस्कृतिक विश्व में अपने को पाना है। यदि कोई अपनी भाषा में नहीं है तो इसका मतलब है कि वह अपने घर से ही बेघर है। इसी भाव-बोध के अभाव में हम अन्दर ही अन्दर छले गये, अपने ही घर से बेघर होते रहे और सांस्कृतिक सर्जना के प्रत्येक क्षेत्र में यूरोप का अन्धानुकरण कर गर्वस्फीत होते रहे। क्या कालिदास की तुलना शेक्सपीयर से, शंकर की तुलना हेगेल एवं ब्रैडले से, नागार्जुन की तुलना काण्ट से और उससे भी आगे बढ़कर जब-जब यूरोप में जिन-जिन ज्ञान-विधाओं का फैशन रहा, पूरे भारतीय वाङ्मय में उस-उस की सतही अनुरूपता खोजना हमारी अजीबोगरीब औपनिवेशिक मनोवृत्ति को नहीं दर्शाता? हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जैसे अर्यमा अपने अनन्त किरणों के माध्यम से धरती पर उतर कर विश्व को आलोकित करता है–"वैसे ही ऋतगोपा वरुण के सहस्त्रद्वार घर तक पहुँचने के उतने ही वाग्पथ हैं। परन्तु उनमें भी अपने ही सांस्कृतिक अतीत और जीवित परम्परा द्वारा निर्मित और निर्दिष्ट पथ ही ऋजु मार्ग है। अपने भूत और वर्तमान को जोड़ने का कठिन परन्तु सीधा रास्ता है। वैसे तो टेढ़े-मेंढ़े रास्तों पर, राजमार्ग छोड़कर भटकने का भी अलग-अलग सुख है, अपनी कुछ अलग उपलब्धियाँ हैं, परन्तु लौटकर सीधा रास्ता पकड़ सकने में ही आत्मलाभ का आनन्द है।"[1]

प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक अलग विश्व होता है और वह "विश्वसत्ता" उस राष्ट्र की संस्कृति और संस्कारों के भाषा-सदन में निवास करती है। अतः "भाषा" जो हम सोच रहे होते हैं उसे ही व्यक्त करने का तटस्थ माध्यम मात्र नहीं, बल्कि साथ ही साथ परम्पराक्रम में जो सोचा जा चुका है, उससे युगनद्ध भी होती है। यही कारण है कि परम्परा के जमे हुए प्राक्तन पर चिन्ह भाषा में पूरी तरह कभी नहीं मिटते। उसमें एक जाति के सांस्कृतिक बिम्ब, ऐतिहासिक स्मृतियाँ और पारम्परिक संस्कारों के मूल स्वर अनुगुंजित होते रहते हैं। आखिरकार

---

1. जडावलाल मेहता, कविकर्म और चिन्तन : सर्जना के दो आयाम, (आभार से)

"भाषा" है तो एक अलग प्रकार के विश्व की परिचायिका और उस विश्व सत्ता का निकेतन। भवभूति द्वारा वाक् को आत्मा की कला से अभिहित किया जाना कुछ इसी प्रकार की मूलभूत दृष्टियों को उन्मीलित करता (वन्देमहि च तां वाचममृताम् आत्मन: कलाम्)। यह बात ठीक वैसी ही है जैसे कोई पौधा एक विशेष जलवायु और माटी में ही पुष्पित और पल्लवित होता है वैसे ही सर्जना के लिए निज भाषा और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि परिवेश और उपादान की तरह होती है। अतएव एक भाषा जब अपनी विश्वसत्ता को अनुप्राणित करने के बजाय दूसरी विश्वसत्ता को अनुप्राणित करने के लिए सम्प्लवित होती है या अपने सदन में दूसरी भाषा को प्रवेश की खुली छूट दे देती है तो परिणामत: दोनों सदन में विकार उत्पन्न होता है। इसका मतलब यह नहीं कि कोई भाषा दूसरी भाषा के लिए अपने द्वार को सदा के लिए बन्द कर ले। हमारे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी साहित्य तथा संस्कृति का प्रभाव हमारी सृजनात्मकता को समृद्ध एवं व्यापक बनाने में उसी सीमा तक उपयोगी हो सकते हैं, जिस सीमा तक हमारी भाषा और साहित्य अपने परम्परागत स्त्रोतों से प्रेरणा शक्ति अर्जित करते रहते हैं। यदि हमारी भाषा और हमारे साहित्य अपनी परम्परा से कटकर प्रेरणाओं को आयातित कर अपने को रचने लगें तो वह विकार नहीं तो क्या संस्कार कहा जायेगा? यह विकार समकालीन और साम्प्रतिक भारतीय चिंतन के सभी क्षेत्रों में भली-भाँति देखा जा सकता है। इससे बचने का सर्वाधिक सुरक्षित मार्ग था भाषिक राजपथ पर शुरू से ही चलना। अर्थात् हिन्दी जो भारत की समग्र-अस्मिता की भाषा है उसे क्रियात्मक संकल्प के साथ चरितार्थ करना। स्वयं हिन्दी के लिए भी, इस प्रकार वैचारिक स्वराज-सिद्धि की "राजपथ" की महिमा से मण्डित होने के लिए आवश्यक है कि वह तीन सहस्त्र वर्षों में संचित अपने यहाँ की दार्शनिक शब्दराशि का अद्यतन चेतना के स्तर पर सत्कार करे, तीन शताब्दियों की टूटी हुई भाषिक परम्परा से फिर जुड़े और उसे आत्मसात् कर अपनी आत्मा को समझने में सक्षम बने। यद्यपि यह कोई आसान कार्य नहीं तथापि एक ऐतिहासिक द्विधारी प्रक्रिया से यह सम्भव हो सकता है, अर्थात् एक ओर भाषा के समृद्धिकरण की निर्माण प्रक्रिया और दूसरी ओर विसर्जन की प्रक्रिया। भाषा-निर्माण की प्रक्रिया से हमारा तात्पर्य हिन्दी के अर्थवती होने से है जो विचार के स्तर पर सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय से जुड़ने से ही सम्भव है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बहुत संवेदनशील शब्दों में 'अनेक में एक' की अद्भुत भारतीय भाषायी परम्परा को रेखांकित करते हुए कहा था कि "हमारे देश ने हजारों वर्ष पहले भाषा की समस्या हल कर दी थी। हिमालय से सेतुबन्ध तक सारे भारतवर्ष में धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की भाषा कुछ सौ वर्ष पहले तक एक ही रही है। यह भाषा संस्कृत रही है। भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ उत्तम है, वह इस भाषा के भण्डार में संचित किया गया है। जितनी दूर तक इतिहास हमें पीछे कर ले जा सकता है, उतनी दूर तक इस भाषा के सिवा हमारा दूसरा कोई सहारा दिखाई नहीं देता।" पुनः आचार्य जी ने आगे कहा है—"मैं नहीं जानता कि संसार के किसी दूसरे देश में इतने

काल तक और इतनी दूरी तक व्याप्त इतने उत्तम मस्तिष्क में विचरण करने वाली कोई भाषा है या नहीं, शायद नहीं है।" विसर्जन की प्रक्रिया से हमारा तात्पर्य चेतना के धरातल पर हिन्दी भाषा में विकार उत्पन्न करने वाले गैर भाषीय परम्परा की कोटियों एवं पश्चिमी अनुभवों से अन्तरायित संस्कारों के विसर्जन से है। हिन्दी ऐसी ही निर्मायक प्रक्रिया से गुजरकर अपने राष्ट्र की विश्वसत्ता का निरापद सदन और भारत में वैचारिक स्वराज-सिद्धि के लिए "राजपथ" बन सकती है।

स्वतंत्र भारत में "हिन्दी" को राष्ट्रभाषा का दर्जा तो दिया गया लेकिन वैचारिक स्वराज के राजपथ के रूप में उसके विकास और शास्त्रीय महत्त्व के लिए सायास कुछ वैसा नहीं किया गया। ऐसा लगता है जैसे स्वातंत्र्योत्तर भारत को आकारित करने वाली संकल्पनाओं के लिए हिन्दी उपयुक्त भाषा ही नहीं थी। शायद इसीलिए राज्य के साये में रहते हुए भी हिन्दी को राज्याश्रय नहीं प्राप्त हुआ। यह भी यह बिडम्बना ही कही जायेगी कि स्वातंत्र्योत्तर भारत के स्वरूप को रचने के लिए स्वदेशी दृष्टियों एवं पारम्परिक प्रत्ययों को नींव में नहीं रखा गया और उसके बदले आधुनिकता के नाम पर विश्व को लौकिकीकरण की ओर ले जाने वाली प्राटेस्टेण्ट ईसाईयत समर्थित यूरोपीय दृष्टियों एवं प्रत्ययों को बे-रोक-टोक आयातित कर लिया गया। क्योंकि यह विचारधारा उन्नीसवीं सदी में अन्य धाराओं से मिलकर पश्चिमी दुनिया में अपने को सबसे ताकतवर सिद्ध कर चुकी थी। विज्ञान और तकनीक के साथ इसके गठबन्धन ने तो इसे भस्मासुर जैसी शक्ति प्रदान कर दिया है। भारत में नवजागरण के अग्रदूत राजाराम मोहन राय इसके प्रबल "उद्गाता" और पं. नेहरू इसके सबल "होता" रहे हैं। यह एक कटु सत्य है कि राजाराम मोहन राय की नवजागरण दृष्टि एवं उनके द्वारा प्रवर्तित सुधार आन्दोलन की समूची प्रेरणा प्रोटेस्टेण्ट ईसाईयत की उस लौकिकतापरक विश्व दृष्टि से ग्रहण की गई थी जिस दृष्टि को नीत्शे ने बहुत पहले ही "पृथ्वी पर उगता हुआ मरुस्थल" और हुसर्ल-हाइडेगर ने "दीप्ति विहीन संसार" तथा मानव का "बेघर हो जाना" कहा था। हेनरी वेयर को सम्बोधित एक पत्र में राजाराम मोहन राय ने लिखा था—यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान तथा ईसाई नैतिकता के जितने भी सुयोग्य शिक्षक भारत भेजे जा सकें, उनका सहर्ष स्वागत है; हालांकि ईसाई नैतिकता को मैं ईसाईयत के धार्मिक मतवादों से मुक्त पाना चाहूँगा, देशवासियों में ज्ञान के प्रसार हेतु।" राजाराममोहन राय के द्वारा इस प्रकार की सीधी कार्यवाही किये जाने के बावजूद कुछ लोग उनके समर्थन में उनके दृष्टिकोण की चयनधर्मी व्याख्या करते हैं। लेकिन यह केवल कहने की बात ही हो सकती है कि वे प्रोटेस्टेण्ट नैतिकता को उपयोगितावादी दृष्टि से अपनाना चाहते थे। वास्तविकता जबकि यह है कि आधुनिकता जैसे अपनी अवधारणा में ही प्रोटेस्टेण्टवाद तथा विज्ञान एवं तकनीकी को अन्तर्निहित किये हुए है वैसे ही प्रोटेस्टेण्टवाद की तथाकथित नैतिकता उनके धार्मिक मतवादों में ही मूलित अवधारणा है। इसके विपरीत गाँधी जी की दृष्टि आधुनिकता की विरोधी नहीं थी,

बल्कि पश्चिमी सभ्यता की कटु आलोचना पर आधारित उसे सही अर्थों में आधुनिकता का स्वदेशी संस्करण कहा जा सकता है। भाषा के सम्बन्ध में भी उनकी सोच बुनियादी थी। प्रायमरी शिक्षा में अंग्रेजी को न रखने की उनकी सोच को बहुत दूरगामी और आधारिक कहा जा सकता है। इससे भी आगे हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने के पीछे गाँधीजी का तात्पर्य भारत को उसकी आत्मा, अपने स्वरूप में, प्रतिष्ठित करने से था। परन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् पं. नेहरू ने जब देश की बागडोर संभाली तो वे गाँधी की अपेक्षा राजाराममोहन राय के ही प्रबल और सफल उत्तराधिकारी सिद्ध हुए। दोनों की दृष्टियों में डिजीटल अनुरूपता को देखने से ऐसा लगता है कि दोनों के बीच में दयानन्द, विवेकानन्द, अरविन्द और गाँधी इत्यादि के विचारों की कड़ी ही विलोपित कर दी गई हो। ये सभी उस तत्त्व के दृष्टा थे जो सनातन भारत का तत्त्व है। इन सभी में वही एक तत्त्व उपाधि भेद से भास्वरित हुआ था। महात्मा गाँधी सम्पूर्ण आत्मचेतना के साथ उसी तत्त्व की व्यापक अभिव्यक्ति, साध्य पुरुष थे। इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कि पं. नेहरू ने इन सबको भुलाकर शत्-प्रतिशत् पश्चिमी दृष्टि से "किनशिप" स्थापित करते हुए आधुनिक भारत के नवनिर्माण की प्रक्रिया को क्रियान्वित किया। तब स्वाभाविक है कि इस आयातित दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर भारत का रंग-रोगन करने के लिए अंग्रेजी ही बनी-बनायी उपयुक्त भाषा हो सकती थी। हिन्दी को इस तथाकथित राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया का राजपथ बनने के लिए दीर्घकाल तक उसके साथ-साथ चलकर अपने को उस रूप में निर्मित करना पड़ता। इस तरह "हिन्दी" स्वतंत्र भारत में "राजभाषा" का दर्जा पाकर भी उपेक्षित रही और अंग्रेजी ही मुख्यधारा की भाषा बन बैठी। रही सही क़सर लार्ड मैकाले की प्रचलित शिक्षा नीति ने पूरी कर दी। इसने भारत के बौद्धिक ढाँचे को इस तरह क्षतिग्रस्त किया जिससे हमारी तीन से पाँच हजार वर्षों की सांस्कृतिक सर्जना एवं नैरन्तर्य में एक स्थायी गतिरोध पैदा हो गया है। परिणामस्वरूप स्वातंत्र्योत्तर भारत का बौद्धिक ढाँचा अपने समृद्ध अतीत से कटकर बिल्कुल अलग-थलग पड़ गया है। हिन्दुस्तानियों के भीतर इसने ही एक ऐसे वर्ग को पनपाया (जिस वर्ग में हम आप सभी आते हैं) जो अपने देश, अपनी परम्परा और लम्बे अतीत से ज्यादा पश्चिम के बारे में जानते हैं। ज्ञान के हर क्षेत्र में हम केवल वही जानते हैं जिसे पश्चिम ने उपजाया है। विडम्बना तो यह कही जायेगी कि पश्चिम का अधिकाधिक अवगाहन प्रतिबल से भारत को अधिकाधिक समझने के लिये उपयोगी भी हो सकता था लेकिन हमारे बुद्धिजीवियों ने भारत को विस्मृत करने के लिये अपने यूरोपीय ज्ञान कोश को फलित किया है।

"दृष्टव्य है कि हमारी सभ्यता का यह स्मृतिभ्रंश हमारे भीतर इतनी गहरी जड़ जमा चुका है कि हममें से अधिकांश इस तथ्य से बिल्कुल अवगत नहीं होते कि हम अपने इतिहास के हजारों वर्षों के दौरान इन सब ज्ञानात्मक उपलब्धियों और अभियानों से गुजर चुके हैं और गुजर कर ही यहाँ तक पहुँचे हैं। हमारी यह स्मृति भ्रष्ट बदहाली उसी शिक्षा पद्धति

(भाषिक राजपथ पर चलने के स्वातंत्र्य से वंचित रहने के कारण भी) की देन है जो अंग्रेजों ने इस देश में रोपी थी और जिसकी परिणति एक भयानक रंगभेद सरीखे पार्थक्य में हुई है। एक तरफ वे लोग जो अभी तक किसी तरह ज्ञान की परम्परागत पद्धतियां से चिपके हुए हैं और दूसरी तरफ वे लोग जो उन विषयों का उस पद्धति से अध्ययन करते हैं जिसे "माडर्न" कहा जाता है। इन दोनों वर्गों में किसी तरह के संवाद या सम्प्रेषण की कोई गुंजाइश नहीं रह गई है। चूँकि ये माडर्न ही देश के वास्तविक सत्ताधारी एलीट के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं और वही अपने को इस सभ्यता का एकमात्र प्रतिनिधि समझते हैं, इससे एक ऐसी विचित्र और असंगतियों से पटी हुई स्थिति पैदा हो चुकी है कि देश का सभ्यतागत अतीत, जिसने अपने आपको पाँच हजार वर्षों तक तमाम उथल-पुथल के बीच निरन्तर कायम, सक्रिय और रचनाशील बनाये रखा है, उसके सामने इतिहास की इस घड़ी में सम्पूर्ण आत्मविस्मृति और पूरी तरह उजड़ जाने का खतरा उपस्थित हो गया है।"[1]

यह खतरा पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रवर्तित और भारतीयों द्वारा बिना-विचारे अपना लिये गये इण्डोलॉजिकल दृष्टिकोण से और भी गहरा गया है। मैक्समूलर जैसे ओरिएण्टलिस्ट विद्वानों ने भारत के अतीत को उसके वर्तमान से इस तरह विभाजित कर दिया, जैसे इन दोनों के बीच साहित्य और संस्कृति के कोई सम्बन्ध सूत्र ही न हों। उनकी दृष्टि में भारत का वर्तमान उसके "गौरवपूर्ण" अतीत का भ्रष्ट संस्करण मात्र था। ऐसा संस्करण जिसका कि कोई अपना भविष्य नहीं था, बजाय इसके कि यूरोपीय साहित्य, संस्कृति और लौकिकीकरण वाली विश्वदृष्टि के विश्वव्यापी अभियान में ढालकर स्वयं को अपने अतीत से हमेशा के लिए मुक्त कर सके। दूसरे, इस दृष्टिकोण के अनुसार भारतीय सभ्यता के बौद्धिक अतीत को अभिलेखागारों तथा वातानुकूलित पुस्तकालयों में सुरक्षित कर लेना चाहिए (जिस तरह प्राचीन मिस्र में लोग शवों को ममी बनाकर दफनाते थे) ताकि वे अध्ययन एवं शोध के लिए उपर्युक्त सामग्री की तरह सुलभ हो सकें। आनन्द कुमार स्वामी ने बहुत पहले ही पश्चिम के ओरिएण्टलिस्ट विद्वानों की व्याख्या और अनुवाद धर्मी कर्म पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि "उन्होंने भारत के प्राचीन दर्शनों, धर्मशास्त्रों और तत्त्वज्ञान की पुस्तकों के बीज-पदों एवं प्रत्ययों के जो अनुवाद किये हैं, वे सिर्फ भ्रमों की धुंध पैदा करते हैं। इसका सीधा कारण यह है कि वे इन प्रत्ययों के सांस्कृतिक सन्दर्भ को समझने में पूरी तरह विफल रहे हैं। सच तो यह है कि इन अनुवादों को अस्वीकार कर ही इन ग्रंथों के मूल सत्य को जाना जा सकता है।"

यदि देखा जाय तो उपर्युक्त सभी परिस्थितियों के बावजूद हमारे देश में हिन्दी साहित्य का विकास अपेक्षाकृत तीव्र गति से हुआ है और वह भी स्वायत्तपोषित रूप में। यह भारत

1. दयाकृष्ण, भारतीय सभ्यता के योग्य पुरुषार्थ..., समेकित दार्शनिक विमर्श (संपादक, अम्बिकादत्त शर्मा), पृ. 13

में ज्ञान की दूसरी विधाओं के लिए प्रेरणास्पद एक अच्छा उदाहरण हो सकता है। इसका एक कारण तो यह रहा कि हिन्दी सामाजिक सरोकार और संवेदनाओं तथा हमारे लोक-जीवन में रची-बसी भाषा थी और जल्दी ही इसने तमाम क्षेत्रीय बोलियों से ऊपर अपने को स्थापित कर लिया था। इसका दूसरा कारण यह रहा कि नवजागरण काल के कवियों एवं साहित्यकारों के रूप में पूर्वजों की शुद्ध और संस्कृतिनिष्ठ विरासत मिली थी जो अभी बहुत पुरानी नहीं थी। इसी के चलते हिन्दी साहित्य में विकृतियों का दौर भी कुछ काल बाद शुरू हुआ लेकिन आज वह इतना बढ़ चुका है कि हिन्दी साहित्य की साम्प्रतिक प्रयोगधर्मी सृजनशीलता विचार एवं व्याकरण दोनों ही धरातल पर अपनी शास्त्रीय परम्परा से बैर साधने में ही फलित हो रही है। ओरिएण्टलिज्म के उपागमों अथवा कहें षडयंत्रों का सबसे बुरा प्रभाव भारत के दार्शनिक और समाजशास्त्रीय ज्ञान के विकास पर पड़ा जो वास्तव में हमारे बौद्धिक और सामाजिक व्याकरण के लिए धातु और प्रत्यय की तरह थे। समाजशास्त्र के क्षेत्र में तो पश्चिमी समाज विज्ञान को आकण्ठ अपना लिया गया जैसे भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक चिन्तन जैसी कोई चीज नहीं रही। हाँ, भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन के नाम पर हमें ओरिएण्टलिस्ट षडयंत्रों के तहत खोजे गये रंग-भेद सरीखे अनेकों शगूफे, विष-बीज पकड़ा दिये गये जो हमारे लोक-जीवन की समरसता को आज पूरी तरह से विषाक्त कर चुके हैं, हमारे समाज के एकीकृत ढाँचे को फांक-फांक कर दिये हैं। लगता है उत्तर आधुनिकतावाद की विखण्डनवादी पद्धति का सफल प्रयोग पश्चिम ने ओरिएण्टलिज्म के नाम पर भारत जैसे पूर्वी देशों के धर्म, समाज, संस्कृति और इतिहास की एकसूत्रता को छिन्न-भिन्न करने के लए बहुत पहले ही शुरू कर दिया था। इसी के समानान्तर एक दूसरी पश्चिमेतर विचारधारा ने ओरिएण्टलिज्म द्वारा खोजे और बोये गये विष-बीजों का अपने पक्ष में उपयोग करते हुए भारतीयता के बौद्धिक ढाँचे को बिल्कुल नये रूपों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और भारत के अन्दर ही अपने समर्थकों की एक बहुत बड़ी तादाद, क्रान्तिकारी दस्ता के साथ पैदा किया है—वह है वामपंथी विचारधारा। इसकी एक खतरनाक विशेषता यह है कि ओरिएण्टलिज्म अपने पाँव पसारने के लिए हिन्दी को सदैव विस्थापित करती थी लेकिन इसने हिन्दी भाषा का प्रयोग "बायपास" के रूप में किया। अब तो ईसाई मिशनरियाँ भी अपने धर्म प्रचार के लिए इस तकनीक का सफल प्रयोग करना सीख चुकी हैं। अपने "सैक्रेट सौंग्स" को वे भारत के आँचलिक लोकगीतों की पदावली में अनुवाद कर प्रार्थना सभाओं में श्रद्धा-भक्ति से गाते हैं। ऐसे ही भारत में दक्षिणपंथी विचारधारा जो इन सब के विरोध में भगवा ध्वज उठाये चलती है, उसका भी भारतीयता के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण है जिसे अनावश्यक कट्टरता उपजाने वाला कहा जा सकता है। इस दृष्टि से उन्हें भी पुरस्कृत नहीं किया जा सकता क्योंकि भारत के बौद्धिक ढाँचे में कट्टरता के लिए कोई स्थान नहीं है। यह एक मध्यवर्ती तथ्य के रूप में अकस्मात् उत्पन्न विजातीय प्रवृत्तियों को दबाने के लिए उपादेय तो हो सकता है लेकिन 'सम्पूर्ण' नहीं।

यदि स्वातंत्र्योत्तर भारत की दार्शनिक प्रस्थिति पर विचार करें तो कहा जा सकता है कि भारत का गौरव और उसकी आत्म प्रतिष्ठा सदैव उसके दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण में निहित रहा है। बिना उसके दार्शनिक और आध्यात्मिक पुनरुत्थान के प्रयास किये भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण और वैचारिक स्वराज की कल्पना तक करना असम्भव है। प्राचीन भारत का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वैश्वीय योगदान दर्शन के क्षेत्र में ही है। अतएव आधुनिक भारत में भारतीय आत्मा की खोज यदि कहीं करना आवश्यक है तो दर्शन में ही किया जाना चाहिये था। परन्तु इस काल के अनेकों प्रतिभावान भारतीय दार्शनिकों की औपनिवेशिक मनोवृत्ति और उस पर से विदेशी भाषा के प्रभुत्व के चलते स्वतंत्रता के पश्चात् इस देश में दार्शनिक सर्जना का स्वरूप जितना विपर्यस्त उतना ही मूल से भटका हुआ विपथगामी रहा है। भारतीय विधाओं का पारम्परिक रीति से अभ्यास करने वाला पंडितों का वर्ग जातिस्मर जैसा बना रहा और तथाकथित आधुनिक विद्वानों का वर्ग जो पाश्चात्य प्रभाव में भारतीय दर्शन की आधुनिक व्याख्या करने का दावा करते रहे हैं, उनके प्रयासों में कहीं कोने-कतरे से भी भारतीय दर्शन झांकता हुआ दिखाई नहीं देता है। उनके चिन्तन का जो फलित रूप आज हमारे सामने है उसे भारतीय दर्शन का अपभ्रंश भी नहीं कहा जा सकता। यदि भारतीय दर्शन का पाश्चात्य दर्शन से सामना होना इस युग की मांग थी तो तुलनात्मक अध्ययन की पदावली में भारतीय दर्शन को उन्मीलित होना चाहिये था लेकिन हुआ वह उन्मूलित। इस काल में विश्वविद्यालयीय शिक्षण व्यवस्था से उपजे दर्शनशास्त्र के कई एक मूर्धन्य विद्वानों ने इस पीड़ा का अनुभव बहुत बाद में किया लेकिन उनकी पीड़ा से प्रेरणा पाकर आगामी पीढ़ी की सर्जना किस ओर करवट लेती है, यह भविष्य के अधर में हैं। यहाँ अपवाद स्वरूप केवल दो व्यक्तियों अर्थात् आचार्य यशदेव शल्य और आचार्य गोविन्दचंद्र पांडे का उल्लेख करना उचित होगा, जिनका चिन्तन आद्यन्त रूप से न केवल पश्चिमी अंतराय से मुक्त रहा है बल्कि अपने जातीय अनुभव में प्रतिष्ठित होकर पाश्चात्य परंपरा के साथ अपनी शर्तों पर सार्थक संवाद भी स्थापित करता है। भाषा और विचार दोनों ही दृष्टियों से इन दोनों आचार्यों को भारत की उस गौरवशाली परम्परा का अंगभूत माना जा सकता है जिसके लिये 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' कहा जाता है।

अतएव ऐसी स्थिति में जो इस बात की आकांक्षा रखते हैं कि "भारत केवल पश्चिमी सभ्यता के सागर में लुप्त एटलाण्टिस या फिर फिलीपीन्स, मैक्सिको आदि के समान न बने और जिन्हें भारत की नियति पर विश्वास है कि भारत अक्षय अध्यात्म विद्या का स्रोत है, उनके लिए यह अनिवार्य है कि स्वतंत्रता से पूर्व उजागर हुए उस मार्ग पर चलना बन्द न करें और भारतीय परम्परा के प्रश्न को आजकल के परिवेश में फिर जाँचें।"[1] इतना ही नहीं

---

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, सृजन परिवेश और परंपरा, समेकित दार्शनिक विमर्श (संपादक, अम्बिकादत्त शर्मा), पृ. 67

उसी को "राजपथ" समझें और दृढ़ता के साथ उसी पर चलते हुए अपने भाषिक स्वराज और भाष्यधर्मी अभियान को क्रियान्वित करें ताकि राष्ट्रीयता, परम्परा, आध्यात्मिकता और भाषा का "चतुर्भुज" प्रकट हो सके। पश्चिमी अनुभव और पश्चिमी अस्मिता से मुक्त अपने जातीय अनुभव और जातीय अस्मिता से युक्त सांस्कृतिक जीवन की गतिशीलता को फिर से प्राप्त करने के लिए ऐसे बौद्धिक पुरुषार्थ और तदनुरूप ही भाष्यधर्मी सर्जना को जगाना भारत के वैचारिक स्वराज के लिये बहुत आवश्यक है।

वस्तुतः अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना स्वातंत्र्योत्तर भारत में इसी वैचारिक स्वराज और उसके भाषीय राजपथ को आत्मचेतना के स्तर पर क्रियान्वित करने के उद्देश्य को लेकर हुआ था। परिषद् के 54वें अधिवेशन के शुभ अवसर पर हमारी यही शुभकामना है कि परिषद् से जुड़े हम सभी लोग इसी उद्देश्य के फलोपधायी होने में भागीदार बनें।



LIST OF PAPER CONTRIBUTERS

1.	डॉ. एस.पी. दुबे	अध्यक्ष, अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्, जबलपुर (म.प्र.)
2.	Prof. Ved Kumar Ghai	Retd. H.O.D., Sanskrit Deptt., Jammu University, Jammu
3.	K.T.S. SARAO	Professor and Head, Department of Buddhist Studies, University of Delhi, Delhi-110007
4.	डॉ. एस.पी. दुबे	अध्यक्ष, अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्, जबलपुर (म.प्र.)
5.	प्रो॰ रामप्रतापो वेदालङ्कारः	पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
6.	डा॰ भीमसिंहो वेदालङ्कारः	आचार्योऽध्यक्षचरश्च संस्कृत-पालि-प्राकृतविभागे कुरुक्षेत्र-विश्वविद्यालयः, कुरुक्षेत्रम्
7.	डॉ. अभिमन्यु सिंह	दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
8.	प्रो. रमणिका जलाली	संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
9.	डा॰ शारदा गुप्ता	संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
10.	प्रो॰ केदारनाथ शर्मा	अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
11.	प्रो॰ जागीर सिंह	संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
12.	डा॰ पुरुषोत्तम शर्मा	प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
13.	डॉ. सुषमा देवी गुप्ता	एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

14. डॉ॰ रामबहादुर — संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

15. प्रो॰ सतीश चन्द्र झा — अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
बी.आर. अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय,
मुजफ्फरपुर-842001 (बिहार)

16. डॉ॰ आर. आर. घोष

17. डॉ॰ शङ्कर दयाल द्विवेदी — प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद

18. डॉ. निर्मला कुमारी झा — दर्शनशास्त्र विभाग,
बी.आर. अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय,
मुजफ्फरपुर-842001 (बिहार)

19. डॉ. बलिराम शुक्ल — 4813, साई मोह, गणेश नगर,
बड़गांव, शेटी, पुणे-411014 (महाराष्ट्र)

20. डॉ. आलोक टण्डन — 53, अशराफ टोला, हरदोई (उ.प्र.)

21. डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र — रीडर, दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

22. प्रो॰ प्रियव्रत शुक्ल — अध्यक्ष-दर्शन विभाग,
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर
अध्यक्ष-दर्शन परिषद्-मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़

23. प्रो॰ राजेश्वर मिश्र — संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र

24. प्रो॰ अम्बिकादत्त शर्मा — दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)



54th Session of Akhil Bhartiya Darshan Parishad, Deptt. of Sanskrit, University of Jammu

w.e.f. Nov. 6 to Nov. 8, 2009

8:00 AM - 10:00 PM Registration time & venue - Date Nov. 5, 2009. Deptt. of Sanskrit, University of Jammu, Jammu.

7:00 PM - 09:00 PM - Dinner - Gymnasium Hall

Inaugural function - Dated 06-11-2009

07:00 AM - 10:00 AM - Registration, 02:00 PM - 08:00 PM - Registration (Deptt. of Skt.)
8:00 AM - 09:45 AM - Breakfast - Gymnasium Hall
10:00 AM - 10:30 AM - Tree plantation - Infront of Sanskrit Department
11:00 AM - 12:45 PM - Inaugural function - Gen. Zorawar Singh Auditorium
01:00 PM - 02:00 PM - Lunch - Gymnasium Hall
02:30 PM - 06:00 PM - Sangosthiyan (Parallel) - Tea Break - 04:00 PM to 04:45 PM
06:00 PM - 06:30 PM - Meeting of Executive body - University Guest House
06:30 PM - 08:00 PM - Cultural Programme - Gen. Zorawar Singh Auditorium
08:30 PM - 09:30 PM - Dinner - Gymnasium Hall.

IInd Day 07-11-2009

08:30 AM - 09:45 AM - Breakfast - Gymnasium Hall
10:00 AM - 01:00 PM - Sectional paper sessions - Tea Break - 11:30 to 11:45 AM
01:30 PM - 02:30 PM - Lunch - Gymnasium Hall
03:00 PM - 06:00 PM - Sectional paper sessions - Tea Break - 04:30 to 04:45 PM
06:15 PM - 07:15 PM - General Body Meeting - Gen. Zorawar Singh Auditorium
07:15 PM - 08:30 PM - Gyana Sansada - Gen. Zorawar Singh Auditorium
08:30 PM - 09:30 PM - Dinner - Gymnasim Hall

IIIrd Day 08-11-2009

08:30 AM - 09:30 AM - Breakfast - Gymnasium Hall
10:00 AM - 01:00 PM - Lecture series (Parallel) - Tea Break - 11:30 to 11:45 PM
01:30 PM - 02:30 PM - Lunch - Gymnasium Hall
03:00 PM - 04:30 PM - Valedictory session - Gen. Zorawar Singh Auditorium
04:45 PM - 05:15 PM - Tea
07:00 PM - 08:30 PM - Dinner - Gymnasium Hall

IVth Day 09-11-2009

08:30 AM - 10:00 AM - Breakfast - Gymnasium Hall

After Breakfast Delegates can return back to their home place.

Prof. Kedar Nath Sharma
Organizing Secretary
54th Session of ABDP, Nov. 6-8, 2009.